मूल्य चार रु०

[प्रस्तुत पुस्तक साधकोंके लाभकी दृष्टिसे लिखी गयी है]

प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय—गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०३० प्रथम संस्करण १०,०००
सं० २०३९ द्वितीय संस्करण २०,०००
सं० २०४० तृतीय संस्करण २५,०००

कुल ५५,०००

मूल्य चार रुपये

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

नम्र निवेदन

कई वर्ष पूर्व हमारे श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके द्वारा लिखित गीताके बारहवें अध्यायकी विस्तृत व्याख्या 'गीताका भक्तियोग' नामसे पुस्तकके रूपमें प्रकाशित हुई थी। अनेक भाई-बहनोंके विशेष आग्रहवश अब उसी पुस्तकका संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें श्रद्धेय स्वामीजी महाराजने गीताके बारहवें अध्यायके साथ-साथ पंद्रहवें अध्यायकी विस्तृत व्याख्याको भी सम्मिलित कर दिया है, जिससे यह पुस्तक साधकोंके लिये बहुत उपयोगी बन गयी है। इस प्रकार यह पुस्तक सर्वथा नवीन रूपसे साधकोंकी सेवामें प्रस्तुत की जा रही है।

भक्तियोगके साधकोंसे मेरा नम्र निवेदन है कि वे भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे इस पुस्तकका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करें। इससे उन्हें अपने साधनपथपर अग्रसर होनेमें अभूतपूर्व सहायता प्राप्त हो सकती है।

—प्रकाशक

श्रीहरिः

विषय-सूची

बारहवाँ अध्याय

सूक्ष्म विषय

पंद्रहवाँ अध्याय

प्रधान विषय पृष्ठ

सूक्ष्म विषय पृष्ठ

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

॥ श्रीहरि ॥

प्राक्कथन

पराकृतनमद्बन्धं परब्रह्म नराकृति ।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः ॥
प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥
यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं
संचिन्तयामि निखिले जगति स्फुरन्तम् ।
तावद् बलात् स्फुरति हन्त हृदन्तरे मे
गोपस्य कोऽपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता एक अत्यन्त विलक्षण और अलौकिक ग्रन्थ है । चारों वेदोंका सार उपनिषद् है और उपनिषदोंका भी सार श्रीमद्भगवद्गीता है । यह स्वयं भी ब्रह्मविद्याका वर्णन होनेसे उपनिषद्-स्वरूप और श्रीभगवान्‌की वाणी होनेसे वेद-स्वरूप है । इसमें स्वयं श्रीभगवान्‌ने अपने प्रिय सखा अर्जुनको अपने हृदयके गूढ़ भाव विशेषरूपसे कहे हैं ।

जैसे वेदोंमें तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, वैसे ही गीतामें भी तीन काण्ड हैं । गीताका पहला षट्क

(पहलेसे छठा अध्याय) कर्मकाण्डका, दूसरा षट्क (सातवेंसे बारहवाँ अध्याय) उपासनाकाण्डका और तीसरा षट्क (तेरहवेंसे अठारहवाँ अध्याय) ज्ञानकाण्डका माना जाता है । इन तीनोंपर विचार किया जाय तो जितना दूसरे षट्कमें उपासना अर्थात् भक्तिका वर्णन है, उतना पहले षट्कमें कर्मोंका वर्णन नहीं है, और जितना पहले षट्कमें कर्मोंका वर्णन है, उतना तीसरे षट्कमें ज्ञानका वर्णन नहीं है । इस प्रकार गीतामें भक्तिका वर्णन विशेषरूपसे आया है ।

कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों नाशवान् संसारसे ऊँचे उठनेके लिये अर्थात् उससे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये हैं । इनमें दूसरोंके हितके लिये निष्काम-कर्म करके संसारसे ऊँचे उठनेको कर्मयोग कहते हैं और अपने विवेकको महत्त्व देकर संसारसे ऊँचे उठनेको ज्ञानयोग कहते हैं । एकमात्र भगवान्पर निर्भर रहना भक्तियोग है; इसलिये भगवान्ने गीतामें दो ही निष्ठा बतलायी है—कर्मयोग और ज्ञानयोग (३ । ३) । भक्तियोगको भगवान्ने निष्ठा नहीं बतलाया; क्योंकि यह साधककी स्वयंकी निष्ठा नहीं है । भक्तियोगका साधक भगवन्निष्ठ होता है । उसकी निष्ठा, आश्रय, भरोसा केवल भगवान् ही होते हैं ।

भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन साथ-साथ ही रहते थे । साथ-साथ रहनेपर भी भगवान्ने अर्जुनको कभी उपदेश नहीं दिया और अर्जुनने कभी पूछा भी नहीं । जब युद्धके समय अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये, उलझनमें पड़ गये, तब उन्होंने भगवान्

शरण होकर अपने कल्याणकी बात पूछी। यहींसे गीताका उपदेश आरम्भ हुआ। अन्तमें भगवान्‌ने केवल अपने शरण हो जानेकी बात कही (१८ । ६६)। इसपर अर्जुनने 'करिष्ये वचनं तव' (१८ । ७३) 'मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा'—ऐसा कहकर भगवान्‌की पूर्ण शरणागतिको स्वीकार कर लिया। यहीं गीताका उपदेश समाप्त हुआ। इस प्रकार गीताका आरम्भ और उपसंहार भक्ति (शरणागति) में ही हुआ है। अतः सामान्य रीतिसे पक्षपातके बिना देखा जाय, तो गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय भक्ति ही है।

गीतामें भक्तिका वर्णन विशेषरूपसे सातवें अध्यायसे आरम्भ होता है। आठवें अध्यायमें अर्जुनके द्वारा प्रश्न करनेके कारण दूसरा विषय आ गया। अतः सातवें अध्यायमें जो बातें शेष रह गयी थीं, उनका वर्णन नवें अध्यायमें तथा दसवें अध्यायके आरम्भमें (ग्यारहवें श्लोकतक) किया गया। इस प्रकार सातवें और नवें—दोनों अध्यायोंमें भक्तिका विशेष वर्णन हुआ है; परंतु श्रीवेदव्यासजीने उन अध्यायोंका नाम क्रमशः 'ज्ञानविज्ञानयोग' और 'राजविद्याराजगुह्ययोग' रखा है। बारहवें और पंद्रहवें अध्यायोंका तो नाम ही क्रमशः 'भक्तियोग' और 'पुरुषोत्तमयोग' है तथा इनमें भक्तिका वर्णन भी बहुत विलक्षण ढंगसे हुआ है। इसलिये बारहवें और पंद्रहवें अध्यायोंको ही गीताका 'भक्तियोग' माना गया है।

बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने प्रश्न किया कि तुलनामें सगुण और निर्गुण—दोनों उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है। उत्तरमें

भगवान्‌ने श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भजन करनेवाले सगुण-उपासकों (भक्तों) को सबसे श्रेष्ठ बतलाया—'ते मे युक्ततमा मताः' (१२ । २) (छठे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने इसी प्रकार **'स मे युक्ततमो मतः'** पदोंसे अपने भक्तोंको सबसे श्रेष्ठ बतलाया है) । फिर भगवान्‌ने बतलाया कि निर्गुण और सगुण—दोनों ही उपासक मुझे प्राप्त होते हैं । उनमें भगवान्‌ने देहाभिमानी निर्गुण-उपासकोंको तो अपनी प्राप्ति कठिन बतलायी, पर भगवत्परायण सगुण-उपासकोंको अपनी प्राप्ति सुगम बतलाते हुए कहा कि उनका मैं शीघ्र ही मृत्युसंसार-सागरसे उद्धार कर देता हूँ । इसके बाद भगवान्‌ने कहा कि मन और बुद्धि मुझमें ही अर्पण कर दो, तो मेरी प्राप्ति हो जायगी । ऐसा नहीं कर सकते, तो अभ्यासयोगसे मेरी प्राप्तिकी इच्छा करो । अभ्यास भी नहीं कर सकते, तो सब कर्म मेरे अर्पण कर दो । ऐसा भी नहीं कर सकते, तो सब कर्मोंके फलका त्याग कर दो । तात्पर्य यह कि किसी प्रकार मुझसे सम्बन्ध जोड़ लो और संसारसे सम्बन्ध तोड़ लो ।

भगवान्‌के साथ जीवमात्रका स्वतःसिद्ध नित्य-सम्बन्ध है । परंतु संसारसे अपना सम्बन्ध मान लेनेके कारण जीव भगवान्‌से विमुख हो जाता है । सब कर्मोंके फलका त्याग करनेसे संसारसे माने हुए सम्बन्धका त्याग हो जाता है, जिससे तत्काल परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (१२ । १२) । फिर भगवान्‌ने उस परमशान्तिको प्राप्त महापुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन किया । अन्तमें अपने परायण होकर उन लक्षणोंको आदर्श मानकर

चलनेवाले भक्तोंको 'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' पदोंसे अपना अत्यन्त प्रिय कहकर अध्यायका उपसंहार किया।

बारहवें अध्यायमें सगुण-उपासकोंका वर्णन करके तेरहवें अध्यायमें निर्गुण-तत्त्वकी उपासना करनेवालोंका वर्णन आरम्भ किया। बारहवें अध्यायमें कहा था कि देहाभिमान रखनेवालोंके लिये निर्गुण-उपासना कठिन है। उस देहाभिमानको दूर करनेके लिये तेरहवें अध्यायके आरम्भमें 'इदं शरीरम्' पदोंसे बतलाया कि यह देह 'इदम्' है और इसे जाननेवाला 'अहम्' (स्वरूप), इससे सर्वथा भिन्न है। देहाभिमान कम होनेपर निर्गुण-उपासना सुगमता-पूर्वक चल पड़ती है। फिर भगवान्‌ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-पुरुषके विभागका वर्णन किया। फिर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे सम्पूर्ण सृष्टि होनेकी बात बतलायी। अन्तमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके भेदको तत्त्वसे जाननेका फल परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हुए अध्यायका उपसंहार किया।

चौदहवें अध्यायमें पुनः ज्ञानका विषय आरम्भ करके उसकी महिमाका वर्णन किया। फिर प्रकृति-पुरुषके संयोगसे संसारकी उत्पत्तिका वर्णन किया। जीवात्मा प्रकृतिके गुणोंसे बँधता है; अतः उन गुणोंका तथा उनसे छूटनेके उपायका वर्णन किया। गुणातीत होनेकी बात भगवान् तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंमें पहले भी (१३। १८, २३; १४। १९-२०) कह चुके थे; परंतु अर्जुनके प्रश्न करनेपर भगवान्‌ने अव्यभिचारी भक्तियोगको ही गुणातीत होनेका सुगम उपाय बतलाया (१४। २६)। अव्यभिचारी भक्तियोगका तात्पर्य है—केवल भगवान् ही इष्ट हों, प्रापणीय हों,

और संसारसे सर्वथा विमुखता हो। इस भक्तियोगका सेवन करनेवाला मनुष्य गुणोंका भलीभाँति अतिक्रमण करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र बन जाता है। वह ब्रह्म मैं ही हूँ—ऐसा कहकर भगवान्‌ने चौदहवें अध्यायका उपसंहार किया।

भगवान्‌के मनमें भक्तिका वर्णन करनेकी इच्छा थी। अतः चौदहवें अध्यायके उपान्त्य श्लोकमें भक्तिका सूत्ररूपसे वर्णन किया और उसका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये अपनी ओरसे पंद्रहवाँ अध्याय आरम्भ किया। परमात्मा सर्वोपरि हैं और यह जीव उन्हींका सनातन अंश है; परंतु यह परमात्मासे विमुख होकर संसारको पकड़ लेता है, यही व्यभिचार दोष है। अतः मनुष्य इस संसार-वृक्षका छेदन करके अर्थात् इसकी कामना और ममताका त्याग करके 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' (उस आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ)—इस प्रकार भगवान्‌में लग जाय। इससे वह अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है, जहाँसे वह लौटकर फिर कभी संसारमें नहीं आता। वह परमधाम अत्यन्त विलक्षण है। उसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्रकाशित नहीं कर सकते, अपितु वे सब-के-सब उसीके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं। फिर भगवान्‌ने अपने प्रभावका विशेषरूपसे वर्णन करते हुए कहा कि सबका आधार और सबका भरण-पोषण करनेवाला मैं ही हूँ। सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा जाननेमें आनेवाला मैं ही हूँ। वेदान्तका कर्ता और वेदोंका ज्ञाता भी मैं ही हूँ। फिर भगवान्‌ने क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी) का स्वरूप बतलाकर परमात्माको उन दोनोंसे भिन्न और अत्यन्त श्रेष्ठ

कहा । वह सच्चिदानन्दघन पुरुषोत्तम परमात्मा मैं ही हूँ—ऐसा कहकर भगवान्‌ने अपना गुह्यतम स्वरूप प्रकट किया और पंद्रहवें अध्यायको 'शास्त्र' की संज्ञा दी; क्योंकि इसमें संसार, जीवात्मा और परमात्मा—तीनोंका वर्णन हुआ है ।

इस प्रकार बारहवाँ और पंद्रहवाँ—दोनों ही अध्याय भक्तियोगके वर्णनमें विलक्षण योग्यता रखते हैं । पंद्रहवें अध्यायका तो बहुत अधिक माहात्म्य माना जाता है, जिसे भगवान्‌ने गुह्यतम शास्त्र कहा है । कारण कि इसमें भगवान्‌ने अपने हृदयकी बातें विशेषरूपसे खोलकर कही हैं और अपने-आपको भी प्रकट कर दिया है कि सम्पूर्ण लोकोंमें, वेदोंमें और शास्त्रोंमें प्रसिद्ध परब्रह्म पुरुषोत्तम मैं ही हूँ । बहुत-से सज्जन पंद्रहवें अध्यायको कण्ठस्थ रखते हैं और स्नान करते समय इसका पाठ कर लेते हैं । संतलोग भोजनके लिये पंक्ति लगाकर (भोजनसे पूर्व) इस अध्यायका पाठ करते हैं ।

गीताभरमें बारहवाँ और पंद्रहवाँ—ये दो अध्याय सबसे छोटे (बीस-बीस श्लोकोंके) हैं । अतः ये याद करनेके लिये बहुत सुगम हैं और इनमें भगवान्, भक्त और भक्तिका वर्णन भी सरलतापूर्वक किया गया है । अतएव सभीको कम-से-कम इन दो अध्यायोंका पठन-पाठन अवश्य ही करना चाहिये ।

भक्तिका खास स्वरूप है—भगवत्परायणता । ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें भगवान्‌ने भक्तिके पाँच रूप बतलाये

हैं—'मत्कर्मकृत', 'मत्परमः', 'मद्भक्तः', 'सङ्गवर्जितः' और 'सर्वभूतेषु निर्वैरः'। इसे साधन-पञ्चक भी कहते हैं। इसमें सार बात है—संसारसे सर्वथा विमुख होकर केवल भगवान्‌के परायण होना (११ । ६)। फिर भगवान् स्वयं ही उद्धार कर देते हैं (१२ । ७)।

संसारसे विमुख होकर एकमात्र भगवान्‌की ओर चले, तो यह 'साधन-भक्ति' होती है। जब अपना कुछ भी नहीं रहता, सब कुछ ('अहं' भी) भगवान्‌के समर्पित हो जाता है, तब 'साध्य-भक्ति' होती है। साध्य-भक्तिमें भगवान्‌का इष्ट भक्त और भक्तका इष्ट भगवान् हो जाते हैं। फिर उनमें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी लीला चलती है। प्रेममें भक्त और भगवान् दो होकर भी एक होते हैं और एक होकर भी दो होते हैं।

यह अत्यन्त आश्चर्यकी बात है कि मनुष्य भगवान्‌की दी हुई वस्तुओंको तो अपनी मान लेता है, पर उन्हें देनेवाले भगवान्‌को अपना नहीं मानता। दी हुई वस्तु तो सदा रहेगी नहीं, पर देनेवाला सदा रहेगा। वह तो सदासे ही अपना है। अतः नहीं रहनेवाली वस्तुओंसे विमुख होना है। विमुख होनेका उपाय है—उन वस्तुओंको अपनी न मानकर भगवान्‌की ही मानना, उनपर भगवान्‌का ही आधिपत्य मानना। धन, सम्पत्ति, वैभव, कुटुम्ब, परिवार, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और 'अहं' तकके ऊपर भगवान्‌की ही मोहर लग जाय। सब कुछ भगवान्‌के ही समर्पित करके उन्हींकी शरणमें जाय। यही भक्तिका उपाय है।

जीवमात्रमें प्रेम तो है ही। वही प्रेम जब नाशवान् संसारमें हो जाता है, तब वह 'आसक्ति' कहलाता है। आसक्ति होनेपर जीव भगवान्से विमुख हो जाता है। भगवान्से विमुख होनेपर वह गंगोशकी भाँति महान् अपवित्र हो जाता है। जब गङ्गाका जल उसके प्रवाहसे विमुख होकर किसी नीची जगहपर रुक जाता है, तब वह 'गंगोश' (गङ्गासे छूटा हुआ—अलग हुआ) कहलाता है। गंगोशको मदिराके समान महान् अपवित्र माना गया है। वही गंगोश जब पुनः गङ्गाके प्रवाहमें मिल जाता है, एक हो जाता है, तब वह पुनः पवित्र हो जाता है; उसमें किञ्चिन्मात्र भी अपवित्रता नहीं रहती। इसी प्रकार जब मनुष्य भगवान्से विमुख होकर संसारमें लग जाता है, तब वह आसुरी-सम्पत्तियुक्त महान् अपवित्र हो जाता है। परंतु जब वह संसारसे विमुख होकर भगवान्के सम्मुख हो जाता है, तब वह दैवी-सम्पत्तियुक्त महान् पवित्र हो जाता है। इसलिये भक्तको सदैव भगवान्के सम्मुख रहना चाहिये। यदि भगवान्का भक्त अपने भक्तोंमें अथवा संसारियोंमें आसक्त होकर (रच-पचकर) नाशवान् पदार्थोंके भोग और संग्रहमें लग जाता है; तो वह भी गंगोशके समान महान् अपवित्र हो जाता है। अतएव संसारके आश्रयको हृदयसे त्यागकर केवल भगवान्के ही परायण (अनन्यशरण) हो जाना भक्तिका खास स्वरूप है।

आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते ।
हरि-हिय-कमल-विहारिणि, सुन्दर सुपुनीते ॥
कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि, कामासक्तिहरा ।
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि, विद्या ब्रह्म परा ॥ जय०
निश्चल-भक्ति-विधायिनि, निर्मल, मलहारी ।
शरण-रहस्य-प्रदायिनि, सब विधि सुखकारी ॥ जय०
राग-द्वेष-विदारिणि, कारिणि मोद सदा ।
भव-भय-हारिणि, तारिणि, परमानन्दप्रदा ॥ जय०
आसुर-भाव-विनाशिनि, नाशिनि तम-रजनी ।
दैवी सद्गुणदायिनि, हरि-रसिका सजनी ॥ जय०
समता-त्याग सिखावनि, हरि-मुखकी बानी ।
सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी ॥ जय०
दया-सुधा बरसावनि मातु ! कृपा कीजै ।
हरिपद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै ॥ जय०

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

गीताका भक्तियोग

[श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें और पंद्रहवें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या]

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

सम्बन्ध—

श्रीभगवान्‌ने चौथे अध्यायके तैंतीसवें और चौंतीसवें श्लोकोंमें ज्ञानयोगकी श्रेष्ठता बतलाते हुए ज्ञानप्राप्तिके लिये प्रेरणा की। फिर ज्ञानकी महिमाका वर्णन किया। तत्पश्चात् पाँचवें अध्यायके सत्रहवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक निर्गुण-निराकारकी उपासना, छठे अध्यायके चौबीसवेंसे उनतीसवें श्लोकतक परमात्माके अचिन्त्य स्वरूपकी उपासना और आठवें अध्यायके ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतक अव्यक्त अक्षरकी उपासनाका महत्त्व बतलाया।

छठे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें अनन्यभक्तिका लक्ष्य रखकर चलनेवाले साधक भक्तकी महिमा बतलायी और सातवें

अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक स्थान-स्थानपर 'अहम्', 'माम्' आदि पदोंद्वारा विशेषरूपसे सगुण-साकार एवं सगुण-निराकार उपासनाकी महत्ता बतलायी तथा अन्तमें ग्यारहवें अध्यायके चौवनवें और पचपनवें श्लोकोंमें अनन्यभक्तिकी महिमा एवं फलसहित उसके स्वरूप-का वर्णन किया।

उपर्युक्त वर्णनसे अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि निर्गुण ब्रह्म और सगुण भगवान्‌की उपासना करनेवाले—दोनों उपासकोंमें कौन-से उपासक श्रेष्ठ हैं। इसी जिज्ञासाको लेकर अर्जुन प्रश्न करते हैं—

श्लोक—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

भावार्थ—

जो भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखकर भगवान्‌के सगुण-साकार रूपकी श्रेष्ठभावसे उपासना करनेवाले (प्रारम्भिक साधनासे लेकर भगवत्प्राप्तिके अत्यन्त समीपतक पहुँचे हुए सब साधक) हैं और जो उन्हींके समकक्ष (उसी मात्राके विवेक, वैराग्य, इन्द्रियसंयम आदि साधन-सम्पत्तिवाले) निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी ही उपासना करनेवाले हैं, उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें कौन-से उपासक श्रेष्ठ हैं ?

छठे अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक साकार भगवान्‌के उपासकोंका वर्णन जिन श्लोकोंमें जिन पदोंके द्वारा हुआ है, उसका परिचय इस प्रकार है—

अध्याय एवं श्लोक	पद एवं अर्थ
६—४७	'मद्गतेनान्तरात्मना', 'श्रद्धावान्भजते यो माम्' (मुझमें लगे हुए मन-बुद्धिवाला श्रद्धायुक्त जो साधक निरन्तर मेरा भजन करता है)।
७—१	'मय्यासक्तमनाः', 'योगं युञ्जन्मदाश्रयः' (मुझमें अनन्य प्रेमसे आसक्त मनवाला और मेरे परायण होकर मुझसे नित्ययोगका लक्ष्य रखकर मेरे चिन्तन-मे लगा हुआ)।
७—२९-३०	'मामाश्रित्य यतन्ति', 'युक्तचेतसः' (युक्त चित्तवाले पुरुष मेरे शरण होकर साधन करते हैं)।
८—७	'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' (मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला)।
८—१४	'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः' (मुझमे अनन्यचित्त होकर जो सदा ही निरन्तर मेरा स्मरण करता है)।
९—१४	'सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः' (दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हैं)।
९—२२	'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते' (अनन्यभावसे जो भक्तजन मुझ परमेश्वरका निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे उपासना करते हैं)।

९—३०	'भजते मामनन्यभाक्' (अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मेरा भजन करता है)।
१०—९	'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्' (निरन्तर मुझमें मन लगाये रखनेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए)।
११—५५	'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः' (मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म करनेवाला, मेरे परायण और मेरा प्रेमी भक्त है)।

चौथे अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक निराकार उपासकोंका वर्णन जिन श्लोकोंमें जिन पदोंके द्वारा हुआ है, उसका विवरण इस प्रकार है—

अध्याय एवं श्लोक	पद एवं अर्थ
४—३४	'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' (उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उन्हें भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे)।
४—३९	'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्' (श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है)।
५—८	'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ नहीं करता हूँ)।

५–१३ 'नैव कुर्वन्न कारयन्' (कर्मोंको न करता हुआ, न करवाता हुआ) ।

५–२४–२६ 'ब्रह्मनिर्वाणम्' (निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होना है) ।

६–२५ 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' (मनको परमात्मामें स्थित करके) ।

८–११ 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' (वेदोंके ज्ञाता पुरुष जिस परमपदको 'अक्षर' कहते हैं) ।

८–१३ 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्' (ॐ इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ) ।

९–१५ 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते' (ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजन करते हुए उपासना करते हैं) ।

अन्वय—

ये, भक्ताः, एवम्, सततयुक्ताः, त्वाम्, पर्युपासते, च, ये, अक्षरम्, अव्यक्तम्, अपि, तेषाम्, योगवित्तमाः, के ॥ १ ॥

पद-व्याख्या—

ये—जो ।

ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें भगवान्‌ने 'यः' और 'सः' पद जिस साधकके लिये प्रयुक्त किये हैं, उसी साधकके लिये अर्थात् सगुण-साकार भगवान्‌की उपासना करनेवाले सब साधकोंके लिये यहाँ 'ये' पद आया है । इसी अध्यायके दूसरे, छठे और बीसवें श्लोकमें भी 'ये' पद ऐसे ही साधकोंके लिये प्रयुक्त हुआ है ।

भक्ताः—भगवान्‌के प्रेमी साधक भक्त ।*

यह पद भगवान्‌के सगुण-साकार रूपमें प्रेम रखनेवाले सभी साधकोंका वाचक है ।

एवम् सततयुक्ताः—इस प्रकार निरन्तर आपमें लगे हुए । यहाँ '**एवम्**' पदसे ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकका निर्देश किया गया है ।†

"मैं भगवान्‌का ही हूँ" इस प्रकार भगवान्‌का होकर रहना ही "सततयुक्त" होना है ।

भगवान्‌में अतिशय श्रद्धावान् साधक भक्तोंका एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति होता है । अतः प्रत्येक (पारमार्थिक—भगवत्सम्बन्धी जप-ध्यानादि अथवा व्यावहारिक—शारीरिक और आजीविका-सम्बन्धी) क्रियामें उनका सम्बन्ध नित्य-निरन्तर भगवान्‌से बना रहता है । '**सततयुक्ताः**' पद ऐसे ही साधक भक्तोंका वाचक है ।

साधकसे यह एक बहुत बड़ी भूल होती है कि वह पारमार्थिक क्रियाओंको करते समय तो अपना सम्बन्ध भगवान्‌से मानता है, पर

---

* नवें अध्यायके तैंतीसवें और इसी अध्यायके बीसवें श्लोकमें भी 'भक्ताः' पद साधक भक्तोंका ही वाचक है ।

† मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

(गीता ११ । ५५)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्यभक्तिसे युक्त पुरुष मुझे ही प्राप्त होता है ।'

व्यावहारिक क्रियाओंको करते समय वह अपना सम्बन्ध संसारसे मानता है। इस भूलका कारण है—समय-समयपर साधकके उद्देश्यमें होनेवाली भिन्नता। जबतक बुद्धिमें धनप्राप्ति, मानप्राप्ति, कुटुम्ब-पालनादि भिन्न-भिन्न उद्देश्य बने रहते हैं, तबतक साधकका सम्बन्ध निरन्तर भगवान्‌के साथ नहीं रहता। यदि वह अपने जीवनके एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्तिको भलीभाँति पहचान ले, तो उसकी प्रत्येक क्रिया भगवत्प्राप्तिका साधन हो जायगी। भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य हो जानेपर भगवान्‌का जप, स्मरण, ध्यानादि करते समय तो उसका सम्बन्ध भगवान्‌से है ही, किन्तु व्यावहारिक क्रियाओंको करते समय भी उसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌में लगा हुआ ही समझना चाहिये।

यदि क्रियाके आरम्भ और अन्तमें साधकको भगवत्स्मृति है, तो क्रियाकालमें भी उसकी निरन्तर सम्बन्धात्मक भगवत्स्मृति रहती है—ऐसा मानना चाहिये। जैसे, बहीखातेमें जोड़ लगाते समय व्यापारीकी वृत्ति इतनी तल्लीन होती है कि उसे 'मैं कौन हूँ और जोड़ क्यों लगा रहा हूँ'—इसका भी ज्ञान नहीं रहता, केवल जोड़के अङ्कोंकी ओर ही उसका ध्यान रहता है। जोड़ प्रारम्भ करनेसे पहले उसके मनमें यह धारणा रहती है कि 'मैं अमुक व्यापारी हूँ एवं अमुक कार्यके लिये जोड़ लगा रहा हूँ' और जोड़ लगाना समाप्त करते ही पुनः उसमें उसी भावकी स्फुरणा हो जाती है कि 'मैं अमुक व्यापारी हूँ और अमुक कार्य कर रहा था।' अतएव जिस समयमें वह तल्लीनतापूर्वक जोड़ लगा रहा है, उस समय भी 'मैं अमुक व्यापारी हूँ और अमुक कार्य कर रहा हूँ'—इस भावकी विस्मृति दीखते हुए भी वस्तुतः 'विस्मृति' नहीं मानी जाती।

इसी प्रकार यदि कर्तव्य-कर्मके आरम्भ और समाप्ति-कालमें साधकका यह भाव है कि 'मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान्‌के लिये ही कर्तव्य-कर्म कर रहा हूँ' तथा इस भावमें उसे तनिक भी शङ्का नहीं है, तो जब वह अपने कर्तव्य-कर्ममें तल्लीनतापूर्वक लग जाता है, उस समय उसमें भगवान्‌की विस्मृति दीखते हुए भी वस्तुतः विस्मृति नहीं मानी जायगी।

त्वाम्—आप सगुणरूप परमेश्वरकी।

यहाँ 'त्वाम्' पदसे अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके उसी प्रत्यक्ष स्वरूपको लक्ष्य कर रहे हैं, जिसे भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके बावनवें श्लोकमें 'इदं रूपम्' पदोंसे एवं तिरपनवें और पचपनवें श्लोकमें 'माम्' पदसे कहा था। फिर भी इस पदसे उन सभी सगुण-साकार स्वरूपोंको ग्रहण कर लेना चाहिये, जिन्हें भक्तोंके इच्छानुसार (उन्हें आश्वासन देनेके लिये) भगवान् समय-समयपर धारण किया करते हैं, और जो स्वरूप भगवान्‌ने भिन्न-भिन्न अवतारोंमें धारण किये हैं एवं भगवान्‌का जो स्वरूप दिव्यधाममें विराजमान है—जिसे अपनी मान्यताके अनुसार लोग अनेक रूपों और नामोंसे कहते हैं।

पर्युपासते—अति श्रेष्ठ भावसे उपासना करते हैं।

'पर्युपासते' पदका अर्थ है—'परितः उपासते' अर्थात् भली-भाँति उपासना करते हैं। जैसे पतिव्रता स्त्री कभी पतिकी सेवामें अपने साक्षात् शरीरको अर्पण करके, कभी पतिकी अनुपस्थितिमें पतिका [illegible] करके, कभी पतिके सम्बन्धसे सास-ससुर आदिकी सेवा करके

एवं कभी पतिके लिये रसोई बनाना आदि घरके कार्य करके सदा-सर्वदा पतिकी ही उपासना करती है, वैसे ही साधक भक्त भी कभी भगवान्‌में तल्लीन होकर, कभी भगवान्‌का जप-स्मरण चिन्तन करके, कभी सांसारिक प्राणियोंको भगवान्‌का ही मानकर उनकी सेवा करके एवं कभी भगवान्‌की आज्ञा समझकर सांसारिक कर्मोंको करके सदा-सर्वदा भगवान्‌की उपासनामें ही लगा रहता है। ऐसी उपासना ही भलीभाँति की गयी उपासना है। ऐसे उपासकके हृदयमें उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थों और क्रियाओंका किञ्चिन्मात्र भी महत्त्व नहीं है।*

च—और।

ये—जो।

यहाँ 'ये' पद निर्गुण-निराकारकी उपासना करनेवाले साधकों-का वाचक है। अर्जुनने श्लोकके पूर्वार्द्धमें जिस श्रेणीके सगुण-साकारके उपासकोंके लिये 'ये' पदका प्रयोग किया है, उसी श्रेणीके

---

* 'पर्युपासते' पद यहाँ अतिश्रेष्ठ भावसे उपासना करनेवाले साधकोंके सम्बन्धमें आया है। यही पद नवें अध्यायके बाईसवें श्लोक और इसी अध्यायके बीसवें श्लोकमें सगुण-साकार उपासनाके सम्बन्धमें आया है। इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'परया श्रद्धया उपासते' (श्रेष्ठ भावसे उपासना करते हैं) साकार उपासकोंके लिये आया है। इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'पर्युपासते' पद निर्गुण निराकारके उपासकोंके लिये आया है और पहले श्लोकके पूर्वार्द्धमें निर्गुण निराकारके उपासकोंके लिये भी इसी पदका अध्याहार किया गया है। चौथे अध्यायके पचीसवें श्लोकमें भी देवताओंकी उपासनाके लिये 'पर्युपासते' पद प्रयुक्त हुआ है।

निर्गुण-निराकारके उपासकोंके लिये यहाँ 'ये' पदका प्रयोग किया गया है।*

अक्षरम्—अविनाशी।

'अक्षरम्' पद अविनाशी सच्चिदानन्दघन परब्रह्मका वाचक है (इसकी व्याख्या इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें की जायेगी)।

अव्यक्तम्—निराकार (की)।

जो किसी इन्द्रियका विषय नहीं है, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं। यहाँ 'अव्यक्तम्' पदके साथ 'अक्षरम्' विशेषण दिया गया है। अतः यह पद निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है (इसकी व्याख्या इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें की जायगी)।

अपि—ही (उपासना करते हैं)।

'अपि' पदसे ऐसा भाव प्रतीत होता है कि यहाँ साकार उपासकोंकी तुलना उन्हीं निराकार उपासकोंसे की गयी है, जो केवल निराकार ब्रह्मको श्रेष्ठ मानकर उसकी उपासना करते हैं।

तेषाम्—उन (दोनों प्रकारके उपासकों) में।

यहाँ 'तेषाम्' पद सगुण और निर्गुण दोनों प्रकारके उपासकों-के लिये आया है। इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'तेषाम्' पद निर्गुण उपासकोंके लिये आया है, जब कि सातवें श्लोकमें 'तेषाम्' पद सगुण उपासकोंके लिये आया है।

'योगवित्तमाः के'—अति उत्तम योगवेत्ता कौन-से हैं?

---

* इसी अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकमें 'ये' और 'ते' पद एवं पाँचवें श्लोकमें 'तेषाम्' पद निर्गुण-निराकारके उपासकोंके लिये आये हैं।

इन पदोंसे अर्जुनका अभिप्राय यह है कि इन दो प्रकारके उपासकोंमें कौन-से उपासक श्रेष्ठ हैं।

साकार और निराकारके उपासकोंमें श्रेष्ठ कौन है—अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने जो वक्तव्य दिया है, उसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे अर्जुनके प्रश्नकी महत्तापर विशेष प्रकाश पड़ता है।

इस अध्यायके दूसरे श्लोकसे चौदहवें अध्यायके बीसवें श्लोकतक भगवान् अविराम बोलते ही चले गये हैं। तिहत्तर श्लोकोंका इतना लंबा प्रकरण गीतामें एकमात्र यही है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् इस प्रकरणमें कोई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात समझाना चाहते हैं। साधकोंको साकार-निराकार स्वरूपमें एकताका बोध हो, उनके हृदयमें इन दोनों स्वरूपोंको प्राप्त करानेवाले साधनोंका साङ्गोपाङ्ग रहस्य प्रकट हो, ज्ञानियों (गीता १४। २२—२५) और भक्तों (गीता १२। १३—१९) के आदर्श लक्षणोंसे वे परिचित हों और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदकी सर्वोत्कृष्टता भलीभाँति उनकी समझमें आ जाय—इन्हीं उद्देश्योंको सिद्ध करनेमें भगवान्‌की विशेष रुचि प्रतीत होती है।

इन्हीं उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये भगवान्‌ने इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें निराकार उपासकोंको 'माम्' पदसे अपनी (साकारकी) प्राप्ति बतलाकर साकार और निराकार-स्वरूपकी तात्त्विक एकता प्रकट की। आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक क्रमशः समर्पणयोग, अभ्यास-योग, भगवदर्थ कर्म तथा सर्वकर्मफलत्यागरूप साधन बतलाकर बारहवें

श्लोकमें अभ्याससे ज्ञानकी, ज्ञानसे ध्यानकी और ध्यानसे कर्मफल-त्यागकी श्रेष्ठता बतलायी एवं त्याग (संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद) से तत्काल शान्तिकी प्राप्तिका वर्णन किया । जब साधकका एकमात्र ध्येय भगवत्प्राप्ति ही हो और भगवान्‌पर उसका अटूट विश्वास हो तभी उसके हृदयमें वास्तविक त्यागका भाव जाग्रत् होता है ।

तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपने प्रिय सिद्ध भक्तोंके उन्तालीस लक्षण बतलाये और बीसवें श्लोकमें उन आदर्श लक्षणोंको 'धर्म्यामृत'की संज्ञा देते हुए यह बतलाया कि जो श्रद्धालु साधक भक्त मेरे परायण होकर इन लक्षणोंको अपनानेकी चेष्टा करते हैं, वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं ।

इस प्रकार इस बारहवें अध्यायमें सगुण-साकार उपासकोंकी श्रेष्ठता, भगवत्प्राप्तिके अनेक साधन तथा भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषोंके लक्षणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया, किंतु अव्यक्त, अक्षर, निर्गुणकी उपासनाका विशेष वर्णन नहीं हुआ । अतः उसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये पूरा तेरहवाँ अध्याय तथा चौदहवें अध्यायके बीसवें श्लोकतक कुल चौवन श्लोक कहे गये । तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ एवं प्रकृति-पुरुषका विवेचन करते हुए पहले श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके लक्षणोंका, आगे क्षेत्रके स्वरूप एवं उनके विकारोंका तथा सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक ज्ञानके बीस साधनोंका वर्णन किया गया । ज्ञेयतत्त्वका वर्णन करते हुए चौदहवें श्लोकमें 'निर्गुणं गुणभोक्तृ च' पदोंसे सगुण-निर्गुणकी तात्त्विक एकता बतलाकर सोलहवें श्लोकमें 'भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च' पदोंसे

उसी निर्गुण-तत्त्वका ब्रह्मा, विष्णु और महेशके रूपसे वर्णन किया गया। उन्नीसवें-बीसवें श्लोकोंमें प्रकृति-पुरुषके स्वरूपका विवेचन किया गया। तत्पश्चात् इक्कीसवें श्लोकमें प्रकृतिजन्य गुणोंके सङ्गको ऊँच-नीच योनियोंमें जन्मका कारण बतलाया गया। प्रकृतिजन्य गुण कौन-से हैं और उनसे मुक्ति कैसे होती है ? इसका विस्तृत विवेचन चौदहवें अध्यायमें किया गया।

यहाँतक भगवान्‌के द्वारा दिया जानेवाला उत्तर पूरा हो गया। चौदहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनने भगवान्‌के सामने गुणातीत-विषयक तीन प्रश्न रख दिये—(१) गुणातीतके लक्षण क्या हैं, (२) उसका आचरण कैसा होता है और (३) गुणातीत होनेके उपाय कौन-से हैं। इन प्रश्नोंके उत्तरमें भगवान्‌ने बाईसवें-तेईसवें श्लोकोंमें गुणातीतके लक्षण बतलाकर चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें उसके आचरणका वर्णन किया। फिर छब्बीसवें श्लोकमें अव्यभिचारिणी भक्तियोगको गुणातीत होनेका उपाय बतलाया। तत्पश्चात् सत्ताईसवें श्लोकमें अपनेको ब्रह्म, अमृत, शाश्वतधर्म तथा एकान्तसुखकी प्रतिष्ठा (आश्रय) बतलाकर सगुण और निर्गुण-स्वरूपकी एकता बतायी।

तेरहवें अध्यायमें भक्तियोगसे युक्त अन्यान्य साधनोंका वर्णन करके तथा चौदहवें अध्यायमें केवल अव्यभिचारिणी भक्तिसे तीनों गुणोंका अतिक्रमण सम्भव बतलाकर भगवान्‌ने भक्तियोगकी सर्वश्रेष्ठता-का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया।

पंद्रहवें अध्यायमें (१) भजनीय—परमात्मा, (२) भक्त—जीवका स्वरूप तथा (३) व्यभिचार—संसारका त्याग—इन तीन

विषयोंका विवेचन करके भगवान्‌ने अपनेको क्षरसे अतीत और अक्षरसे भी उत्तम 'पुरुषोत्तम' बतलाया। भगवान्‌का भजन करनेवाले और उनके विपरीत चलनेवाले लोग कौन हैं—यह बतलानेके लिये सोलहवें अध्यायका प्रारम्भ हुआ। इसमें भगवान्‌ने फलसहित दैवी और आसुरी सम्पत्तिका वर्णन करते हुए आसुरी सम्पत्तियुक्त मनुष्योंके लक्षण एवं उनकी अधोगतिका विस्तारपूर्वक वर्णन किया और अन्तमें आसुरी सम्पत्तिके मूलभूत काम, क्रोध और लोभको नरकके द्वार बतलाकर उनका त्याग करनेकी प्रेरणा की। सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें शास्त्रविधिको त्यागकर मनमाना आचरण करनेवालेको सिद्धि एवं परमगति तथा सुखकी प्राप्तिका निषेध किया और चौबीसवें श्लोकमें कल्याणार्थ शास्त्रानुकूल आचरण करनेकी प्रेरणा की।

इतना सुनकर अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि जो लोग शास्त्रोंमें श्रद्धा तो रखते हैं; किंतु शास्त्रविधिकी अनभिज्ञताके कारण उसका उल्लङ्घन कर बैठते हैं, उनकी क्या निष्ठा है। इस विषयमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर उसके उत्तरमें भगवान्‌ने सत्रहवाँ अध्याय कहा। इसमें भगवान्‌ने अन्तःकरणके अनुरूप त्रिविध श्रद्धाका विवेचन करते हुए श्रद्धाके अनुरूप ही निष्ठाका होना बतलाया। श्रद्धेय वस्तुके अनुसार तीन प्रकारके पूजकोंकी निष्ठाका निर्णय करके निष्ठावान्‌की परीक्षाके लिये त्रिविध स्वाभाविक आहार तथा स्वभावके ही अनुसार त्रिविध यज्ञ, तप और दान-विषयक अभिरुचिका वर्णन किया। इस वर्णनका उद्देश्य यह भी है कि साधक सात्त्विक आहार आदिका ग्रहण तथा राजस एवं तामसका परित्याग करें। अन्तमें सत्कर्मोंमें सम्भावित अङ्ग-वैगुण्य (अनुष्ठानमें त्रुटि अथवा कमी) की

पूर्तिके लिये भगवान्‌ने सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके 'ॐ', 'तत्' और 'सत्'—ये तीन नाम बतलाये और अट्ठाईसवें श्लोकमें अश्रद्धापूर्वक किये गये समस्त कर्मोंको 'असत्' कहकर अध्यायका उपसंहार किया।

यद्यपि भगवान्‌ने अर्जुनके मूल प्रश्नका उत्तर चौदहवें अध्यायके बीसवें श्लोकतक दे दिया था, तथापि उत्तरमें कहे गये विषयको लेकर अर्जुनने जो अवान्तर प्रश्न किये, उनके उत्तरमें यहाँ (सत्रहवें अध्याय) तकका प्रकरण चला। इसके आगेका प्रकरण (अठारहवाँ अध्याय) तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें बतलायी गयी दो निष्ठाओंके विषयमें अर्जुनके प्रश्नको लेकर चला है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवान्‌के हृदयमें जीवोंके लिये परम कल्याणकारी, अत्यन्त गोपनीय और उत्तमोत्तम भाव थे, उन्हें व्यक्त करवानेका श्रेय अर्जुनके इस भगवत्प्रेरित प्रश्नको ही है॥ १॥

सम्बन्ध—

अर्जुनके सगुण और निर्गुण उपासकोंकी श्रेष्ठता-विषयक प्रश्नके उत्तरमें भगवान् निर्णय देते हैं।

श्लोक—

श्रीभगवान् उवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

भावार्थ—

श्रीभगवान् कहते हैं कि मुझमें ही प्रियता होनेके कारण जो साधक मुझमें मनको तन्मय करके परम श्रद्धापूर्वक नित्य-निरन्तर मेरे

सगुण-साकार स्वरूपकी ही उपासना करते हैं, वे मुझे न केवल निर्गुण-निराकारके उपासकोंकी अपेक्षा अपितु सम्पूर्ण योगियोंसे (अर्थात् मेरी प्राप्तिके लिये भिन्न-भिन्न साधनोंका अवलम्बन लेनेवाले हठयोगी, राजयोगी, लययोगी आदि योगियोंकी अपेक्षा) भी अत्युत्तम योगी मान्य हैं। वे पूर्णरूपसे मुझपर ही निर्भर रहते हैं। इसलिये मैं उनके साधनकी रक्षा करता हूँ और उन्हें अपनी प्राप्ति कराता हूँ *।

भगवान्‌ने ठीक यही निर्णय अर्जुनके पूछे बिना ही छठे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें दे दिया था †। परंतु उस विषयमें अपना प्रश्न न होनेके कारण अर्जुन उस निर्णयको पकड़ नहीं पाये। कारण कि स्वयंका प्रश्न न होनेसे सुनी हुई बात भी प्रायः लक्ष्यमें नहीं आती। इसलिये उन्होंने इस अध्यायके पहले श्लोकमें ऐसा प्रश्न किया।

इसी प्रकार अपने मनमें किसी विषयको जाननेकी पूर्ण अभिलाषा और उत्कण्ठाके अभावमें तथा अपना प्रश्न न होनेके कारण सत्सङ्गमें

---

* अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ (गीता ९। २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

† योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझे निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है।'

सुनी हुई और शास्त्रोंमें पढ़ी हुई साधन-सम्बन्धी मार्मिक और महत्त्वपूर्ण बातें प्रायः साधकोंके लक्ष्यमें नहीं आतीं। यदि वही बात उनके प्रश्न करनेपर समझायी जाती है, तो वे उसे अपने लिये विशेषरूपसे कही गयी मानकर श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। साधारणतः सुनी और पढ़ी हुई बातोंको अपने लिये न समझकर उसकी उपेक्षा कर देते हैं, जब कि उनमें उस बातके संस्कार सामान्यतया रहते ही हैं, जो विशेष उत्कण्ठा होनेसे जाग्रत् भी हो सकते हैं। अतः साधकोंको चाहिए कि वे *जो पढ़ें और सुनें, उसे अपने लिये ही मानकर* जीवनमें उतारनेकी शिक्षा इस प्रश्नोत्तरसे ग्रहण करें।

अन्वय—

मयि, मनः, आवेश्य, नित्ययुक्ताः, ये, परया, श्रद्धया, उपेताः, माम्, उपासते, ते, मे, युक्ततमाः, मताः ॥ २ ॥

पद-व्याख्या—

मयि मनः आवेश्य—मेरे सगुण-साकार रूपमें मनको लगाकर।

मन वहीं लगेगा, जहाँ प्रेम होगा। जिसमें प्रेम होता है, उसीका चिन्तन स्वतः होता है।*

---

* चौथे अध्यायके दसवें श्लोकमें 'मन्मया' पदसे छठे अध्यायके चौदहवें श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके सत्तावनवें और अट्ठावनवें श्लोकोंमें 'मच्चित्तः' पदसे, सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'मय्यासक्तमनाः' पदसे, आठवें अध्यायके सातवें श्लोकमें तथा इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' पदसे, नवें अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके पैंसठवें श्लोकमें 'मन्मना भव' पदसे, दसवें अध्यायके नवें श्लोकमें 'मच्चित्ताः' पदसे और इसी अध्यायके आठवें श्लोकमें 'मय्येव मन आधत्स्व' पदोंसे भगवान्‌में मन लगानेके लिये ही कहा गया है अथवा ये पद उन साधकोंके लिये आये हैं, जिनका मन भगवान्‌में लगा हुआ है।

नित्ययुक्ताः—निरन्तर मेरे भजनमें लगे हुए।

श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निरन्तर भजन तभी होगा, जब साधक स्वयं भगवान्‌में लगेगा। स्वयं लगना यही है कि साधक अपने-आपको एकमात्र भगवान्‌का ही समझे। नवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें 'अनन्यभाक् भजते' (अन्यको नहीं भजता) पदोंका अभिप्राय भी स्वयंका यह निश्चय है कि मैं अन्यका नहीं, केवल भगवान्‌का ही हूँ।

"भगवान् ही मेरे हैं और मैं भगवान्‌का ही हूँ", यही स्वयंका भगवान्‌में लगना है। स्वयंका दृढ़ उद्देश्य भगवत्प्राप्ति होनेपर भी मन-बुद्धि स्वतः और पूरी तरह भगवान्‌में लगते हैं। इसके विपरीत स्वयंका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति न हो तो मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेका यत्न करनेपर भी वे पूरी तरह भगवान्‌में नहीं लगते। परंतु जब स्वयं ही अपने-आपको भगवान्‌का मान ले, तब तो मन-बुद्धि भगवान्‌में तल्लीन हो ही जाते हैं। स्वयं कर्ता है और मन-बुद्धि करण हैं। करण कर्ताके आश्रित रहते हैं। जब कर्ता भगवान्‌का हो गया, तब मन-बुद्धिरूप करण स्वतः भगवान्‌में ही लगते हैं। भगवान्‌के प्रति आत्मीयताका भाव भगवान्‌में सहज स्नेह उत्पन्न कराके प्रेमीको भगवान्‌से अभिन्न कर देता है।

साधकसे भूल यह होती है कि वह स्वयं भगवान्‌में न लगकर अपने मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेका अभ्यास करता है। स्वयं भगवान्‌में लगे बिना मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाना कठिन है। इसीलिये साधकोंकी यह व्यापक शिकायत रहती है कि मन-बुद्धि भगवान्‌में

नहीं लगते। मन-बुद्धि एकाग्र होनेसे सिद्धि (समाधि आदि) तो हो सकती है, पर कल्याण स्वयंके भगवान्‌में लगनेसे ही होगा। *

ये—जो।

यहाँ 'ये' पद सगुण-उपासकोंके लिये आया है। प्रश्नके पूर्वार्द्धमें जो 'ये' पद आया है, उसीके उत्तरमें यहाँ 'ये' पद दिया गया है।

परया श्रद्धया उपेताः—श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त।

साधककी श्रद्धा वहीं होगी, जिसे वह सर्वश्रेष्ठ समझेगा। श्रद्धा होने अर्थात् बुद्धि लगनेपर वह अपने द्वारा निश्चित किये हुए सिद्धान्तके अनुसार स्वाभाविक जीवन बनायेगा और अपने सिद्धान्तसे कभी विचलित नहीं होगा।

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ मन लगता है और जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ बुद्धि लगती है। प्रेममें प्रेमास्पदके सङ्गकी तथा श्रद्धामें आज्ञापालनकी मुख्यता रहती है।

माम् उपासते—मेरे सगुणरूपकी उपासना करते हैं।

उपासनाका तात्पर्य है—स्वयं (अपने-आप) को भगवान्‌के अर्पण करना कि मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं।

---

* सातवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें 'नित्ययुक्तः' पद सिद्ध भक्तका वाचक है। आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'नित्ययुक्तस्य' पद और नवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'नित्ययुक्ताः' पद साधक भक्तोंके वाचक हैं। सातवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'युक्तचेतसः' पद भी साधक भक्तोंके लिये आया है।

स्वयंको भगवदर्पण करनेसे नाम-जप, चिन्तन, ध्यान, सेवा, पूजा आदि तथा शास्त्रविहित क्रियामात्र स्वतः भगवान्‌के लिये ही होती है।

शरीर प्रकृतिका और जीव परमात्माका अंश है। प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंसे तादात्म्य, ममता और कामना न करके केवल भगवान्‌को ही अपना माननेवाला यह कह सकता है कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं। ऐसा कहने या माननेवाला भगवान्‌से कोई नया सम्बन्ध नहीं जोड़ता। चेतन और नित्य होनेके कारण जीवका भगवान्‌से स्वतःसिद्ध नित्य सम्बन्ध है। किंतु उस नित्यसिद्ध वास्तविक सम्बन्धको भूलकर जीवने अपना सम्बन्ध प्रकृति एवं उनके कार्य शरीरसे मान लिया जो अवास्तविक है। अतः जबतक प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध है, तभीतक भगवान्‌से अपना सम्बन्ध माननेकी आवश्यकता है। प्रकृतिसे माने हुए सम्बन्धके टूटते ही भगवान्‌से अपना वास्तविक और नित्यसिद्ध सम्बन्ध प्रकट हो जाता है; उसकी स्मृति प्राप्त हो जाती है—'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' (गीता १८ । ७३)।

जड़ता (प्रकृति) के सम्मुख होनेके कारण अर्थात् उससे सुख भोग करते रहनेके कारण जीव शरीरसे 'मैं'-पनका सम्बन्ध जोड़ लेता है अर्थात् 'मैं' शरीर हूँ' ऐसा मान लेता है। इस प्रकार शरीरसे माने हुए सम्बन्धके कारण वह वर्ण, आश्रम, जाति, नाम, व्यवसाय तथा बाल्यादि अवस्थाओंको बिना याद किये भी (स्वाभाविक-रूपसे) अपनी ही मानता रहता है अर्थात् अपनेको उनसे अलग नहीं मानता।

जीवकी विजातीय प्रकृति और प्रकृतिके कार्य संसारके साथ (भूलसे की हुई) सम्बन्धकी मान्यता भी इतनी दृढ़ रहती है कि बिना याद किये सदा याद रहती है। यदि वह अपने सजातीय (चेतन और नित्य) परमात्माके साथ अपने वास्तविक सम्बन्धको पहचान ले, तो किसी भी अवस्थामें परमात्माको नहीं भूल सकता। फिर उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते हर समय प्रत्येक अवस्थामें भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन स्वतः होने लगता है।

जिस साधकका उद्देश्य सांसारिक भोगोंका संग्रह और उनसे सुख लेना नहीं है अपितु एकमात्र परमात्माको प्राप्त करना ही है, उसके द्वारा भगवान्‌से अपने सम्बन्धकी पहचान प्रारम्भ हो गयी—ऐसा मान ही लेना चाहिये। इस सम्बन्धकी पूर्ण पहचानके बाद साधकमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिके द्वारा सांसारिक भोग और उनका संग्रह करनेकी इच्छा बिल्कुल नहीं रहती।

वास्तवमें एकमात्र भगवान्‌का होते हुए भी जीव जितने अंशमें प्रकृतिसे सुख भोग प्राप्त करना चाहता है, उतने ही अंशमें उसने इस भगवत्सम्बन्धको दृढ़तापूर्वक नहीं पकड़ा है। उतने अंशमें उसका प्रकृतिके साथ ही सम्बन्ध है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह प्रकृतिसे विमुख होकर अपने-आपको केवल भगवान्‌का ही माने, भलीभाँति उन्हींके सम्मुख हो जाय।*

* नवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें और इसी अध्यायके छठे श्लोकमें 'उपासते' पद सगुण भगवान्‌की उपासनाके लिये, नवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें 'उपासते' पद निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाके लिये और तेरहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें 'उपासते' पद गुरुजनों और महापुरुषोंके आज्ञानुसार उपासना करनेके लिये आया है।

ते मे युक्ततमाः मताः—वे मुझे अत्युत्तम योगी मान्य हैं।

एकमात्र भगवान्‌में प्रेम होनेसे भक्तका भगवान्‌के साथ नित्य-निरन्तर सम्बन्ध रहता है, कभी वियोग होता ही नहीं। इसीलिये भगवान्‌के मतमें ऐसे भक्त ही वास्तवमें उत्तम योगवेत्ता हैं।

यहाँ '**ते मे युक्ततमाः मताः**' बहुवचनान्त पदसे जो बात कही गयी है, वही बात छठे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें '**स मे युक्ततमो मतः**' एकवचनान्त पदसे कही जा चुकी है * ॥ २ ॥

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने सगुण-उपासकोंको सर्वोत्तम योगी बतलाया। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि क्या निर्गुण उपासक सर्वोत्तम योगी नहीं है? इसके स्पष्टीकरणमें श्रीभगवान् कहते हैं—

श्लोक—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

---

* ग्यारहवें अध्यायके चौवनवें श्लोकमें भगवान् कह चुके हैं कि अनन्य भक्तिके द्वारा साधक मुझे प्रत्यक्ष देख सकता है, तत्त्वसे जान सकता है और मुझे प्राप्त हो सकता है, परन्तु अठारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें भगवान्‌ने निर्गुण-उपासकोंके लिये अपनेको तत्त्वसे जानने और प्राप्त करनेकी ही बात कही है, दर्शन देनेकी बात नहीं कही। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सगुण-उपासकोंको भगवान्‌के दर्शन भी होते हैं। यह उनकी विशेषता है।

भगवान्‌ने छठे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें अपने सगुणरूपमें श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले साधकको सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठ बतलाया। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌को अपना मानकर उनके परायण रहनेवाला साधक ही [illegible] प्रिय है।

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

भावार्थ—

इन श्लोकोंमें भगवान्‌ने निर्गुण-उपासकोंके लिये चार बातें बतलायी हैं—(१) निर्गुण-तत्त्वका स्वरूप क्या है, (२) साधककी स्थिति क्या है, (३) उपासनाका स्वरूप क्या है और (४) साधक क्या प्राप्त करता है ।

(१) अर्जुनने इसी अध्यायके पहले श्लोकके उत्तरार्द्धमें जिस निर्गुण-तत्त्वके लिये 'अक्षरम्' और 'अव्यक्तम्' दो विशेषण प्रयुक्त करके प्रश्न किया था, उसी तत्त्वका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये भगवान्‌ने छः और विशेषण अर्थात् कुल आठ विशेषण दिये, जिनमें पाँच निषेधात्मक (अक्षरम्, अनिर्देश्यम्, अव्यक्तम्, अचिन्त्यम् और अचलम्) तथा तीन विध्यात्मक (सर्वत्रगम्, कूटस्थम् और ध्रुवम्) विशेषण हैं ।

निर्गुण-तत्त्वका कभी 'क्षरण' अर्थात् नाश नहीं होता, इसलिये यह 'अक्षर' है । उसका किसी प्रकारसे निर्देश भी नहीं किया जा सकता, वर्णन तो दूर रहा ! इसलिये वह 'अनिर्देश्य' है । किसी भी इन्द्रियका विषय न होने अर्थात् निराकार होनेसे उसे 'अव्यक्त' कहते हैं । मन-बुद्धिके द्वारा पकड़में न आनेके कारण वह 'अचिन्त्य' है । हिलने-डोलनेकी क्रियासे रहित होनेके कारण वह 'अचल' है । सभी देश, काल, वस्तु आदिमें परिपूर्ण होनेसे वह 'सर्वत्रग' है । सबमें परिपूर्ण होते हुए भी नित्य-निरन्तर निर्विकार,

रहनेके कारण वह 'कूटस्थ' है और उसकी निश्चित और नित्य सत्ता होनेके कारण वह 'ध्रुव' है ।

(२) सब देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें परिपूर्ण तत्त्वपर दृष्टि रहनेसे निर्गुण-उपासकोंकी सर्वत्र समबुद्धि होती है । देहाभिमान और भोगोंकी पृथक् सत्ता माननेके कारण ही भोग भोगनेकी इच्छा होती है और भोग भोगे जाते हैं । परंतु इन निर्गुण-उपासकोंकी दृष्टिमें एक परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुकी पृथक् (स्वतन्त्र) सत्ता न होनेके कारण उनकी बुद्धिमें भोगोंका महत्त्व नहीं रहता । अतः वे सुगमतापूर्वक इन्द्रियोंका संयम कर लेते हैं । साधक सर्वत्र समबुद्धिवाला होनेके कारण उसकी सब प्राणियोंके हितमें रति रहती है । इसलिये वे 'सर्वभूतहिते रताः' हैं ।

(३) साधकका सब समय उस निर्गुण-तत्त्वकी ओर दृष्टि रखना (तत्त्वके सम्मुख रहना) ही 'उपासना' है ।

(४) भगवान् कहते हैं कि ऐसे साधकोंको जो निर्गुण-ब्रह्म प्राप्त होता है, वह मैं ही हूँ । तात्पर्य यह है कि सगुण और निर्गुण एक ही तत्त्व है ।

अन्वय—

तु, ये, इन्द्रियग्रामम्, संनियम्य, अचिन्त्यम्, सर्वत्रगम्, अनिर्देश्यम्, च, कूटस्थम्, अचलम्, ध्रुवम्, अक्षरम्, अव्यक्तम्, पर्युपासते, ते, सर्वभूतहितेरताः, सर्वत्र, समबुद्धयः, माम्, एव प्राप्नुवन्ति ॥ ३-४ ॥

पद-व्याख्या—

तु—और ।

'तु' पद यहाँ साकार-उपासकोंसे निराकार-उपासकोंकी भिन्नता दिखलानेके लिये आया है । इसी अध्यायके बीसवें श्लोकमें भी 'तु' पद सिद्ध भक्तोंके प्रकरणसे साधक भक्तोंके प्रकरणको पृथक करनेके लिये आया है ।

ये—जो ।

यहाँ तीसरे श्लोकमें 'ये' एवं चौथे श्लोकमें 'ते' पद निर्गुण-ब्रह्मके उपासकोंके वाचक हैं ।

इन्द्रियग्रामम् संनियम्य—इन्द्रिय-समुदायको अच्छी प्रकारसे वशमें करके ।

'सम्' और 'नि'—दो उपसर्गोंसे युक्त 'संनियम्य' पद देकर भगवान्‌ने यह बतलाया है कि सभी इन्द्रियोंको सम्यक् प्रकारसे एवं पूर्णतः वशमें करे, जिससे वे किसी अन्य विषयमें न जायँ । इन्द्रियाँ अच्छी प्रकारसे पूर्णत. वशमें न होनेपर निर्गुण-तत्त्वकी उपासना कठिन होती है । सगुण-उपासनामें तो ध्यानका विषय सगुण भगवान् होनेसे इन्द्रियाँ भगवान्‌में लग सकती हैं; क्योंकि भगवान्‌के सगुण स्वरूपमें इन्द्रियोंको अपने विषय प्राप्त हो जाते हैं । अतएव सगुण-उपासनामें इन्द्रिय-संयमकी आवश्यकता होते हुए भी उसकी उतनी अधिक आवश्यकता नहीं है, जितनी निर्गुण-उपासनामें है । निर्गुण-उपासनामें चिन्तनका कोई आधार न रहनेसे इन्द्रियोंका सम्यक् संयम हुए बिना (आसक्ति रहनेपर) विषयोंमें मन जा सकता है और विषयोंका चिन्तन होनेसे पतन होनेकी अधिक सम्भावना

रहती है *। अतः निर्गुणोपासकके लिये सभी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाते हुए सम्यक् प्रकारसे पूर्णतः वशमें करना आवश्यक है। इन्द्रियोंको केवल बाहरसे ही वशमें नहीं करना है; अपितु विषयोंके प्रति साधकके अन्तःकरणमें भी राग नहीं रहना चाहिये; क्योंकि जबतक विषयोंमें राग है, तबतक ब्रह्मकी प्राप्ति कठिन है †।

---

* ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न होता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है।'

† असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६। ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है।'

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ (१५। ११)

'यत्न करनेवाले योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित इस आत्माको तत्त्वसे जानते हैं; किन्तु जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते।'

गीतामें इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बात विशेषरूपसे जितनी निर्गुणोपासना तथा कर्मयोगमें आयी है, उतनी सगुणोपासनामें नहीं।*

* दूसरे अध्यायके अड़सठवें श्लोकमें 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः' पदसे, चौथे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'यतचित्तात्मा' पदसे, पाँचवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'विजितात्मा जितेन्द्रियः' पदोंसे, छठे अध्यायके सातवें श्लोकमें 'जितात्मनः' पदसे और आठवें श्लोकमें 'विजितेन्द्रियः' पदसे सिद्ध महापुरुषोंद्वारा अच्छी प्रकारसे जीती हुई इन्द्रियोंका वर्णन हुआ है।

यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिये कि गीतामें 'आत्मा' पद शरीरके लिये, मन-बुद्धिके लिये और मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित शरीरके लिये भी प्रयुक्त हुआ है। अतः जहाँ आत्माको वशमें करनेकी बात आती है, वहाँ उसका अर्थ प्रसङ्गानुसार ही ग्रहण करना चाहिये।

गीतामें इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये जिन स्थलोंपर प्रेरणा की गयी है, वे इस प्रकार हैं—दूसरे अध्यायके इकसठवें श्लोकमें 'सर्वाणि संयम्य' पदोंसे और चौंसठवें श्लोकमें 'रागद्वेषवियुक्तैः इन्द्रियैः' पदोंसे तीसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें 'मनसा इन्द्रियाणि नियम्य' पदोंसे, चौथे अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें 'श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु' पदोंसे और सत्ताईसवें श्लोकमें 'सर्वाणीन्द्रियकर्माणि आत्मसंयमयोगाग्नौ' पदोंसे तथा उनतालीसवें श्लोकमें 'संयतेन्द्रियः' पदसे, पाँचवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें 'यतेन्द्रियमनोबुद्धिः' पदसे छठे अध्यायके छठे श्लोकमें 'आत्मना जितः' पदोंसे, बारहवें श्लोकमें 'तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः' पदोंसे, चौदहवें श्लोकमें 'मनः संयम्य' पदोंसे, चौबीसवें श्लोकमें 'इन्द्रियग्रामं विनियम्य' पदोंसे और छत्तीसवें श्लोकमें 'वश्यात्मना' पदसे, आठवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें 'सर्वद्वाराणि संयम्य' पदोंसे, तेरहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'आत्मविनिग्रहः' पदसे, सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'दमः' पदसे और अठारहवें अध्यायके बावनवें श्लोकमें 'यतवाक्कायमानसः' पदसे।

अचिन्त्यम्—मन बुद्धिसे परे।

मन-बुद्धिका विषय न होनेके कारण 'अचिन्त्यम्' पद निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है; क्योंकि मन-बुद्धि प्रकृतिका कार्य होनेसे सम्पूर्ण प्रकृतिको भी अपना विषय नहीं बना सकते, तब प्रकृतिसे अतीत परमात्मा इनका विषय बन ही कैसे सकता है!

प्राकृतिक पदार्थमात्र चिन्त्य है और परमात्मा प्रकृतिसे अतीत होनेके कारण सम्पूर्ण चिन्त्य पदार्थोंसे भी अतीत, विलक्षण हैं। प्रकृतिकी सहायताके बिना चिन्तन, वर्णन नहीं किया जा सकता, अतः परमात्माको 'स्वयं' (करण-निरपेक्ष ज्ञान) से ही जाना जा सकता है, प्रकृतिके कार्य मन-बुद्धि आदि (करण-सापेक्ष ज्ञान) से नहीं।*

सर्वत्रगम्—सर्वव्यापी।

सब देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें परिपूर्ण होनेसे ब्रह्म 'सर्वत्रगम्' है। सर्वव्यापी होनेके कारण वह सीमित मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं किया जा सकता।†

तीसरे अध्यायके छठे श्लोकमें 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य' पद मिथ्याचारी-द्वारा हठपूर्वक इन्द्रियोंको रोके जानेके विषयमें प्रयुक्त हुआ है, न कि इन्द्रियोंको वशमें रखनेके लिये'।

* दूसरे अध्यायके पचीसवें श्लोकमें 'अचिन्त्यः' पद शरीरीके लिये और आठवें अध्यायके नवें श्लोकमें 'अचिन्त्यम्' पद सगुण-निराकार परमात्माके लिये आया है।

† नवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'सर्वत्रगः' पद दृश्य जगत्में सर्वत्र विचरनेवाली वायुका विशेषण है।

अनिर्देश्यम्—जिसका संकेत न किया जा सके।

जिसे इदंतासे नहीं बतलाया जा सकता अर्थात् जो भाषा, वाणी आदिका विषय नहीं है, वह 'अनिर्देश्यम्' है। निर्देश (संकेत) उसीका किया जा सकता है, जो जाति, गुण, क्रिया एवं सम्बन्धसे युक्त हो और देश, काल, वस्तु एवं व्यक्तिसे परिच्छिन्न हो। परंतु जो चिन्मय तत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण हो, उसका संकेत जड़ भाषा, वाणीसे कैसे किया जा सकता है!

च—और।

कूटस्थम्—सदा एकरस (निर्विकार) रहनेवाले।

यह पद निर्विकार, सदा एकरस रहनेवाले सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है। सभी देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें रहते हुए भी वह तत्त्व सदैव निर्विकार और निर्लिप्त रहता है। उसमें कभी किञ्चिन्मात्र भी कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिये वह 'कूटस्थ' है।

कूट (अहरन) में भाँति-भाँतिके गहने, अस्त्र, औजार आदि पदार्थ गढ़े जाते हैं, पर वह ज्यों-का-त्यों रहता है। इसी प्रकार संसारके भिन्न-भिन्न प्राणी-पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश होनेपर भी परमात्मा सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं।*

अचलम्—अचल।

---

* छठे अध्यायके आठवें श्लोकमें 'कूटस्थः' पद ज्ञानी महात्माकी निर्विकारताका वाचक है और पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'कूटस्थः' पद जीवात्माका वाचक है।

'अचलम्'—पद हिलने-डोलनेकी क्रियासे सर्वथा रहित ब्रह्मका वाचक है। प्रकृति चल है और ब्रह्म अचल है।*

ध्रुवम्—नित्य।

जिसकी सत्ता निश्चित (सत्य) और नित्य है, उसे 'ध्रुव' कहते हैं। सच्चिदानन्दघन ब्रह्म सत्तारूपसे सर्वत्र विद्यमान रहनेसे 'ध्रुवम्' है।

निर्गुण ब्रह्मके आठों विशेषणोंमेंसे सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषण 'ध्रुवम्' है। ब्रह्मके निर्देश्य, अचिन्त्य आदि निषेधात्मक विशेषण देनेसे कोई ऐसा न समझ ले कि वह है ही नहीं, इसलिये यहाँ 'ध्रुवम्' विशेषण देकर उस तत्त्वकी निश्चित सत्ता बतलायी गयी है। उस तत्त्वका कभी कहीं किञ्चिन्मात्र भी अभाव नहीं होता। उसकी सत्तासे ही असत् (संसार) को सत्ता मिल रही है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥
(मानस १। ११६। ४)।†

अक्षरम्—अविनाशी।

---

* दूसरे अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें 'अचलः' पद जीवात्माका और तिरपनवें श्लोकमें 'अचला' पद बुद्धिकी स्थिरताका द्योतक है, छठे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें 'अचलम्' पद ध्यानयोगकी विधिमें शरीरको स्थिर रखनेके लिये आया है, सातवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'अचलाम्' पद श्रद्धाकी स्थिरताका द्योतक है और आठवें अध्यायके दसवें श्लोकमें 'अचलेन' पद मनकी एकाग्रताके अर्थमें आया है।

† दूसरे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'ध्रुवः' और 'ध्रुवम्' पद 'निश्चित' अर्थके बोधक हैं।

'न क्षरति इति अक्षरम्'—जिसका कभी क्षरण अर्थात् विनाश नहीं होता तथा जिसमें कभी कोई कमी नहीं आती, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म 'अक्षरम्' है ।*

अव्यक्तम्—निराकार ।

जो व्यक्त न हो अर्थात् मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका विषय न हो और जिसका कोई रूप या आकार न हो, उसे 'अव्यक्तम्' कहा गया है ।†

* आठवें अध्यायके तीसरे और ग्यारहवें श्लोकोंमें, ग्यारहवें अध्यायके अठारहवें और सैंतीसवें श्लोकोंमे तथा इस बारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'अक्षरम्' पद निर्गुण ब्रह्मका वाचक है। आठवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'अक्षरः' पद परमगतिका वाचक है। आठवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें तथा दसवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें 'अक्षरम्' पद प्रणवका वाचक है। पन्द्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'अक्षरः' पद दोनों ही बार जीवात्माके लिये आया है।

† दूसरे अध्यायके पचीसवें श्लोकमे 'अव्यक्त' पद शरीरके स्वरूपके वर्णनमें आया है और अट्ठाईसवें श्लोकमें 'अव्यक्तादीनि' तथा 'अव्यक्तनिधनानि' पदोंका प्रयोग यह बतलानेके लिये किया गया है कि जन्मसे पूर्व एवं मरणोपरान्त प्राणियोंका स्थूलशरीर प्रत्यक्ष नहीं दीखता। सातवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमे 'अव्यक्तम्' और नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें 'अव्यक्तमूर्तिना' दोनों ही पद सगुण निराकार परमात्माके वाचक हैं। आठवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें 'अव्यक्तात्' और 'अव्यक्तसंज्ञके' पद तथा बीसवें श्लोकमे 'अव्यक्तात्' पद ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरके वाचक होनेके कारण प्रकृतिके द्योतक हैं तथा बीसवें श्लोकमें ही '(सनातनः) अव्यक्तः' पद परमात्माका वाचक है। तेरहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'अव्यक्तम्' पद मूलप्रकृतिका वाचक है। आठवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'अव्यक्तः'

पर्युपासते—भलीभाँति उपासना करते हैं।

'पर्युपासते' पद यहाँ निर्गुण-उपासकोंकी सम्यक् उपासनाका बोधक है। शरीर-सहित सम्पूर्ण पदार्थ और कर्मोंमें वासना तथा अहंभावका अभाव तथा भावरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अभिन्नभावसे नित्य-निरन्तर दृढ़ स्थित रहना ही भलीभाँति उपासना करना है।

इन श्लोकोंमें आठ विशेषणोंसे जिस विशेष वस्तु-तत्त्वका लक्ष्य कराया गया है और उससे जो विशेष वस्तु समझमें आती है, वह बुद्धिविशिष्ट ब्रह्मका ही स्वरूप है, जो पूर्ण नहीं है; क्योंकि (लक्षण और विशेषणोंसे रहित) निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्मका स्वरूप (जो बुद्धिसे अतीत है) किसी भी प्रकारसे पूर्णतया बुद्धि आदिका विषय नहीं हो सकता। हाँ, इन विशेषणोंका लक्ष्य रखकर जो उपासना की जाती है, वह निर्गुण ब्रह्मकी ही उपासना है और इसके परिणाम-स्वरूप प्राप्ति भी निर्गुण ब्रह्मकी होती है।

विशेष बात

परमात्माको तत्त्वसे समझानेके लिये दो प्रकारके विशेषण दिये जाते हैं—निषेधात्मक और विध्यात्मक। परमात्माके अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, अचिन्त्य, अचल, अव्यय, असीम, अपार, अविनाशी आदि विशेषण 'निषेधात्मक' हैं और सर्वव्यापी, कूटस्थ, ध्रुव, सत्, चित्, आनन्द आदि विशेषण 'विध्यात्मक' हैं। परमात्माके निषेधात्मक विशेषणोंका तात्पर्य प्रकृति (देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया आदि)

पद, इस बारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'अव्यक्तम्' पद और पाँचवें श्लोकमें 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्'के अन्तर्गत 'अव्यक्त' पद तथा 'अव्यक्ता गतिः' पद सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

से परमात्माकी 'असङ्गता' बतलाता है और विध्यात्मक विशेषणोंका तात्पर्य परमात्माकी स्वतन्त्र 'सत्ता' बतलाता है।

परमात्मतत्त्व सांसारिक प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंसे परे (सहज-निवृत्त) और दोनोंको समानरूपसे प्रकाशित करनेवाला है। ऐसे निरपेक्ष परमात्मतत्त्वका लक्ष्य करानेके लिये और बुद्धिको परमात्माके समीप पहुँचानेके लिये ही भिन्न भिन्न विशेषणोंसे परमात्माका वर्णन (लक्ष्य) किया जाता है।

गीतामें परमात्मा और जीवात्माके स्वरूपका वर्णन प्रायः समान ही मिलता है। प्रस्तुत अध्यायके तीसरे श्लोकमें परमात्माके लिये जो विशेषण दिये गये हैं, वही विशेषण गीतामें अन्यत्र जीवात्माके लिये भी दिये गये हैं, जैसे—दूसरे अध्यायके चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें 'सर्वगत', 'अचल', 'अव्यक्त', 'अचिन्त्य' आदि और पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'कूटस्थ' एवं 'अक्षर' विशेषण जीवात्माके लिये आये हैं। इसी प्रकार सातवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें 'अव्ययम्' विशेषण परमात्माके लिये और चौदहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'अव्ययम्' विशेषण जीवात्माके लिये आया है।

संसारमें व्यापकरूपसे भी परमात्मा और जीवात्माको समान बतलाया गया है, जैसे—आठवें अध्यायके बाईसवें तथा अठारहवें अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें 'येन सर्वमिदं ततम्' पदोंसे और नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें 'मया ततमिदं सर्वम्' पदोंसे परमात्माको सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त बतलाया गया है। इसी प्रकार दूसरे अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें 'येन सर्वमिदं ततम्' पदोंसे जीवात्माको भी सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त बतलाया गया है।

जैसे नेत्रोंकी दृष्टि परस्पर नहीं टकराती अथवा व्यापक होनेपर भी शब्द परस्पर नहीं टकराते, वैसे ही (द्वैत मतके अनुसार) सम्पूर्ण जगत्‌में समानरूपसे व्याप्त होनेपर भी निरवयव होनेसे परमात्मा और जीवात्माकी सर्वव्यापकता परस्पर नहीं टकराती।

ते—वे।

सर्वभूतहितेरताः—सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हुए।

कर्मयोगके साधनमें आसक्ति, ममता, कामना और स्वार्थके त्यागकी मुख्यता है। मनुष्य जब शरीर, धन, सम्पत्ति आदि पदार्थोंको 'अपना' और 'अपने लिये' न मानकर उन्हें दूसरोंकी सेवामें लगाता है, तो उसकी आसक्ति, ममता, कामना और स्वार्थभावका त्याग स्वतः हो जाता है। जिसका उद्देश्य प्राणिमात्रकी सेवा करना ही है, वह अपने शरीर और पदार्थोंको (दीन, दुःखी, अभावग्रस्त) प्राणियोंकी सेवामें लगायेगा ही। शरीरको दूसरोंकी सेवामें लगानेसे 'अहंता' और पदार्थोंको दूसरोंकी सेवामें लगानेसे ममता नष्ट होती है। साधकका पहलेसे ही यह लक्ष्य होता है कि जो पदार्थ सेवामें लग रहा है, वह सेव्यका ही है। इसलिये कर्मयोगके साधनमें सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहना अत्यावश्यक है। इसलिये 'सर्वभूतहितेरताः' पदका प्रयोग कर्मयोगका आचरण करनेवालेके सम्बन्धमें करना ही अधिक युक्तिसङ्गत है। परन्तु भगवान्‌ने इस पदका प्रयोग यहाँ तथा पाँचवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें—दोनों ही स्थानोंपर ज्ञानयोगियोंके सम्बन्धमें किया है। इससे यही सिद्ध होता है कि कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये कर्मयोगकी प्रणालीको अपनानेकी आवश्यकता ज्ञानयोगमें भी है।

एक बात विशेष ध्यान देनेकी है। जो 'सेवा' शरीर, पदार्थ और क्रियासे की जाती है, वह सीमित ही होती है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाएँ मिलकर भी सीमित ही हैं। परन्तु सेवामें प्राणिमात्रके हितका भाव असीम होनेसे सेवा भी असीम हो जाती है। अतः पदार्थोंके अपने पास रहते हुए भी (उनमें आसक्ति, ममता आदि न करके) उन्हें सम्पूर्ण प्राणियोंका मानकर उन्हींकी सेवामें लगाना है, क्योंकि वे पदार्थ समष्टिके ही हैं। ऐसा असीम भाव होनेपर जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जानेके कारण साधकको असीम तत्त्व (परमात्मा) की प्राप्ति हो जाती है। कारण कि पदार्थोंको व्यक्तिगत (अपना) माननेसे ही मनुष्यमें परिच्छिन्नता (एकदेशीयता) एवं विषमता रहती है और पदार्थोंको व्यक्तिगत न मानकर सम्पूर्ण प्राणियोंके हित-भाव रहनेसे परिच्छिन्नता एवं विषमता मिट जाती है। इसके विपरीत साधारण मनुष्यका ममतावाले प्राणियोंकी सेवा करनेका सीमित भाव रहनेसे वह चाहे अपना सर्वस्व उनकी सेवामें क्यों न लगा दे, तो भी पदार्थोंमें तथा जिनकी सेवा करे उनमें आसक्ति, ममता आदि रहनेसे (सीमित-भावके कारण) उसे असीम परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव असीम परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये प्राणिमात्रके हितमें रति अर्थात् प्रीति-रूप असीम भावका होना आवश्यक है। 'सर्वभूतहिते रताः' पद उसी भावको अभिव्यक्त करता है।

ज्ञानयोगका साधक जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहता तो है, परन्तु जबतक उसके हृदयमें नाशवान् पदार्थोंका आदर है,

तबतक उन पदार्थोंको मायामय अथवा स्वप्नवत् समझकर उनका ऐसे ही त्याग कर देना उसके लिये कठिन है। परंतु कर्मयोगका साधक पदार्थोंको दूसरोंकी सेवामें लगाकर उनका त्याग ज्ञानयोगीकी अपेक्षा सुगमतापूर्वक कर सकता है। ज्ञानयोगीमें तीव्र वैराग्य होनेसे ही पदार्थोंका त्याग हो सकता है, परंतु कर्मयोगी थोड़े वैराग्यमें ही पदार्थोंका त्याग (परहितमें) कर सकता है। प्राणियोंके हितमें पदार्थोंका सदुपयोग करनेसे जड़तासे सुगमतापूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। भगवान्‌ने यहाँ **'सर्वभूतहिते रताः'** पद देकर यही बतलाया है कि प्राणिमात्रके हितमें रत रहनेसे पदार्थोंके प्रति आदर-बुद्धि रहते हुए भी जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद सुगमतापूर्वक हो जायगा। प्राणिमात्रका हित करनेके लिये कर्मयोग ही सुगम उपाय है।

निर्गुण-उपासकोंकी साधनाके अन्तर्गत अनेक अवान्तर भेद होते हुए भी मुख्य भेद दो हैं -(१) जड़-चेतन और चर-अचरके रूपमें जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब आत्मा या ब्रह्म है और (२) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह अनित्य, क्षणभङ्गुर और असत् है- इस प्रकार संसारका बाध करनेपर जो तत्त्व शेष रह जाता है, वह आत्मा या ब्रह्म है।

पहली साधनामें 'सब कुछ ब्रह्म है' इतना सीख लेनेमात्रसे ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होती। जबतक अन्तःकरणमें राग अर्थात् काम-क्रोधादि विकार हैं, तबतक ज्ञाननिष्ठाका सिद्ध होना बहुत कठिन है। जैसे राग मिटानेके लिये कर्मयोगीके लिये सभी प्राणियोंके हितमें रति होना आवश्यक है, वैसे ही निर्गुण-उपासना करनेवाले साधकोंके लिये

भी प्राणिमात्रके हितमें रति होना आवश्यक है—तभी राग मिटकर ज्ञाननिष्ठा सिद्ध हो सकती है। इसी बातको लक्ष्य करानेके लिये यहाँ 'सर्वभूतहिते रताः' पद आया है।

दूसरी साधनामें जो साधक समाजसे उदासीन रहकर एकान्तमें ही तत्त्वका चिन्तन करते रहते हैं, उन्हें उक्त साधनामें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग सहायक तो होता है, परन्तु केवल कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देने मात्रसे ही सिद्धि प्राप्त नहीं होती* अपितु सिद्धि प्राप्त करनेके लिये भोगोंसे वैराग्य और शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिमें अपनापनके त्यागकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिये वैराग्य और निर्ममताके लिये 'सर्वभूतहिते रताः' होना आवश्यक है।

ज्ञानयोगका साधक प्रायः समाजसे दूर, असङ्ग रहता है। अतः उसमें व्यक्तित्व रह जाता है, जिसे दूर करनेके लिये संसारमात्रके हितका भाव रहना अत्यावश्यक है।

वास्तवमें असङ्गता शरीरसे ही होनी चाहिये। समाजसे असङ्गता होनेपर अहंभाव दृढ़ होता है अर्थात् मिटता नहीं। जबतक साधक अपनेको शरीरसे सर्वथा अलग अनुभव नहीं कर लेता, तबतक समाजसे अलग रहनेमात्रसे उसका लक्ष्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि शरीर भी संसारका ही अङ्ग है और शरीरसे तादात्म्य और ममताका न रहना ही उससे वस्तुतः अलग होना है। तादात्म्य और ममता मिटानेके लिये साधकको प्राणिमात्रके हितमें लगना आवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि साधक सदा एकान्तमें ही रहे, यह सम्भव भी नहीं है, क्योंकि शरीर-निर्वाहके लिये उसे व्यवहार-क्षेत्रमें

---

* न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ (गीता ३ । ४)

आना ही पड़ता है और वैराग्यमें कमी होनेपर उसके व्यवहारमें अभिमानके कारण कठोरता आनेकी सम्भावना रहती है एवं कठोरता आनेसे उसके व्यक्तित्वका विलय (अहंभावका नाश) नहीं होता। अतएव उसे तत्त्वकी प्राप्तिमें कठिनाई होती है। व्यवहारमें कहीं कठोरता न आ जाय, इसके लिये भी यह अत्यावश्यक है कि साधक सभी प्राणियोंके हितमें रत रहे। ऐसे ज्ञानयोगके साधकद्वारा सेवा-कार्यका विस्तार चाहे न हो, परन्तु भगवान् कहते हैं कि वह भी (सभी प्राणियोंके हितमें रति होनेके कारण) मुझे प्राप्त कर लेगा।

सगुणोपासक और निर्गुणोपासक—दोनों ही प्रकारके साधकोंके लिये सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका भाव रखना अत्यावश्यक है। सम्पूर्ण प्राणियोंके हितसे अलग अपना हित माननेसे 'अहं' अर्थात् व्यक्तित्व बना रहता है, जो साधकके लिये आगे चलकर बाधक होता है। वास्तवमें कल्याण 'अहं'के मिटनेपर ही होता है। अपने लिये किये जानेवाले साधनसे 'अहं' बना रहता है। इसलिये 'अहं' को पूर्णतः मिटानेके लिये साधक....को प्रत्येक क्रिया (खाना, पीना, सोना आदि एवं जप, ध्यान, पाठ, स्वाध्याय आदि भी) संसारमात्रके हितके लिये ही करनी चाहिये। संसारके हितमें ही अपना हित निहित है। भगवान्‌की मात्र शक्ति परहितमें ही लग रही है। अतः जो सबके हितमें लगेगा, भगवान्‌की शक्ति उसके साथ हो जायगी।

केवल दूसरेके लिये वस्तुओंको देना और शरीरसे सेवा कर देना ही सेवा नहीं है अपितु अपने लिये कुछ भी न चाहकर दूसरेका हित कैसे हो, उसे सुख कैसे मिले—इस भावसे कर्म करना ही सेवा

है । अपनेको सेवक कहलानेका भाव भी मनमें नहीं रहना चाहिये । सेवा तभी हो सकती है, जब सेवक जिसकी सेवा करता है, उसे अपनेसे अभिन्न (अपने शरीरकी भाँति) मानता है—'आत्मौपम्येन सर्वत्र' और बदलेमें उससे कुछ भी लेना नहीं चाहता ।

जैसे मनुष्य बिना किसीके उपदेश किये अपने शरीरकी सेवा स्वतः ही बड़ी सावधानीसे करता है एवं सेवा करनेका अभिमान भी नहीं करता, वैसे ही सर्वत्र आत्मबुद्धि होनेसे सिद्ध महापुरुषोंकी स्वतः सबके हितमें रति रहती है* । उनके द्वारा प्राणिमात्रका कल्याण होता है, परन्तु उनके मनमें लेशमात्र भी ऐसा भाव नहीं होता कि हम किसीका कल्याण कर रहे हैं । उनमें अहंताका सर्वथा अभाव हो जाता है । अतः ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुषोंको आदर्श मानकर साधकको चाहिये कि सर्वत्र आत्मबुद्धि करके संसारके किसी भी प्राणीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न पहुँचाकर उनके हितमें सदा तत्परतासे स्वाभाविक ही रत रहे ।

सर्वत्र समबुद्धयः—सबमें समरूप परमात्माको देखनेवाले ।

इस पदका भाव यह है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मके उपासकों-

---

* आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(गीता ६ । ३२)

'हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है, और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।'

की दृष्टि सर्वत्र एवं सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थोंमें परिपूर्ण परमात्मापर ही रहनेके कारण विषम नहीं होती; क्योंकि परमात्मा सम है (५ । १९)

यहाँ भगवान् ज्ञाननिष्ठावाले उपासकोंके लिये इस पदका प्रयोग करके एक विशेष भाव प्रकट करते हैं कि ज्ञानमार्गियोंके लिये एकान्त स्थानमें रहकर तत्त्वका चिन्तन करना ही एकमात्र साधन नहीं है; क्योंकि 'समबुद्धयः' पदकी सार्थकता विशेषरूपसे व्यवहारकालमें ही होती है। दूसरी बात, संसारसे हटकर शरीरको निर्जन स्थानमें ले जाना ही सर्वथा एकान्त-सेवन नहीं है; क्योंकि शरीर भी तो संसार-का ही एक अङ्ग है। शरीर और संसारको भिन्न-भिन्न देखना विषम-बुद्धि है। अतः शरीर और संसारको एक देखनेपर ही समबुद्धि हो सकती है। वास्तविक एकान्तकी सिद्धि तो परमात्मतत्त्वके अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों (अर्थात् शरीर और संसार) की सत्ताका अभाव होनेसे ही होती है। साधन करनेके लिये एकान्त भी उपयोगी है, परंतु सर्वथा एकान्तसेवी साधकके द्वारा व्यवहारकालमें भूल होना सम्भव है। शरीरमें अपनापन न होना ही वास्तविक एकान्त है। अतः साधकको चाहिये कि वास्तविक एकान्तको लक्ष्यमें रखकर अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिसे अपनी अहंता-ममता हटाकर सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित रहे। ऐसे साधक ही वास्तवमें समबुद्धि हैं।

गीतामें समबुद्धिका तात्पर्य 'समदर्शन' है, न कि 'समवर्तन'। पाँचवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण तथा गाय, हाथी कुत्ता और चाण्डाल—इन पाँच प्राणियोंके

नाम गिनाये हैं, जिनके साथ व्यवहारमें किसी भी प्रकारसे समता होना सम्भव नहीं। वहाँ भी 'समदर्शिनः' पद प्रयुक्त हुआ है।* इससे यह तात्पर्य निकलता है कि, सबके प्रति व्यवहार कभी समान नहीं हो सकता। व्यवहार एक समान कोई कर सकता भी नहीं और होना चाहिये भी नहीं। व्यवहारमें भिन्नता होनी आवश्यक है। व्यवहारमें साधककी विभिन्न प्राणी पदार्थोंकी आकृति और उपयोगिता पर दृष्टि रहते हुए भी वास्तवमें उसकी दृष्टि उन प्राणी-पदार्थोंमें परिपूर्ण परमात्मापर ही रहती है। जैसे विभिन्न प्रकारके गहनोंसे तत्त्व (सोने) में कोई अन्तर नहीं आता, वैसे ही व्यवहारमें साधककी तत्त्वदृष्टिमें कोई अन्तर नहीं आता। सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति साधकमें आन्तरिक समता रहती है। यहाँ 'समबुद्धयः' पदसे उस आन्तरिक समताकी ओर ही लक्ष्य कराया गया है।

सिद्ध महापुरुषोंकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवा दूसरी सत्ता न रहनेके कारण वे सदा और सर्वत्र 'समबुद्धि' ही हैं। सिद्ध महापुरुषोंकी स्वतःसिद्ध स्थिति ही साधकोंके लिये आदर्श होती है और उसीको लक्ष्य करके वे चलते हैं। साधकोंकी दृष्टिमें परमात्माके सिवा अन्य पदार्थोंकी जितने अंशमें सत्ता रहती है, उतने ही अंशमें उनकी बुद्धिमें समता नहीं रहती। अतः साधककी बुद्धिमें अन्य पदार्थों (अर्थात् संसार) की स्वतन्त्र सत्ता जैसे-जैसे कम होती जायगी, वैसे-वैसे ही उसकी बुद्धि सम होती जायगी।

---

* विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(गीता ५।१८)

साधक अपनी बुद्धिसे सर्वत्र परमात्माको देखनेकी चेष्टा करता है, जब कि सिद्ध महापुरुषोंकी बुद्धिमें परमात्मा स्वाभाविकरूपसे इतनी घनतासे परिपूर्ण है कि उनके लिये परमात्माके सिवा और कुछ है ही नहीं—**'वासुदेवः सर्वमिति'** (गीता ७ । १९) इसलिये उनकी बुद्धिका विषय परमात्मा नहीं है अपि तु उनकी बुद्धि ही परमात्मासे परिपूर्ण है । अतएव वे **'सर्वत्र समबुद्धयः'** हैं ।*

माम् एव प्राप्नुवन्ति—मुझे ही प्राप्त होते हैं ।

निर्गुणके उपासक कहीं यह न समझ लें कि निर्गुण-तत्त्व कोई-दूसरा है और मैं (सगुण) कोई और हूँ—इसलिये भगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि निर्गुण ब्रह्म मुझसे भिन्न नहीं है (गीता ९ । ४; १४ । २७); सगुण और निर्गुण दोनों मेरे ही स्वरूप हैं ॥३-४॥

सम्बन्ध—

अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने दूसरे श्लोकमें सगुण-उपासकोंको सर्वोत्तम योगी बतलाया और तीसरे तथा चौथे श्लोकोंमें निर्गुण-उपासकोंको अपनी प्राप्ति की बात कही । अब दोनों प्रकारकी उपासनाओंके अवान्तर भेद तथा कठिनाई एवं सुगमतामूलक तारतम्य अगले तीन श्लोकोंमें बतलाते हैं ।

* पाँचवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें 'येषां साम्ये स्थितं मनः' पद और छठे अध्यायके नवें श्लोकमें 'समबुद्धिः' पद सिद्ध योगियोंके लिये प्रयुक्त हुए हैं । छठे अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें 'समं पश्यति' पदका प्रयोग भी सिद्ध योगियोंके लिये ही हुआ है ।

श्लोक—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

भावार्थ—

यहाँ भगवान् कहते हैं कि दोनों प्रकारके उपासकोंकी उपासनामें अपनी-अपनी रुचि, श्रद्धा, वैराग्य, इन्द्रियसंयम आदिकी दृष्टिसे लक्ष्य-प्राप्तिमें समान योग्यता होते हुए भी निर्गुण-उपासकोंको देहाभिमानके कारण अपने साधनमें परिश्रम और कठिनाई अधिक प्रतीत होगी तथा लक्ष्यप्राप्तिमें भी अपेक्षाकृत विलम्ब होगा। जैसे-जैसे देहाभिमान नष्ट होता जायगा, वैसे-ही-वैसे साधक तत्त्वमें प्रविष्ट होता जायगा और उसका क्लेश कम होता जायगा।

देहाभिमान सर्वथा दूर न होनेपर भी निर्गुण उपासकका विचार तो असीम परमात्मतत्त्वसे एक होनेका रहता है, पर इसके लिये वह उस तत्त्वमें अपने मन-बुद्धिको लगानेकी चेष्टा करता है। परंतु मन-बुद्धि सीमित एवं परमात्मतत्त्व असीम होनेके कारण उसे अपने साधनमें कठिनाई प्रतीत होती है। यद्यपि सगुण-उपासकोंमें भी उसी मात्रामें देहाभिमान रहता है, तथापि उनके मन-बुद्धिके लिये भगवान्‌का सगुण-साकाररूप ध्यानका विषय होने तथा भगवान्‌पर ही विश्वासपूर्वक निर्भर रहनेसे उन्हें अपने साधनमें वैसा क्लेश प्रतीत नहीं होता। उनकी मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ भगवान्‌की लीला, गुण, प्रभाव आदिके चिन्तन और जप-ध्यान आदिमें तल्लीन होनेके कारण उन्हें सुखका अनुभव होता है। इसी दृष्टिसे यहाँ यह कहा

गया है कि साधनमें निर्गुण-उपासकोंको अपेक्षाकृत अधिक क्लेश होता है। यहाँ मुख्य बात यही है कि देहाभिमान सगुण-उपासनामें उतना बाधक नहीं है, जितना निर्गुण-उपासनामें है।

अन्वय—

अव्यक्तासक्तचेतसाम्, तेषाम्, क्लेशः, अधिकतरः (भवति), हि, देहवद्भिः, अव्यक्ता, गतिः, दुःखम्, अवाप्यते ॥ ५ ॥

पद-व्याख्या

अव्यक्तासक्तचेतसाम् तेषाम्—निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले साधकोंके (साधनमें)।

अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले—इस विशेषणसे यहाँ उन साधकोंकी ओर संकेत किया गया है, जो निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ तो मानते हैं, परंतु जिनका चित्त निर्गुण-तत्त्वमें आविष्ट नहीं हुआ। तत्त्वमें आविष्ट होनेके लिये साधकमें तीन बातोंकी आवश्यकता होती है—१. रुचि, २. विश्वास और ३. योग्यता। शास्त्रों और गुरुजनोंके द्वारा निर्गुण-तत्त्वकी महिमा सुननेसे जिनकी (निराकारमें आसक्त चित्तवाले होने और निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ माननेके कारण) उसमें कुछ रुचि तो उत्पन्न हो जाती है और वे विश्वासपूर्वक साधन आरम्भ भी कर देते हैं, परंतु योग्यताकी कमी और देहाभिमानके कारण जिनका चित्त तत्त्वमें प्रविष्ट नहीं हो पाता—ऐसे साधकोंके लिये यहाँ 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पदका प्रयोग हुआ है।

भगवान्‌ने छठे अध्यायके सत्ताईसवें और अट्ठाईसवें श्लोकोंमें बतलाया है कि 'ब्रह्मभूत' अर्थात् ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित साधकको सुखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। परन्तु यहाँ इस श्लोकमें 'क्लेशः अधिकतरः' पदोंसे यह स्पष्ट कर दिया है कि इन साधकोंका चित्त ब्रह्मभूत साधकोंकी तरह निर्गुण-तत्त्वमें सर्वथा तल्लीन नहीं हो पाया है। अतः उन्हें अव्यक्तमें 'आविष्ट' चित्तवाला न कहकर 'आसक्त' चित्तवाला कहा गया है। तात्पर्य यह है कि इन साधकोंकी आसक्ति तो देहमें होती है, पर अव्यक्तकी महिमा सुनकर वे निर्गुणोपासनाको ही श्रेष्ठ मानकर उसमें आसक्त हो जाते हैं; जब कि आसक्ति देहमें ही हुआ करती है, अव्यक्तमें नहीं।

तेरहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'अव्यक्तम्' पद प्रकृतिके अर्थमें आया है तथा अन्य कई स्थलोंपर भी यह प्रकृतिके लिये ही प्रयुक्त हुआ है। परन्तु यहाँ 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पदमें 'अव्यक्त' का अर्थ प्रकृति नहीं, अपितु निर्गुण ब्रह्म है। कारण यह है कि इसी अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनने 'त्वाम् पर्युपासते, अक्षरम् अव्यक्तम् च (पर्युपासते) तेषाम् योगवित्तमाः के' (आपके सगुणरूप परमेश्वरकी और निर्गुण ब्रह्मकी जो उपासना करते हैं, उनमें श्रेष्ठ कौन है?) कहकर 'त्वाम्' पदसे सगुण-साकार स्वरूपके और 'अव्यक्तम्' पदसे निर्गुण-निराकार स्वरूपके विषयमें ही प्रश्न किया है। उपासनाका विषय भी परमात्मा ही है, न कि प्रकृति; क्योंकि प्रकृति और प्रकृतिका कार्य तो त्याज्य है। इसलिये उसी प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने 'अव्यक्त' पदका (व्यक्तरूपके विपरीत) निराकार-

रूपके अर्थमें ही प्रयोग किया है। अतः यहाँ प्रकृतिका प्रसङ्ग न होनेके कारण '**अव्यक्त**' पदका अर्थ प्रकृति नहीं लिया जा सकता।

नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें '**अव्यक्तमूर्तिना**' पद सगुण-निराकार स्वरूपके लिये आया है। ऐसी दशामें यह प्रश्न हो सकता है कि यहाँ भी '**अव्यक्तासक्तचेतसाम्**' पदका अर्थ सगुण-निराकारमें आसक्त चित्तवाले 'पुरुष' ही क्यों न ले लिया जाय? परंतु ऐसा अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता। क्योंकि इसी अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नमें '**त्वाम्**' पद सगुण-साकारके लिये और '**अव्यक्तम्**' पदके साथ '**अक्षरम्**' पद निर्गुण-निराकारके लिये आया है। ब्रह्म क्या है?—अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान् बतला चुके हैं कि '**परम अक्षर ब्रह्म है**' अर्थात् वहाँ भी '**अक्षरम्**' पद निर्गुण-निराकारके लिये ही आया है। इसलिये अर्जुनने '**अव्यक्तम् अक्षरम्**' पदोंसे जिस निर्गुण ब्रह्मके विषयमें प्रश्न किया था, उसीके उत्तरमें यहाँ ('**अक्षर**' विशेषण होनेसे) '**अव्यक्त**' पदसे निर्गुण ब्रह्मका अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये, सगुण-निराकारका नहीं।

क्लेशः अधिकतरः (भवति)—क्लेश अर्थात् परिश्रम अधिक होता है।

इन पदोंका मुख्य भाव यह है कि जिन साधकोंका चित्त निर्गुण-तत्त्वमें तल्लीन नहीं होगा, ऐसे निर्गुण-उपासकोंको देहाभिमानके कारण अपनी साधनामें अपने समकक्ष सगुण-उपासकोंकी अपेक्षा

विशेष कष्ट अर्थात् कठिनाई होती है* । गौणरूपसे इस पदका भाव यह है कि साधनाकी प्रारम्भिक अवस्थासे लेकर अन्तिम अवस्थातकके सभी निर्गुण उपासकोंको सगुण-उपासकोंकी अपेक्षा अधिक कठिनाई होती है ।

अब सगुण-उपासनाकी सुगमताओं और निर्गुण-उपासनाकी कठिनाइयोंका विवेचन किया जाता है—

सगुण उपासनाकी सुगमताएँ	**निर्गुण-उपासनाकी कठिनाइयाँ**
१—सगुण-उपानामें उपास्य तत्त्वके सगुण-साकार होनेके कारण साधककी मन इन्द्रियोंके लिये भगवान्‌के स्वरूप, नाम, लीला,	१—निर्गुण-उपासनामें उपास्य-तत्त्वके निर्गुण निराकार होनेके कारण साधककी मन-इन्द्रियोंके लिये कोई आधार नहीं रहता ।

* साधक मुख्यतः दो प्रकारके होते हैं—

एक तो वे साधक हैं, जो सत्सङ्ग, श्रवण और शास्त्राध्ययनके फलस्वरूप साधनमें प्रवृत्त होते हैं । इन्हें अपने साधनमें अधिक क्लेश होता है ।

दूसरे वे साधक हैं, जिनकी साधनमें स्वाभाविक रुचि तथा संसारसे स्वाभाविक वैराग्य होता है । इन्हें अपने साधनमें कम क्लेश होता है ।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि साधक दो ही प्रकारके क्यों होते हैं ? इसका समाधान यह है कि गीतामें योगभ्रष्ट पुरुषकी गतिके वर्णनमें भगवान्‌ने दो ही गतियोंका वर्णन किया है—

(१) कुछ योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यलोकोंमें जाते हैं और वहाँ भोग भोगकर लौटनेपर शुद्ध आचरणवाले श्रीमानोंके घरमें जन्म लेते हैं और पुनः साधनरत होकर परमात्माको प्राप्त होते हैं (गीता ६ । ४१, ४४) ।

(२) कुछ योगभ्रष्ट पुरुष सीधे ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेते हैं और फिर साधन करके परमात्माको प्राप्त होते हैं । ऐसे कुलमें जन्म होना 'दुर्लभतर' बतलाया गया है (गीता ६ । ४२, ४३, ४५) ।

कथा आदिका आधार रहता है। भगवान्‌के परायण होनेसे उसकी मन-इन्द्रियाँ भगवान्‌के स्वरूप एवं लीलाओंके चिन्तन, कथा-श्रवण, भगवत्सेवा और पूजनमें अपेक्षाकृत सरलतासे लग जाती हैं (गीता ८। १४)। इसलिये उसके द्वारा सांसारिक विषय-चिन्तनकी सम्भावना कम रहती है।	आधार न होने तथा वैराग्यकी कमीके कारण इन्द्रियोंके द्वारा विषय-चिन्तनकी अधिक सम्भावना रहती है (गीता २। ६०, ६२, ६३)।
२—सांसारिक आसक्ति ही साधनमें क्लेश देती है। परंतु सगुणोपासक इसे दूर करनेके लिये भगवान्‌के ही आश्रित रहता है। वह अपनेमें भगवान्‌का ही बल मानता है। बिल्लीका बच्चा जैसे माँपर निर्भर रहता है, उसी प्रकार यह साधक भी भगवान्‌पर निर्भर रहता है। भगवान् ही उसकी सँभाल करते हैं (गीता ९। २२)। सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥	२—देहमें जितनी अधिक आसक्ति होती है, साधनमें उतना ही अधिक क्लेश प्रतीत होता है। निर्गुणोपासक उसे विवेकके द्वारा हटानेकी चेष्टा करता है। विवेकका आश्रय लेकर साधन करते हुए वह अपने ही साधन-बलको महत्त्व देता है। बंदरियाका छोटा बच्चा जैसे (अपने बलपर निर्भर होनेसे) अपनी माँको पकड़े रहता है और अपनी पकड़से ही अपनी रक्षा मानता है, उसी प्रकार यह साधक अपने साधनके बलपर ही अपना

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी । जिमि बालक राखइ महतारी ॥ (मानस ३ । ४२ । ४५) अतः उसकी सांसारिक आसक्ति सुगमतासे मिट जाती है ।	उत्कर्ष मानता है (गीता १८ । ५१—५३)। इसीलिये श्रीरामचरितमानसमें भगवान्‌ने इसे अपने समझदार पुत्रकी उपमा दी है— मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी । बालक सुत सम दास अमानी ॥ (३ । ४२ । ४)
३—ऐसे उपासकोंके लिये गीतामें भगवान्‌ने 'नचिरात्' आदि पदोंसे शीघ्र ही अपनी प्राप्ति बतलायी है (गीता १२ । ७)।	३—ज्ञानयोगियोंके द्वारा लक्ष्य-प्राप्तिके प्रसङ्गमें चौथे अध्यायके उनचालीसवें श्लोकमें 'अचिरेण' पद (ज्ञानके अनन्तर) शान्तिकी प्राप्तिके लिये आया है, न कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये ।
४—सगुण-उपासकोंके अज्ञान-रूप अन्धकारको भगवान् ही मिटा देते हैं (गीता १० । ११)।	४—निर्गुण-उपासक तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति स्वयं करते हैं (गीता १२ । ४)।
५—उनका उद्धार भगवान् करते हैं (गीता १२ । ७)।	५—वे अपना उद्धार (निर्गुण-तत्त्वकी प्राप्ति) स्वयं करते हैं (गीता १२ । ४; १४ । १९)।
६—ऐसे उपासकोंमें यदि कोई सूक्ष्म दोष रह जाता है, तो (भगवान्‌पर निर्भर होनेसे) सर्वज्ञ भगवान् कृपा करके उसे	६—ऐसे उपासकोंमें यदि कोई कमी रह जाती है, तो उस कमी-का अनुभव उन्हें विलम्बसे होता है और कमीको ठीक-ठीक

दूर कर देते हैं (गीता १८ । ५८, ६६) ।

पहचाननेमें भी कठिनाई होती है । हाँ, कमीको ठीक-ठीक पहचान लेनेपर ये भी उसे दूर कर सकते हैं ।

७—ऐसे उपासकोंकी उपासना भगवान्‌की ही उपासना है । भगवान् सदा-सर्वदा पूर्ण हैं ही । अतः भगवान्‌की पूर्णतामें किञ्चित् भी सन्देह न रहनेके कारण उनमें सुगमतासे श्रद्धा हो जाती है (गीता ११ । ४२) । श्रद्धा होनेसे वे नित्य-निरन्तर भगवत्परायण हो जाते हैं, जिससे भगवान् ही उन उपासकोंको बुद्धियोग प्रदान करते हैं, जिससे उन्हें भगवत्प्राप्ति हो जाती है (गीता १० । १०) ।

७—चौथे अध्यायके चौंतीसवें और तेरहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने ज्ञानयोगियोंको ज्ञान-प्राप्तिके लिये गुरुकी उपासना-की आज्ञा दी है; अतएव निर्गुण-उपासनामें गुरुकी आवश्यकता भी है; किंतु गुरुकी पूर्णताका निश्चित पता न होनेपर अथवा गुरुके पूर्ण न होनेपर स्थिर श्रद्धा होनेमें कठिनाई होती है तथा साधनकी सफलतामें भी विलम्बकी सम्भावना रहती है ।

८—ऐसे उपासक भगवान्‌को [illegible] कृपालु मानते हैं । अतः उनकी कृपाके आश्रयसे वे सब कठिनाइयोंको पार कर जाते हैं । यही कारण है कि उनका साधन सुगम हो जाता है और भगवत्कृपाके

८—ऐसे उपासक उपास्य-तत्त्वको निर्गुण, निराकार और उदासीन मानते हैं । अतः उन्हें भगवान्‌की कृपाका वैसा अनुभव नहीं हो पाता । वे तत्त्व-प्राप्तिमें आनेवाले विघ्नोंको अपनी साधनाके बलपर

बलसे वे शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति कर लेते हैं (गीता १८।५६-५८)।

ही दूर करनेमें कठिनाईका अनुभव करते हैं और फलस्वरूप तत्त्वकी प्राप्तिमें भी उन्हें विलम्ब हो सकता है।

९—मनुष्यमें कर्म करनेका अभ्यास तो रहता ही है, इसलिये भक्तको अपने कर्म भगवान्‌के प्रति करनेमें केवल भाव ही बदलना होता है; कर्म तो वे ही रहते हैं। अतः भगवान्‌के लिये कर्म करनेसे भक्त कर्मबन्धनसे सुगमतापूर्वक मुक्त हो जाता है (गीता १८।४६)।

९—ज्ञानयोगी अपनी क्रियाओं-को सिद्धान्ततः प्रकृतिके अर्पण करता है; किंतु पूर्ण विवेक जाग्रत् होनेसे ही उसकी क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पण हो सकती हैं। यदि विवेककी किञ्चित् भी कमी रही तो क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पण नहीं होंगी और साधक कर्तृत्वा-भिमान रहनेसे कर्म-बन्धनमें बँध जायगा।

१०—हृदयमें पदार्थोंका आदर रहते हुए भी यदि वे प्राणियोंकी सेवामें लग जाते हैं तो उन्हें त्यागनेमें कठिनाई नहीं होती। सत्पात्रोंके लिये पदार्थोंके त्यागमें और भी सुगमता है। फिर भगवान्‌के लिये तो पदार्थोंका त्याग बहुत ही सुगमतासे हो सकता है।

१०—जबतक साधकके चित्तमें पदार्थोंका किञ्चित् भी आदर तथा अपने कहलानेवाले शरीर और नाममें अहंता-ममता है, तबतक उसके लिये पदार्थोंको मायामय समझकर उन्हें त्यागना कठिन होगा।

११—भलीभाँति रुचि न होनेसे साधनमें क्लेश प्रतीत होता है। परंतु सगुणोपासकको भगवान्‌पर ज्यों-ज्यों विश्वास हो जाता है, त्यों-ही-त्यों साधनमें क्लेश (उत्तरोत्तर) कम होता जाता है।	११—पूरी योग्यता न होनेसे ही साधनमें क्लेश होता है। ब्रह्मभूत होनेपर क्लेश नहीं होता (छठे अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें ब्रह्मभूत साधकको सुखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है)।
१२— इस साधनमें विवेक और वैराग्यकी उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी प्रेम और विश्वासकी है। उदाहरणार्थ कौरवोंके प्रति द्वेष-वृत्ति रहते हुए भी द्रौपदीके पुकारनेमात्रसे भगवान् प्रकट हो जाते थे;* क्योंकि वह भगवान्‌को अपना मानती थी। भगवान् तो अपने साथ भक्तके प्रेम और विश्वासको ही देखते हैं, उसके दोषोंको नहीं। भगवान्‌के साथ अपनापनका सम्बन्ध जोड़ना उतना कठिन नहीं (क्योंकि भगवान्‌की ओरसे अपनापन स्वतः-सिद्ध है), जितना कि पात्र बनना कठिन है।	१२—यह साधक पात्र बननेपर ही तत्त्वको प्राप्त कर सकेगा। पात्र बननेके लिये विवेक और तीव्र वैराग्यकी आवश्यकता होगी, जिन्हें आसक्ति रहते हुए प्राप्त करना कठिन है।

* यह बात उन भक्तोंके लिये है, जिनके स्मरणमात्रसे भगवान् प्रकट हो जाते हैं; सर्वसाधारणके लिये नहीं है। जो भक्त सर्वथा भगवान्‌पर

हि—क्योंकि ।

देहवद्भिः—देहाभिमानियोंद्वारा ।*

'देही', 'देहभृत' आदि पदोंका अर्थ साधारणतया 'देहधारी पुरुष' किया गया है । प्रसङ्गानुसार इनका अर्थ 'जीव' और 'आत्मा' भी लिया जाता है । यहाँ इस पदका अर्थ 'देहाभिमानी पुरुष' लेना चाहिये, क्योंकि निर्गुण-उपासकोंके लिये इसी श्लोकके पूर्वार्द्धमें **'अव्यक्तासक्तचेतसाम्'** पद आया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि वे निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ तो मानते हैं, परंतु उनका चित्त देहाभिमानके कारण निर्गुण-तत्त्वमें आविष्ट नहीं हुआ है । देहाभिमानके कारण ही उन्हें साधनमें अधिक क्लेश होता है ।

निर्गुण-उपासनामें देहाभिमान ही मुख्य बाधा है— **'देहाभिमानिनः सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति ।'** इस बाधाकी ओर ध्यान दिलानेके लिये ही भगवान्‌ने **'देहवद्भिः'** पद दिया है । इस

निर्भय हो जाता है एवं जिसकी भगवान्‌के साथ इतनी प्रगाढ आत्मीयता होती है कि केवल स्मरणसे भगवान् प्रकट हो जाते हैं, उसके दोष दूर करनेका दायित्व भगवान्‌पर आ जाता है ।

* यहाँ 'देह' शब्दसे 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥'—इस कारिकाके अनुसार संसर्ग अर्थमें 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५ । २ । ९४) इस पाणिनीय सूत्रसे 'मतुप्' प्रत्यय किया गया है । 'देहवद्भिः' पदका अर्थ है वे पुरुष, जिनका देहके साथ दृढ़तापूर्वक सम्बन्ध माना हुआ है ।

छठे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'ब्रह्मभूत' होनेपर सुखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है, जब कि यहाँ 'देहभृत' होनेके कारण दुःखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है ।

देहाभिमानको दूर करनेके लिये ही (अर्जुनके पूछे बिना ही) भगवान्‌ने तेरहवाँ एवं चौदहवाँ अध्याय कहा है। उनमें भी तेरहवें अध्यायका प्रथम श्लोक देहाभिमान मिटानेके लिये ही कहा गया है।*

अव्यक्ता गतिः—अव्यक्तविषयक गति।

दुःखम् अवाप्यते—दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।

ब्रह्मके निर्गुण-निराकार स्वरूपकी प्राप्तिको यहाँ 'अव्यक्ता गतिः' कहा गया है। साधारण पुरुषोंकी स्थिति व्यक्त अर्थात् देहमें होती है। इसलिये उन्हें अव्यक्तमें स्थित होनेमें कठिनाईका अनुभव होता है। यदि साधक अपनेको देहवाला न माने, तो उसकी अव्यक्तमें सुगमता एवं शीघ्रतापूर्वक स्थिति हो सकती है॥ ५॥

श्लोक—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥

---

* दूसरे अध्यायके बाईसवें श्लोकमें 'देही' पद जीवात्माके लिये और तीसवें श्लोकमें 'देही' पद आत्माके लिये प्रयुक्त हुआ है। पाँचवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें 'देही' पद सांख्ययोगके ऊँचे साधकका बोधक है और चौदहवें अध्याके बीसवें श्लोकमें 'देही' पद सिद्ध पुरुषोंके लिये आया है; क्योंकि लोकदृष्टिमें वह शरीरधारी ही दीखता है।

दूसरे अध्यायके तेरहवें और उनसठवें श्लोकमें 'देहिनः' पद, तीसरे अध्यायके चालीसवें और चौदहवें अध्यायके पाँचवें तथा सातवें श्लोकमें 'देहिनम्' पद, आठवें अध्यायके चौथे श्लोकमें 'देहभृताम्' पद, चौदहवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'देहभृत्' पद, सत्रहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'देहिनाम्' पद, चौदहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें 'सर्वदेहिनाम्' पद और अठारहवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें 'देहभृता' पद सामान्य देहाभिमानी पुरुषोंके लिये ही प्रयुक्त हुए हैं।

भावार्थ—

अर्जुनने इसी अध्यायके प्रथम श्लोकमें (ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकको लक्ष्य करके) 'एवं सततयुक्ता ये' पदोसे जिनके विषयमें प्रश्न किया था, उन अपने अनन्यप्रेमी सगुण-उपासकोंके विषयमें भगवान् यहाँ (निर्गुण उपासकोंसे भिन्न) तीन बातें बतलाते हैं—

(१) केवल मुझसे ही सम्बन्ध रखनेसे सगुणोपासक मेरे लिये ही सब कर्म करते हैं।

(२) मुझे ही परमश्रेष्ठ और परम प्रापणीय मानकर वे मेरे ही परायण रहते हैं।

(३) मेरे अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तुमें आसक्ति न रहनेके कारण वे अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर मेरा ही ध्यान-चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं।

ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें भगवान्‌ने अनन्य भक्तके लक्षणोंमें तीन विध्यात्मक ('मत्कर्मकृत्', 'मत्परमः' और 'मद्भक्तः') और दो निषेधात्मक ('सङ्गवर्जितः' और 'निर्वैरः') पद दिये हैं। उन्हीं पदोंका अनुवाद इस श्लोकमें इस प्रकार हुआ है—

(१) 'सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य' पदोंसे 'मत्कर्मकृत' की ओर लक्ष्य है।

(२) 'मत्पराः' पदसे 'मत्परमः' का संकेत है।

(३) 'अनन्येनैव योगेन' पदोंमें 'मद्भक्तः' का लक्ष्य है।

(४) 'अनन्येनैव योगेन' का तात्पर्य यह है कि भगवान्‌में ही अनन्यतापूर्वक लगे रहनेके कारण उनकी अन्यत्र कहीं आसक्ति नहीं होती; अतः वे 'सङ्गवर्जितः' हैं।

(५) अन्यमें आसक्ति न रहनेके कारण उनके मनमें किसीके प्रति भी वैर, द्वेष, क्रोध आदिका भाव नहीं रह पाता, इसलिये 'निर्वैरः' पदका भाव भी इसीके अन्तर्गत आ जाता है। परंतु भगवान्‌ने इसे महत्त्व देनेके लिये आगे तेरहवें श्लोकमें सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें सबसे पहले 'अद्वेष्टा' पदका प्रयोग किया है (अतः साधकको किसीमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेष नहीं रखना चाहिये)।

अन्वय—

तु, ये, सर्वाणि, कर्माणि, मयि, संन्यस्य, मत्पराः, अनन्येन, योगेन, माम्, एव, ध्यायन्तः, उपासते ॥ ६ ॥

पद-व्याख्या —

तु—इनसे भिन्न।

अब यहाँसे निर्गुणोपासनाकी अपेक्षा सगुणोपासनाकी सुगमता बतलानेके लिये प्रकरण-भेद करते हैं।

ये—जो।

'ये' पद यहाँ सगुण-उपासकोंके लिये आया है।

सर्वाणि कर्माणि—सम्पूर्ण कर्मोंको।

यद्यपि 'कर्माणि' पद स्वयं ही बहुवचनान्त होनेसे सम्पूर्ण कर्मोंका बोध कराता है, तथापि इसके साथ सर्वाणि विशेषण देकर मन, वाणी, शरीरसे होनेवाले सभी लौकिक (शरीर-निर्वाह और आजीविका-सम्बन्धी) एवं पारलौकिक (जप-ध्यानसम्बन्धी) शास्त्रविहित कर्मोंका समावेश किया गया है।*

---

* यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९ । २७)

मयि संन्यस्य—मुझमें अर्पण करके।

इस पदसे भगवान्‌का आशय क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग करनेका नहीं है; क्योंकि एक तो स्वरूपसे कर्मोंका त्याग सम्भव नहीं (गीता ३ । ५; १८ । ११)। दूसरे, यदि सगुणोपासक मोहपूर्वक शास्त्रविहित क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग करता है, तो उसका यह त्याग 'तामस' होगा (गीता १८ । ७), और यदि दुःखरूप समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे वह उनका त्याग करता है, तो वह त्याग 'राजस' होगा (गीता १८ । ८)। अतः इस रीतिसे त्याग करनेपर कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं छूटेगा। कर्म-बन्धनसे मुक्त होनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करे, क्योंकि ममता, आसक्ति और फलेच्छासे किये गये कर्म ही बाँधनेवाले होते हैं, कर्म स्वरूपतः कभी मनुष्यको नहीं बाँधते।

यदि साधकका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति होता है, तो वह पदार्थोंकी इच्छा नहीं करता, और अपने-आपको भगवान्‌का समझनेके कारण उसकी ममता शरीरादिसे हटकर एक भगवान्‌में ही हो जाती है। स्वयं भगवान्‌के अर्पित होनेसे उसके सम्पूर्ण कर्म भी भगवदर्पित हो जाते हैं। 'सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः' पदोंका संकेत इसी अर्पणकी ओर है।*

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।'

* तीसरे अध्यायके तीसवें श्लोकमें 'अध्यात्मचेतसा मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य' पदोंसे, पाँचवें अध्यायके दसवें श्लोकमें 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' पदोंसे, नवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' पदसे,

भगवान्‌के लिये कर्म करनेके विषयमें कई प्रकार हैं, जिन्हें गीतामें 'मदर्पण कर्म', मदर्थ कर्म' और 'मत्कर्म' नामसे कहा गया है।

१–'मदर्पण कर्म' उन कर्मोंको कहते हैं, जिनका उद्देश्य पहले कुछ और हो, किंतु कर्म करते समय अथवा कर्म करनेके बाद उन्हें भगवान्‌के अर्पण कर दिया जाय।

२–'मदर्थ कर्म' वे कर्म हैं, जो प्रारम्भसे ही भगवान्‌के लिये किये जायँ अथवा जो भगवत्सेवारूप हों। भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करना, भगवान्‌की आज्ञा मानकर कर्म करना और भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये कर्म करना—ये सभी भगवदर्थ कर्म हैं।

३–भगवान्‌का ही होकर भगवान्‌के लिये सम्पूर्ण लौकिक (व्यापार, नौकरी आदि) और भगवत्सम्बन्धी (जप, ध्यान आदि) कर्मोंको करना 'मत्कर्म' है।

वास्तवमें कर्म कैसे भी किये जायँ, उनका उद्देश्य एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही होना चाहिये।

जैसे भक्तियोगी अपनी क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करके कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है, वैसे ही ज्ञानयोगी क्रियाओंको प्रकृतिसे

ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें 'मत्कर्मकृत्' पदसे, इसी अध्यायके दसवें श्लोकमें 'मत्कर्मपरमो भव' एवं 'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्' पदोंसे, अठारहवें अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें 'चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य' पदोंसे और छाछठवें श्लोकमें 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' पदोंसे कहीं भी भगवान्‌ने स्वरूपसे कर्मोंके त्यागकी बात न कहकर उनके आश्रयके त्यागकी बात ही कही है।

हुई समझकर अपनेको उनसे सर्वथा असङ्ग और निर्लिप्त अनुभव करके कर्मबन्धनसे मुक्त होता है ।

उपर्युक्त तीनो ही प्रकारो (मदर्पण-कर्म, मदर्थ-कर्म, मत्कर्म)-से सिद्धि प्राप्त करनेवाले साधकका कर्मोंसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि उसमें न तो फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान है और न पदार्थोंमें और शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंमें ममता ही है । जब कर्म करनेके साधन शरीर, मन, बुद्धि आदि ही अपने नहीं हैं, तो फिर कर्मोंमें ममता हो ही कैसे सकती है ! इस प्रकार कर्मोंसे सर्वथा मुक्त हो जाना ही वास्तविक समर्पण है । सिद्ध पुरुषोंकी क्रियाओंका स्वत ही समर्पण होता है और साधक पूर्ण समर्पणका उद्देश्य रखकर वैसे ही कर्म करनेकी चेष्टा करता है ।

मत्पराः—मेरे परायण हुए ।

परायण होनेका अर्थ है—भगवान्‌को परमपूज्य और सर्वश्रेष्ठ समझकर भगवान्‌के प्रति समर्पण-भावसे रहना । सर्वथा भगवान्‌के परायण होनेसे सगुण-उपासक अपने-आपको भगवान्‌का यन्त्र समझता है । अत. शुभ क्रियाओंको वह भगवान्‌के द्वारा करवायी हुई मानता है एव ससारका उद्देश्य न रहनेके कारण उसमें भोगोंकी कामना नहीं रहती और कामना न रहनेके कारण उससे अशुभ क्रियाएँ होती ही नहीं ।*

* दूसरे अध्यायके इकसठवें श्लोकमें, छठे अध्यायके चौदहवें श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें 'मत्परः' पदसे, नवें अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें 'मत्परायण' पदसे तथा ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें 'मत्परम.' पदसे और इसी (बारहवें) अध्यायके बीसवें श्लोकमें 'मत्परमाः' पदसे भगवत्परायणताका ही निर्देश किया गया है ।

अनन्येन योगेन—अनन्ययोगसे अर्थात् अनन्यभक्तिसे।

इन पदोंमें इष्ट-सम्बन्धी और उपाय-सम्बन्धी—दोनों प्रकारकी अनन्यताका संकेत है अर्थात् उस साधकके इष्ट भगवान् ही हैं; उनके सिवा अन्य कोई भजनेयोग्य उनकी दृष्टिमें है ही नहीं और उनकी प्राप्तिके लिये आश्रय भी उन्हींका है। वह भगवत्कृपासे ही साधनकी सिद्धि मानता है, अपने पुरुषार्थ या साधनके बलसे नहीं। वह उपाय भी भगवान्‌को मानता है और उपेय भी।*

माम्—मुझ सगुणरूप परमेश्वरको।

एव—ही।

ध्यायन्तः—(अनन्यप्रेम होनेके कारण) निरन्तर चिन्तन करते हुए।

उपासते—उपासना करते हैं।

वे भक्त एक परमात्माको ही लक्ष्य ध्येय रखकर जप-कीर्तन आदि करते हैं॥ ६॥

श्लोक—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

---

* आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'अनन्यचेताः' पदसे और बाईसवें श्लोकमें 'अनन्यया' पदसे, नवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें 'अनन्यमनसः' पदसे और तीसवें श्लोकमें 'अनन्यभाक्' पदसे, तेरहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें 'अनन्ययोगेन' पदसे, चौदहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें 'अव्यभिचारेण भक्तियोगेन' पदोंसे तथा पंद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें 'भजति मां सर्वभावेन' पदोंसे अनन्यभक्तिकी ही अभिव्यक्ति हुई है।

भावार्थ—

पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने अपने अनन्यप्रेमी भक्तोंके जो लक्षण बतलाये हैं, उन सबका समाहार प्रस्तुत श्लोकमें **'मय्यावेशितचेतसाम्'** (मुझमें चित्त लगानेवाले) पदमें किया गया है। ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें भगवान्‌ने अनन्यभक्तिके फलका वर्णन **'मामेति'** (मुझे प्राप्त होता है) पदसे किया था। यहाँ भगवान् एक विशेष बात कहते हैं कि मैं अपने प्रेमी भक्तोंको विघ्न-बाधाओंसे बचाते हुए उनका मृत्युरूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ।

अन्वय—

पार्थ, मयि, आवेशितचेतसाम्, तेषाम्, अहम्, मृत्युसंसारसागरात्, नचिरात्, समुद्धर्ता, भवामि ॥ ७ ॥

पद-व्याख्या—

पार्थ—हे अर्जुन!

पृथा (कुन्ती) का पुत्र होनेसे अर्जुनका एक नाम 'पार्थ' भी है। 'पार्थ' सम्बोधन भगवान्‌का अर्जुनके साथ प्रियता और घनिष्ठताका द्योतक है। गीतामें भगवान्‌ने अड़तीस बार 'पार्थ' सम्बोधनका प्रयोग किया है। अर्जुनके अन्य सभी सम्बोधनोंकी अपेक्षा 'पार्थ' सम्बोधनका प्रयोग अधिक हुआ है। इसके बाद सबसे अधिक प्रयोग **'कौन्तेय'** सम्बोधनका हुआ है, जिसकी आवृत्ति कुल चौबीस बार हुई है।

भगवान्‌को अर्जुनसे जब कोई विशेष बात कहनी होती है या कोई आश्वासन देना होता है या उनके प्रति भगवान्‌का विशेषरूपसे प्रेम उमड़ता है, तब भगवान् उन्हें 'पार्थ' कहकर पुकारते हैं। इस

सम्बोधनके प्रयोगसे मानो वे स्मरण कराते हैं कि तुम मेरी बुआ (पृथा—कुन्ती)के लड़के तो हो ही, साथ-ही-साथ मेरे प्यारे भक्त और सखा भी हो (गीता ४ । ३) अतः मैं तुम्हें विशेष गोपनीय बातें बतलाता हूँ और जो कुछ भी कहता हूँ, सत्य तथा केवल तुम्हारे हितके लिये कहता हूँ ।

प्रस्तुत श्लोकमें 'पार्थ' सम्बोधनसे भगवान् विशेषरूपसे यह लक्ष्य कराते हैं कि अपने प्रेमी भक्तोंका मैं स्वयं तत्काल उद्धार कर देता हूँ । यही नहीं, भगवान् अपने भक्तोंका उद्धार करनेमें बहुत प्रसन्न होते हैं ।

गीतामें विभिन्न स्थलोंपर आये 'पार्थ' सम्बोधन एवं उसकी विशेषताएँ

अध्याय-श्लोक	'पार्थ' सम्बोधनकी विशेषता
१—२५	अर्जुनके अन्तःकरणमें अपने आत्मीय जनोंके प्रति जो मोह विद्यमान था, उसे जाग्रत् करनेके लिये भगवान्‌द्वारा अर्जुनको सर्वप्रथम 'पार्थ' नामसे सम्बोधित करना (कौटुम्बिक सम्बन्धमात्र स्त्री जातिसे ही होता है) ।
२—३	पृथा (कुन्ती) के सन्देशकी स्मृति दिलाकर अर्जुनके अन्तःकरणमें क्षत्रियोचित वीरताका भाव जाग्रत् करनेके लिये ।*

* कुन्तीका सन्देश था—

एतद् धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः ॥
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ।

(महा० उद्योगप० १३७ । ९-१०)

२–२१	आत्माके नित्य और अविनाशी स्वरूपकी ओर विशेष-रूपसे लक्ष्य करानेके लिये ।
२–३२	कर्तव्यकी स्मृति दिलानेके लिये ।
२–३९	कर्मयोगके साधनकी ओर लक्ष्य करानेके लिये (भगवान् अर्जुनको कर्मयोगका अधिकारी मानते हैं । इसीलिये उन्होंने पहले कर्मयोगका उपदेश दिया) ।
२–४२	कर्मयोगमें मुख्य बाधा सकामभावकी है । इसे हटानेके उद्देश्यसे इसकी हानियोंकी ओर अर्जुनका ध्यान आकृष्ट कराकर कर्मयोगकी पुष्टि करनेके लिये ।
२–५५	कर्मयोगमें निष्कामभावसे बुद्धि स्थिर हो जाती है— इस ओर लक्ष्य करानेके लिये ।
२–७२	निष्कामभावसे युक्त साधककी ब्रह्ममें ही स्थिति (सांख्ययोगका अनुष्ठान किये बिना) होती है, यह बतलानेके लिये ।
३–१६	अपने कर्तव्यका पालन न करनेमें कितना दोष है, यह समझानेके लिये ।
३–२२	अपना उदाहरण देकर भगवान् अन्वय-मुखसे कर्तव्य-पालनकी आवश्यकताकी ओर ध्यान दिलाते हैं ।
३–२३	विहित-कर्मोंको सावधानीपूर्वक न करनेसे कितनी हानि होती है, इसे व्यतिरेक-मुखसे बतलानेके लिये ।

'तुम अर्जुनसे तथा युद्धके लिये सदा उद्यत रहनेवाले भीमसे यह कहना कि जिस कार्यके लिये क्षत्रिय माता पुत्र उत्पन्न करती है, अब उसका समय आ गया है ।'

४—११ अपने स्वभावका रहस्य बतलानेके लिये।

४—३३ तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर कुछ भी करना, पाना और जानना शेष नहीं रहता, इस महत्त्वपूर्ण स्थितिकी ओर ध्यान दिलानेके लिये।

६—४० अत्यधिक घबराये हुए अर्जुनको आश्वासन देते हुए एवं बड़े प्यारसे धैर्य बँधाते हुए भगवान् उन्हें 'पार्थ' और 'तात' कहकर पुकारते हैं ('तात' सम्बोधन गीतामें केवल इसी जगह आया है)।

७—१ समग्ररूपकी विशेषता बिना पूछे ही कृपापूर्वक बतलाते हुए।

७—१० मैं ही सब प्राणियोंका कारणरूप बीज हूँ, ऐसा अपना विशेष महत्त्व बतलानेके लिये।

अन्तकालीन गतिके विषयमें अर्जुनके प्रश्नपर आठवें अध्यायका प्रारम्भ हुआ। अर्जुन अपने प्रश्नका उत्तर ध्यानपूर्वक सुनें, इसलिये आठवें अध्यायमें ही 'पार्थ' सम्बोधनका पाँच बार प्रयोग हुआ है।

८—८ अन्तकालीन गति भगवान्में ही हो—इस ओर लक्ष्य करानेके लिये।

८—१४ अनन्य प्रेमी भक्तोंको अपनी सुलभताकी ओर लक्ष्य करानेके लिये ('सुलभ' शब्द गीतामें एक ही बार यहाँ आया है)।

८—१९ जबतक भगवत्प्राप्ति नहीं होगी, तबतक जन्म-मरणरूप बन्धन रहेगा ही—इस बातकी ओर ध्यान दिलानेके लिये।

८—२२	जन्म-मरणरूप बन्धनसे छूटनेके लिये अनन्य भक्ति ही सरल उपाय है—यह समझानेके लिये।
८—२७	शुक्ल और कृष्ण-मार्गको जाननेसे निष्कामभावकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है—यह बतलानेके लिये।
९—१३	सामान्य मनुष्योंकी अपेक्षा साधककी विलक्षणता बतलानेके लिये।
९—३२	शरण होनेपर अनेक जन्मोंके पापीका भी उद्धार कर देता है—शरणागतिके इस महत्त्वकी ओर ध्यान आकृष्ट करानेके लिये।
१०—२४	मनुष्योंमें बुद्धिकी श्रेष्ठता बतलानेके लिये। बृहस्पतिजी देवताओंके गुरु और बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं। उन्हें अपनी विभूति बतलाकर बुद्धिकी श्रेष्ठताका निरूपण करते हैं।
११—५	किसी भी उपायसे जिस विश्वरूपके दर्शन नहीं हो सकते (११ । ४८), केवल कृपासे उसके दर्शन कराते हुए अर्जुनको 'पार्थ' नामसे सम्बोधित करते हैं।
१२—७	इसका भाव भावार्थमें दिया जा चुका है।
१६—४	आसुरी सम्पत्तिका संक्षेपसे वर्णन करते हुए उससे सावधान करनेके लिये।
१६—६	विस्तारसे आसुरी सम्पदाका स्वरूप बतलानेके लिये; क्योंकि साधकके लिये आसुरी सम्पदाका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

१७–२६ अर्जुनको सत् (परमात्मा) की ओर लक्ष्य करानेके लिये—सत्की ओर चलनेसे सभी कर्म सत्कर्म और सभी भाव सद्भाव हो जाते हैं, यह बतलानेके लिये।

१७–२८ श्रद्धासहित कर्म करना ही दैवी सम्पदा है, इस ओर लक्ष्य करानेके लिये।

गीताके अठारहवें अध्यायमें सभी पूर्ववर्ती अध्यायोंके समस्त उपदेशोंका सार होनेसे भगवान्ने आठ बार 'पार्थ' सम्बोधनका प्रयोग किया है।

१८–६ कर्मयोगके विषयमें अपना निश्चित किया हुआ उत्तम मत बतलानेके लिये।

१८–३० सात्त्विक बुद्धि धारण करानेके लिये (जितने काम होते हैं, बुद्धिके प्रकाशसे ही होते हैं। अतः साधकको चाहिये कि हर समय अपनी बुद्धिको सात्त्विक ही रखनेका प्रयास करे)।

१८–३१ राजसी बुद्धिका त्याग करानेके लिये।

१८–३२ तामसी बुद्धिका त्याग करानेके लिये।

१८–३३ सात्त्विक धृति धारण करानेके लिये (सात्त्विक धृति—विवेकमें दृढ़ रहना साधकके लिये विशेषरूपसे आवश्यक है। अतः साधकको चाहिये कि हर समय सात्त्विक धृति धारण करनेका प्रयास करे)।

१८–३४ राजसी धृतिका त्याग करानेके लिये।

१८–३५ तामसी धृतिका त्याग करानेके लिये। (प्रत्येक कार्यको करनेसे पहले उसे अच्छी प्रकारसे समझना, फिर उसे

धैर्यपूर्वक अर्थात् उकताये बिना करना—बुद्धि एव धृतिका क्रमश विवेचन करनेका यही तात्पर्य है। ज्ञानयोगके साधनमें सात्त्विक बुद्धि एव धृतिकी विशेष आवश्यकता है।)

१८–७२ उपदेशके अन्तिम श्लोकमें 'पार्थ' सम्बोधन देकर अर्जुनकी स्थिति जाननेके लिये सर्वज्ञ होते हुए भी भगवान् प्रश्न करते हैं कि तुमने मेरे उपदेशको ध्यानपूर्वक सुना कि नहीं? यदि मेरे उपदेशको ध्यानपूर्वक सुना है, तो तुम्हारा मोह अवश्य ही नष्ट हो जाना चाहिये।

मयि आवेशितचेतसाम् तेषाम्—मुझमें चित्त लगानेवाले उन प्रेमी भक्तोंका।

जिन साधकोंका लक्ष्य, उद्देश्य, ध्येय भगवान् ही बन गये हैं, और जिन्होंने भगवान्‌में ही अनन्य प्रेमपूर्वक अपने चित्तको लगा दिया है तथा जो स्वय भी भगवान्‌में ही लग गये हैं, उन्हींके लिये यह पद आया है।

अहम्—मैं।

मृत्युसंसारसागरात्—मृत्युरूप ससार-समुद्रसे।

जैसे समुद्रमें जल-ही-जल होता है, वैसे ही ससारमें मृत्यु-ही-मृत्यु है। ससारमें उत्पन्न होनेवाली कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो कभी क्षणभरके लिये भी मृत्युके थपेड़ोंसे बचती हो अर्थात् उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण मृत्युकी ओर ही जा रही है। इसलिये ससारको 'मृत्यु ससार सागर' कहा गया है।

मनुष्यमें स्वभावतः अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों वृत्तियाँ रहती हैं। संसारकी घटना, परिस्थिति तथा प्राणी-पदार्थोंमें अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियाँ राग-द्वेष उत्पन्न करके मनुष्यको संसारमें बाँध देती हैं।* यहाँतक देखा जाता है कि साधक भी सम्प्रदाय-विशेष और संत-विशेषमें अनुकूल-प्रतिकूल भावना करके राग-द्वेषके शिकार बन जाते हैं, जिससे वे संसार-समुद्रसे शीघ्र पार नहीं हो पाते। कारण कि तत्त्वको चाहनेवाले साधकके लिये साम्प्रदायिकताका पक्षपात बहुत बाधक है। सम्प्रदायका मोहपूर्वक आग्रह मनुष्यको बाँधता है। गीतामें भगवान्‌ने स्थान-स्थानपर इन द्वन्द्वों (राग और द्वेष) से मुक्त होनेके लिये विशेष जोर दिया है।†

यदि साधक भक्त अपनी सारी अनुकूलताएँ भगवान्‌में कर ले अर्थात् एकमात्र भगवान्‌से ही अनन्य प्रेमका सम्बन्ध जोड़ ले और सारी प्रतिकूलताएँ संसारमें कर ले अर्थात् संसारकी सेवा करके अनुकूलताकी इच्छासे विमुख हो जाय, तो वह इस संसार-बन्धनसे

---

* इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥
(गीता ७। २७)

'हे भरतवंशी अर्जुन! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञानताको प्राप्त हो रहे हैं।'

† उदाहरणार्थ—'निर्द्वन्द्वः' (२। ४५); 'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो' (५। ३); 'ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः' (७। २८); 'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः' (१५। ५); 'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते' (१८। १०); 'रागद्वेषौ व्युदस्य च' (१८। ५१)।

अतिशीघ्र सर्वथा मुक्त हो सकता है। संसारमें अनुकूल और प्रतिकूल वृत्तियोंका ही रखना संसारमें बँधना है।

जीव परमात्माका ही अंश है, परंतु उसने प्रकृति अर्थात् शरीरसे अपना सम्बन्ध मान रखा है। चेतन परमात्माके अंश एवं जड प्रकृतिके सम्बन्धसे ही जीवमें 'अहंभाव' अर्थात् 'मैंपन' होता है। जीवने भूलसे अपना सम्बन्ध शरीरके साथ अत्यन्त घनिष्ठतासे जोड लिया, जिससे वह अपनेको 'शरीर मैं हूँ एवं शरीर मेरा है'— ऐसा मानता है। शरीरादि पदार्थोंमें अहंता और ममता करके वह संसार-बन्धनमें बँध जाता है। प्रकृतिके कार्य संसार, शरीर आदिसे किसी भी प्रकारका सम्बन्ध जोडना ही जन्म-मरणका हेतु है।* यदि साधक विचारपूर्वक 'मैंपन' के आधार परमात्माको ठीक-ठीक समझकर (कि 'मैं' (अहं) प्रकृतिका कार्य है और मैंपनका आधार वास्तविक सत्ता परमात्मा है।) अहंकाररहित हो जाय अर्थात् अपनी मानी हुई सत्ताका अभाव कर दे तो सुगमतापूर्वक संसारसे मुक्त होकर कृतकृत्य हो सकता है।

परमात्माका अंश होनेके कारण जीव परमात्मासे अभिन्न है एवं जड प्रकृतिके अंश शरीरादिसे सर्वथा भिन्न है, किंतु भूलसे शरीरके साथ 'मैं'का सम्बन्ध जोड लेनेसे जीवको परमात्माके साथ स्वतः रहनेवाली अपनी अभिन्नता एवं जड प्रकृति (शरीरादि) के

---

* कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ (गीता १३ । २१)

'गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

साथ स्वतः रहनेवाली भिन्नताकी विस्मृति हो जाती है। यदि वह इस विस्मृतिको हटाकर परमात्मामें अपनी स्वतःसिद्ध अभिन्नताका अनुभव कर ले तथा जड़-नाशवान् प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीर एवं संसारसे (जिसके साथ 'स्वयं' का सम्बन्ध कभी हुआ नहीं, है नहीं और होना सम्भव ही नहीं, केवल भूलसे ही जीवने सम्बन्ध मान रखा है) माने हुए सम्बन्धको छोड़ दे, तो इस मृत्यु-संसार-सागरसे सदाके लिये सहज ही मुक्त हो सकता है।*

* गीताके निम्नलिखित पदोंमें भी मृत्यु-संसार-सागरकी ओर संकेत किया गया है—दूसरे अध्यायके उनतालीसवें श्लोकमें 'कर्मबन्धम्' पद जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए शुभ-अशुभ कर्मोंके संचित संस्कार-समुदायका वाचक है। जबतक कर्मोंका बन्धन है, तबतक मनुष्य आवागमन-चक्रसे नहीं छूट सकता। इसलिये संसारको 'कर्मबन्धम्' कहा गया है। दूसरे अध्यायके ही चालीसवें श्लोकमें 'महतो भयात्' पद जन्म-मृत्युरूप महान् भयका बोधक होनेसे 'मृत्यु-संसार-सागर'के अर्थमें ही आया है, और पचासवें श्लोकमें 'सुकृतदुष्कृते' पदसे, नवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें 'शुभाशुभ-फलैः' वा 'कर्मबन्धनैः' पदोंसे एवं 'अठारहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं·····फलम्' पदोंसे मृत्यु-संसार-सागरका ही लक्ष्य कराया गया है; क्योंकि वहीं गिरकर अर्थात् संसारमें जन्म लेकर ही जीव कर्म-समुदायके फलरूप पाप-पुण्योंको भोगता है। चौथे अध्यायके सोलहवें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'अशुभात्' पद मृत्यु-संसार-सागरके अर्थमें ही आया है; क्योंकि संसारका बन्धन ही अशुभ है। आठवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें 'दुःखालयम् अशाश्वतम्' पदोंसे संसारका ही बोध कराया गया है। जैसे औषधालयमें औषध ही होती है, वैसे ही संसारमें दुःख-ही-दुःख है; अतः संसार 'दुःखालय' है तथा प्रतिक्षण परिवर्तनशील

नचिरात् समुद्धर्ता भवामि—शीघ्र ही सब प्रकारसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।

भगवान्‌का यह सामान्य नियम है कि जो जिस भावसे उनका भजन करता है, उसी भावसे भगवान् भी उसका भजन करते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४ । ११)। अतः वे कहते हैं कि यद्यपि मैं सबमें समभावसे स्थित हूँ—**'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९ । २९), तथापि जिनका एकमात्र प्रिय मैं हूँ, जो मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्म करते हैं, और मेरे परायण होकर नित्य-निरन्तर मेरे ही ध्यान-जप-चिन्तन आदिमें लगे रहते हैं, ऐसे भक्तोंका मैं स्वयं सम्यक् प्रकारसे उद्धार करता हूँ* ॥ ७ ॥

होनेके कारण 'अशाश्वत' है । नवें अध्यायके तैंतीसवें श्लोकमें 'अनित्यम् असुखम् लोकम्' पदोंसे भी संसारका ही बोध कराया गया है । संसार सदा, नित्य नहीं रहता, इसलिये उसे 'अनित्य' कहा गया है । भोगोंमें सुखकी प्रतीति होते हुए भी वास्तवमें उनमें सुख नहीं है अर्थात् संसारमें कहीं सुख है ही नहीं, इसलिये इसे 'असुखम्' कहा गया है ।

* इस पदके अन्तर्गत भगवान्‌के ये भाव भी समाहित समझने चाहिये कि वह सगुणोपासक मेरी कृपासे साधनकी सब विघ्न-बाधाओंको पार करके मेरी कृपासे ही मेरी प्राप्ति कर लेता है (गीता १८ । ५६—५८), साधनकी कमीको पूरा करके मैं उसे अपनी प्राप्ति करा देता हूँ (गीता ९ । २२), उन्हें अपने समग्ररूपको समझनेकी शक्ति देता हूँ (गीता १० । १०), उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ तत्त्वज्ञानसे उनके अज्ञान-जनित अन्धकारका नाश कर देता हूँ (गीता १० । ११) और उन्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर देता हूँ (गीता १८ । ६६) ।

सम्बन्ध—

भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें सगुण-उपासकोंको श्रेष्ठ योगी बतलाया तथा छठे और सातवें श्लोकमें यह बात कही कि ऐसे भक्तोंका मैं शीघ्र उद्धार करता हूँ। इसलिये अब भगवान् अर्जुनको ऐसा श्रेष्ठ योगी बननेके लिये आठवें श्लोकमें समर्पणयोगरूप साधनका वर्णन करके नवें, दसवें और ग्यारहवें श्लोकमें क्रमशः अभ्यास-योग, भगवदर्थ कर्म और सर्वकर्मफलत्यागरूप साधनोंका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

भावार्थ—

भगवान् अर्जुनको आज्ञा देते हुए कहते हैं कि तू मन-बुद्धिको संसारके किसी प्राणी-पदार्थमें न लगाकर मुझमें ही लगा। इस प्रकार मन-बुद्धि सर्वथा मुझमें लगानेसे तू उसी क्षण मुझे ही प्राप्त होगा, इसमें कोई संशय नहीं।

बुद्धिको भगवान्‌में लगानेका अर्थ यह है कि बुद्धिमें 'भगवान्‌को ही प्राप्त करना है' ऐसा निश्चय रहे और मनको उनमें लगानेका भाव यह है कि मनसे प्रेमपूर्वक भगवान्‌का ही चिन्तन होता रहे। तात्पर्य यह है कि मन-बुद्धि भगवान्‌के ही हैं, मेरे नहीं—ऐसा दृढ़ भाव बना रहे। मन-बुद्धिमें संसारका महत्त्व एवं संसारकी प्रियता रहनेके कारण भगवान् अत्यन्त समीप होते हुए भी अति दूर प्रतीत होते हैं। अपने-आप ('स्वयं') को भगवान्‌के अर्पण कर देनेसे

(कि मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ) मन-बुद्धि सुगमतासे स्वतः भगवान्‌में लग जाते हैं। ऐसे साधकको भगवान्‌की स्मृति तो बनी ही रहती है, पर कभी भगवान्‌की स्मृति स्वरूपसे न रहनेपर भी उसका सम्बन्ध निरन्तर भगवान्‌से बना रहता है, वैसे ही जैसे पति-की स्मृति निरन्तर न रहनेपर भी स्त्रीका सम्बन्ध पतिसे बना ही रहता है।

अन्वय—

मयि, मनः, आधत्स्व, मयि, एव, बुद्धिम्, निवेशय, अतः, ऊर्ध्वम्, मयि, एव, निवसिष्यसि, (अत्र,) न, संशयः ॥ ८ ॥

पद-व्याख्या

मयि मनः आधत्स्व मयि एव बुद्धिम् निवेशय— मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा।

भगवान्‌के मतमें वे ही पुरुष उत्तम योगवेत्ता हैं, जिन्हें भगवान्‌के साथ अपने नित्ययोगका अनुभव हो गया है। सभी साधकोंको उत्तम योगवेत्ता बनानेके उद्देश्यसे भगवान् अर्जुनको निमित्त बनाकर यह आज्ञा देते हैं कि मुझ परमेश्वरको ही परमश्रेष्ठ और परम प्रापणीय मानकर बुद्धिको मुझमें लगा दे और मुझे ही अपना परम प्रियतम मानकर मनको मुझमें लगा दे। वास्तवमें मन-बुद्धिको भगवान्‌के समर्पण करना ही मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाना है।

भगवान्‌में हमारी स्वतःसिद्ध स्थिति (नित्ययोग) है; परंतु भगवान्‌में मन-बुद्धिके न लगनेके कारण हमें भगवान्‌के साथ अपने स्वतःसिद्ध नित्य-सम्बन्धका अनुभव नहीं होता। इसलिये भगवान्

कहते हैं कि मन-बुद्धिको मुझमें लगा, फिर तू मुझमें ही निवास करेगा (जो पहलेसे ही है) अर्थात् तुझे मुझमें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जायगा।

मन-बुद्धि लगानेका तात्पर्य यह है कि अबतक मनुष्य जिस मनसे जड़ संसारमें ममता, आसक्ति, सुख-भोगकी इच्छा, आशा आदिके कारण बार-बार संसारका ही चिन्तन करता रहा है एवं बुद्धिसे संसारमें ही अच्छे-बुरेका निश्चय करता रहा है, उस मनको संसारसे हटाकर भगवान्में लगाये एवं बुद्धिके द्वारा दृढ़तासे निश्चय करे कि 'मैं केवल भगवान्का ही हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं तथा मेरे लिये सर्वोपरि, परमश्रेष्ठ एवं परम प्रापणीय भगवान् ही हैं।' ऐसा दृढ़ निश्चय करनेसे संसारका चिन्तन और महत्त्व समाप्त हो जायगा और एक भगवान्के साथ ही सम्बन्ध रह जायगा। यही मन-बुद्धिका भगवान्में लगना है।

मन-बुद्धि लगानेमें भी बुद्धिका लगाना मुख्य है। किसी विषयमें पहले बुद्धिका ही निश्चय होता है और फिर बुद्धिके उस निश्चयको मन स्वीकार कर लेता है। साधन करनेमें भी पहले (उद्देश्य बनानेमें) बुद्धिकी प्रधानता होती है, फिर मनकी प्रधानता होती है। जिन पुरुषोंका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति नहीं है, उनके मन-बुद्धि भी, वे जिस विषयमें लगाना चाहेंगे, उस विषयमें लग सकते हैं। उस विषयमें मन-बुद्धि लग जानेपर उन्हें सिद्धियाँ तो प्राप्त हो सकती हैं, किंतु (भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य न होनेसे) भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः साधकको चाहिये कि बुद्धिसे यह दृढ़ निश्चय कर ले

कि 'मुझे भगवत्प्राप्ति ही करनी है।' इस निश्चयमें बहुत शक्ति है। ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि होनेमें सबसे बड़ी बाधा है—भोग और संग्रहका सुख लेना। सुखकी आशासे ही मनुष्यकी वृत्तियाँ धन, मान-बड़ाई आदि पानेका उद्देश्य बनाती हैं, इसलिये उसकी बुद्धि बहुत भेदोंवाली तथा अनन्त हो जाती है।* परंतु यदि भगवत्प्राप्तिका ही एक दृढ़ निश्चय हो, तो इस निश्चयमें इतनी पवित्रता और शक्ति है कि दुराचारी से-दुराचारी पुरुषको भी भगवान् साधु माननेके लिये तैयार हो जाते हैं। इस निश्चयमात्रके प्रभावसे वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्ति प्राप्त कर लेता है।†

'मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं'—ऐसा निश्चय (साधककी दृष्टिमें) बुद्धिमें हुआ प्रतीत होता है, परंतु वास्तवमें ऐसा नहीं है। बुद्धिमें ऐसा निश्चय दीखनेपर भी साधकको इस बातका पता नहीं होता कि वह 'स्वयं' पहलेसे ही भगवान्‌में स्थित है। वह चाहे इस बातको न भी जाने, पर सत्य यही है। 'स्वयं' भगवान्‌में स्थित होनेकी अचूक पहचान यही है कि इस सम्बन्धकी

---

* व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥
(गीता २। ४१)

† अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३१)

कभी विस्मृति नहीं होती। यदि यह केवल बुद्धिकी बात हो, तो भूली भी जा सकती है, पर 'मैं'-पनकी बातको साधक कभी नहीं भूलता। जैसे, 'मैं विवाहित हूँ' यह बुद्धिका नहीं अपितु 'मैं'-पनका निश्चय है। इसीलिये मनुष्य इस बातको कभी नहीं भूलता। यदि कोई यह निश्चय कर ले कि मैं अमुक गुरुका शिष्य हूँ, तो इस सम्बन्धके लिये कोई अभ्यास न करनेपर भी यह निश्चय उसके भीतर अटल रहता है। स्मृतिमें तो स्मृति रहती ही है, विस्मृतिमें भी सम्बन्धका अभाव नहीं होता; क्योंकि सम्बन्धका निश्चय 'मैं'-पनमें है। इस प्रकार संसारमें माना हुआ सम्बन्ध भी जब स्मृति और विस्मृति दोनों अवस्थाओंमें अटल रहता है, तब भगवान्‌के साथ जो सदासे ही नित्य-सम्बन्ध है, उसकी विस्मृति कैसे हो सकती है? अतः 'मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं'—इस प्रकार 'मैं'-पन (स्वयं)को भगवान्‌में लग जानेसे मन-बुद्धि भी स्वतः भगवान्‌में लग जाते हैं।

मन-बुद्धिमें अन्तःकरण—चतुष्टयका अन्तर्भाव है। मनके अन्तर्गत चित्त और बुद्धिके अन्तर्गत अहंकारका अन्तर्भाव है। मन-बुद्धि भगवान्‌में लगनेसे अहंकारका उद्गमस्थान 'स्वयं' भगवान्‌में लग जायगा और परिणामस्वरूप 'मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं' ऐसा भाव हो जायगा। इस भावमें निर्विकल्प स्थिति होनेसे 'मैं'-पन परमात्मामें लीन हो जायगा।

मन-बुद्धिको भगवान्‌के अर्पित करनेका उत्तम और श्रेष्ठ उपाय यह है कि साधक आर्तभावसे, पूर्ण सरलताके साथ भगवान्‌से प्रार्थना

करे कि 'हे नाथ ! मन, बुद्धि आदि अपने न होते हुए भी मैंने भूलसे इन्हें अपना मान लिया (यदि ये वास्तवमें मेरे होते, तो इनपर मेरा पूर्ण नियन्त्रण होता। पर इनपर मेरा कोई वश नहीं चलता।) अतः हे नाथ ! मेरे इस अपराधको क्षमा करो और ऐसा बल प्रदान करो कि अब इन्हें कभी अपना न मान सकूँ। ऐसा आपके दिये हुए बलसे ही हो सकता है'। इस प्रकार प्रार्थना करते हुए सरलतापूर्वक अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर दे कि 'हे नाथ ! मैं तो आपका ही हूँ और आप ही मेरे हो !' फिर सदाके लिये निर्भय और निश्चिन्त हो जाय। कारण कि भय और चिन्ता करनेसे मन, बुद्धि आदिमें अपनापन और अधिक दृढ होता है।

विशेष बात

साधारणतया अपना स्वरूप ('मैं' पनका आधार 'स्वयं') मन, बुद्धि, शरीर आदिके साथ दीखता है, पर वास्तवमें इनके साथ है नहीं। सामान्य रूपसे प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव कर सकता है कि बचपनसे लेकर अबतक शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सब-के-सब बदल गये, पर मैं वही हूँ। अतः 'मैं बदलनेवाला नहीं हूँ' इस बातको आजसे ही दृढतापूर्वक मान लेना चाहिये (साधारणतया मनुष्य बुद्धिसे ही समझनेकी चेष्टा करता है, पर यहाँ स्वयंसे जाननेकी बात है)।

विचार करें—एक ओर अपना स्वरूप नहीं बदला, यह सभीका प्रत्यक्ष अनुभव है और आस्तिकों एवं भगवान्‌में श्रद्धा रखनेवालोंके भगवान् भी कभी नहीं बदले, दूसरी ओर शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि सब-के-सब बदल गये और संसार भी बदलता हुआ प्रत्यक्ष

दीखता है। इससे सिद्ध हुआ कि कभी न बदलनेवाले 'स्वयं' और 'भगवान्' दोनों एक जातिके हैं, जब कि निरन्तर बदलनेवाले 'शरीर' और 'संसार' दोनों एक जातिके हैं। न बदलनेवाले 'स्वयं' और 'परमात्मा'-दोनों ही व्यक्तिरूपसे नहीं दीखते, जब कि बदलनेवाले शरीर और संसार—दोनों ही व्यक्तरूपसे प्रत्यक्ष दीखते हैं। प्रकृतिके अंश बदलनेवाले मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ-शरीरादिको पकड़कर ही 'अहं' (मैं) अपनेको बदलनेवाला मान लेता है। वास्तवमें 'अहं'का जो सत्तारूपसे आधार ('स्वयं') है, वह कभी नहीं बदलता; क्योंकि वह परमात्माका अंशस्वरूप है।

'मैं'के होनेमें सन्देह नहीं, 'मैं'-पनका अभाव भी नहीं। वास्तवमें 'मैं क्या हूँ' इसका तो पता नहीं, पर 'मैं हूँ' इस होनेपन-में थोड़ा भी सन्देह नहीं है। जैसे संसार प्रत्यक्ष दीखता है, वैसे ही 'मैं'-पनका भी भान होता है। अतएव तत्त्वतः 'मैं' क्या है, इसकी खोज करना साधकके लिये बहुत उपयोगी है।

'मैं' क्या है, इसका तो पता नहीं; परंतु संसार (शरीर) क्या है, इसका तो पता है ही। संसार (शरीर) उत्पत्ति, विनाश-वाला है, सदा एकरस रहनेवाला नहीं है—यह सबका अनुभव है। इस अनुभवको निरन्तर जाग्रत् रखना चाहिये। यह नियम है कि संसार और 'मैं'—दोनोंमेंसे किसी एकका भी ठीक-ठीक ज्ञान होनेपर दूसरेके स्वरूपका ज्ञान अपने-आप हो जाता है।

'मैं'का प्रकाशक और आधार (अपना स्वरूप) चेतन और नित्य है। इसलिये उत्पत्ति-विनाशवाले जड़ संसारसे स्वरूपका कोई

सम्बन्ध नहीं है । स्वरूपका तो भगवान्‌से स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है। इस सम्बन्धको पहचानना ही 'मैं' की वास्तविकताका अनुभव करना है। इस सम्बन्धको पहचान लेनेपर मन-बुद्धि स्वतः भगवान्‌में लग जायँगे* ।

जिन साधकोंकी स्वाभाविक ही भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम है, उनके लिये उपर्युक्त साधन अत्यन्त उपयोगी और सुलभ है† ।

अतः ऊर्ध्वम्—इसके अनन्तर ।

इस पदका भाव यह है कि जिस क्षण मन-बुद्धि भगवान्‌में पूरी तरह लग जायँगे अर्थात् मन-बुद्धिमें किञ्चिन्मात्र अपनापन नहीं

---

* चेतन और अविनाशीस्वरूप (आत्मा) को ही यहाँ 'स्वयं', 'अहं' का आधार, वास्तविक 'मैं', 'मैं' का प्रकाशक और आधार आदि नामोंसे कहा गया है।

† इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने अपने जिस स्वरूपके लिये 'माम्' और 'मयि' पदोंका प्रयोग किया है, उसीके लिये इस श्लोकमें 'मयि' पद आया है।

'एव' पद यहाँ अनन्यताके लिये आया है। भगवान्‌ने गीतामें स्थान-स्थानपर अपनी अनन्य भक्तिपर बहुत जोर दिया है। सातवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'मामेव' और अठारहवें अध्यायके छाछठके श्लोकमें 'मामेकम्' पदोंसे इसी अनन्यताकी महत्ता कही गयी है।

आठवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' पदके द्वारा साधकको भगवान्‌में मन-बुद्धि अर्पित करनेके लिये कहा गया है। इसी (बारहवें) अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' पद जिसकी मन-बुद्धि भगवान्‌में सर्वथा अर्पित हो गये हैं, ऐसे सिद्ध भक्तके लिये आया है।

रहेगा, उसी क्षण भगवत्प्राप्ति हो जायेगी। ऐसा नहीं है कि मन-बुद्धि पूर्णतया लगनेके बाद भगवत्प्राप्तिमें कालका कोई व्यवधान रह जाय।

मयि एव निवसिष्यसि (अत्र) न संशयः—तू मुझमें ही निवास करेगा, (इसमें कोई) संशय नहीं।

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! मुझमें ही मन-बुद्धि लगानेपर तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें संशय नहीं है। इससे यह आभास मिलता है कि अर्जुनके हृदयमें शंसयकी रेखा है, तभी भगवान् '**न संशयः**' पद देते हैं। यदि संशयकी सम्भावना न होती, तो इस पदके देनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। मनुष्यके हृदयमें साधारणतः यह बात बैठी हुई है कि 'कर्म अच्छे होंगे, आचरण अच्छे होंगे, एकान्तमें ध्यान लगायेंगे, तभी परमात्माकी प्राप्ति होगी, और यदि इस प्रकार साधन नहीं कर पाये, तो परमात्मप्राप्ति असम्भव है।' इस भ्रान्तिको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं कि मेरी प्राप्तिका उद्देश्य रखकर मन-बुद्धिको मुझमें लगाना जितना मूल्यवान् है, ये सब साधन मिलकर भी उतने मूल्यवान् नहीं हो सकते; अतः मन-बुद्धि मुझमें लगानेसे निश्चय ही मेरी प्राप्ति होगी, इसमें कोई संशय नहीं है—**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥** (गीता ८। ७)

जबतक बुद्धिमें संसारका महत्त्व है और मनसे संसारका चिन्तन होता रहता है, तबतक (परमात्मामें स्वाभाविक स्थिति होते हुए भी) अपनी स्थिति संसारमें ही समझनी चाहिये। संसारमें स्थिति अर्थात् संसारका सङ्ग रहनेसे संसारचक्रमें घूमना पड़ता है।

उपर्युक्त पदोंसे अर्जुनका संशय दूर करते हुए भगवान् कहते हैं कि तू यह चिन्ता मत कर कि मुझमें मन-बुद्धि सर्वथा लग जानेपर तेरी स्थिति कहाँ होगी। जिस क्षण तेरे मन-बुद्धि एकमात्र मुझमें सर्वथा लग जायँगे, उसी क्षण तू मुझमें ही निवास करेगा।

मन-बुद्धि भगवान्‌में लगानेके अतिरिक्त साधकके लिये और कोई कर्तव्य नहीं है। मन भगवान्‌में लगानेसे संसारका चिन्तन नहीं होगा और बुद्धि भगवान्‌में लगानेसे साधक संसारके आश्रयसे रहित हो जायगा। संसारका किसी प्रकारका चिन्तन और आश्रय न रहनेसे भगवान्‌का ही चिन्तन और भगवान्‌का ही आश्रय होगा। फलस्वरूप भगवान्‌की ही प्राप्ति होगी।

यहाँ मनके साथ 'चित्त'को तथा बुद्धिके साथ 'अहं'को भी ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि भगवान्‌में चित्त और अहंके लगे बिना 'तू मुझमें ही निवास करेगा' यह कहना सार्थक नहीं होगा।

सम्पूर्ण सृष्टिके एकमात्र ईश्वर (परमात्मा) का ही साक्षात् अंश यह जीवात्मा है। परंतु यह इस सृष्टिके एक तुच्छ अंश (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि) को अपना मानकर इन्हें अपनी ओर खींचता है (गीता १५। ७) अर्थात् इनका स्वामी बन बैठता है। वह (जीवात्मा) इस बातको सर्वथा भूल जाता है कि ये मन बुद्धि आदि भी तो उसी जगदीश्वरकी समष्टि सृष्टिके ही एक अंश हैं। मैं उसी परमात्माका अंश हूँ और सर्वदा उसीमें स्थित हूँ, इस सत्यको भूलकर वह अपनी अलग सत्ता मानने लगता है। जैसे, एक

करोड़पतिका मूर्ख पुत्र उससे अलग होकर अपनी विशाल कोठीके एक-दो कमरोंपर अपना अधिकार जमाकर अपनी उन्नति समझ लेता है, पर जब उसे अपनी भूल समझमें आ जाती है, तब उसे करोड़पति-का उत्तराधिकारी होनेमें कठिनाई नहीं होती। इसी लक्ष्यसे भगवान् कहते हैं कि जब तू इन व्यष्टि मन-बुद्धिको मेरे अर्पित कर देगा (जो स्वतः ही मेरे हैं; क्योंकि मैं ही समष्टि मन-बुद्धिका स्वामी हूँ), तो स्वयं इनसे मुक्त होकर (वास्तवमें पहलेसे ही मेरा अंश और मुझमें ही स्थित होनेके कारण) निःसन्देह मुझमें ही निवास करेगा।*

---

* चौथे अध्यायके चालीसवें श्लोकमें 'संशयात्मा' और 'संशयात्मनः' पद उस पुरुषके लिये आये हैं, जिसे प्रत्येक विषयमें संशय होता रहता है, जो अपने अविवेकके कारण विषयको ठीक समझ नहीं पाता और महापुरुषोंके निर्णयमें भी संशय करता रहता है। ऐसी संशय-बुद्धि साधककी साधनामें महान् बाधक होती है।

चौथे अध्यायके बयालीसवें श्लोकमें 'संशयम्' पद अज्ञानके कारण होनेवाली ईश्वर, परलोक, आत्मा और जीव-विषयक शङ्काओंके लिये आया है।

छठे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें आये हुए 'संशयम्' और 'संशयस्यास्य' पद 'सिद्धिको प्राप्त न हुए साधकका पतन तो नहीं हो जाता' अर्जुनके इस संशयकी ओर लक्ष्य कराते हैं।

जीवनभर चाहे जैसी वृत्तियाँ क्यों न रही हों, यदि अन्तकालमें साधकको भगवत्स्मरण हो गया, तो उसके प्रभावसे वह निःसन्देह मुक्त हो जायगा—इस भावसे भगवान्ने आठवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'न संशयः' पद दिया है।

जो योग एवं विभूतिको तत्त्वसे जान लेगा, उसे निःसंदेह भक्तियोग प्राप्त हो जायगा—यह भाव प्रकट करनेके लिये दसवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'न संशयः' पद आया है।

भगवान्‌ने सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें पाँच महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार—इस प्रकार आठ भागोंमें विभक्त अपनी 'अपरा' (जड) प्रकृतिका वर्णन किया और पाँचवें श्लोकमें इससे भिन्न अपनी जीवभूता 'परा' (चेतन) प्रकृति'का वर्णन किया। इन दोनों प्रकृतियोंको भगवान्‌ने अपनी कहा; अतः इन दोनोंके स्वामी भगवान् हैं। इन दोनोंमें, जड प्रकृतिका कार्य होनेसे 'अपरा प्रकृति' तो निकृष्ट है और चेतन परमात्माका अंश होनेसे 'परा प्रकृति' श्रेष्ठ है। (गीता १५ । ७) परंतु परा प्रकृति (जीव) भूलसे अपरा प्रकृति-को अपनी तथा अपने लिये मानकर उससे बँध जाती है तथा जन्म-मरणके चक्रमें पड जाती है। (गीता १३ । २१)। इसलिये भगवान् प्रस्तुत श्लोकमें मानो यह कह रहे हैं कि मन-बुद्धिरूप अपरा प्रकृतिसे अपनापन हटाकर इन्हें मेरी ही मान ले, जो वास्तवमें मेरी ही है। इस प्रकार मन-बुद्धिको मेरे अर्पण करनेसे इनके साथ भूलसे माना हुआ सम्बन्ध टूट जायगा और तुझे मेरे साथ अपने स्वतःसिद्ध नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जायगा।

भगवत्प्राप्ति-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान्‌की प्राप्ति किसी साधनविशेषसे नहीं होती। कारण कि ध्यानादि साधन शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके आश्रयसे होते हैं। शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदि प्रकृतिके कार्य होनेसे जड वस्तुएँ हैं।

जड़ पदार्थोंके द्वारा चिन्मय भगवान् खरीदे नहीं जा सकते; क्योंकि प्रकृतिके सम्पूर्ण पदार्थ मिलकर भी चिन्मय परमात्माके तुल्य कभी नहीं हो सकते।

सांसारिक पदार्थ कर्म (पुरुषार्थ) करनेसे ही प्राप्त होते हैं; अतः साधक भगवान्‌की प्राप्तिको भी स्वाभाविक ही कर्मोंसे होनेवाली मान लेता है। इसलिये भगवत्प्राप्तिके सम्बन्धमें भी वह यही सोचता है कि मेरेद्वारा किये जानेवाले साधनसे ही भगवत्प्राप्ति होगी।

मनु-शतरूपा, पार्वती आदिको तपस्यासे ही अपने इष्टकी प्राप्ति हुई—इतिहास-पुराणादिमें इस प्रकारकी कथाएँ पढ़ने-सुननेसे साधकके अन्तःकरणमें ऐसी छाप पड़ जाती है कि साधनके द्वारा ही भगवान् मिलते हैं और उसकी यह धारणा क्रमशः दृढ़ होती रहती है; परंतु साधनसे ही भगवान् मिलते हों, ऐसी बात वस्तुतः है नहीं। तपस्यादि साधनोंसे जहाँ भगवान्‌की प्राप्ति हुई दीखती है, वहाँ भी वह जड़के साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद होनेसे ही हुई है, न कि साधनोंसे। साधनकी सार्थकता असाधन (जड़के साथ माने हुए सम्बन्ध) का त्याग करानेमें ही है। भगवान् सबको सदा-सर्वथा स्वतः प्राप्त हैं ही; किंतु जड़के साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वथा त्याग होनेपर ही उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। इसलिये भगवत्प्राप्ति जड़ताके द्वारा नहीं, अपितु जड़ताके त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) से होती है। अतः जो साधक अपने साधनके बलसे भगवत्प्राप्ति मानते हैं, वे बड़ी भ्रान्तिमें हैं। साधनकी सार्थकता केवल जड़ताका त्याग करानेमें है—इस रहस्यको न समझकर साधनमें ममता करने

और उसका आश्रय लेनेसे साधकका जड़के साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक हृदयमें जड़ताका किञ्चित् भी आदर है, तबतक भगवत्प्राप्ति कठिन है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह साधनकी सहायतासे जड़ताके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर ले।

एकमात्र भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले साधनसे अन्तःकरण शुद्ध हो जानेके कारण जड़ताका सम्बन्ध सुगमतापूर्वक छूट जाता है। जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करनेके तीन मुख्य साधन हैं—

(१) **कर्मयोग**—शास्त्रविहित क्रियाका नाम 'कर्म' और समताका नाम 'योग' है—**'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २ । ४८)। सिद्धि-असिद्धिमें सम रहते हुए फल और आसक्तिका त्याग करके शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंको करना 'कर्मयोग' है। कर्मयोगका साधक जब निष्काम-भावसे शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म करता है, तब फलकी इच्छा न होनेसे वे कर्म उसे बाँधनेवाले नहीं होते। निषिद्ध कर्म (पाप) तो उसके द्वारा होते ही नहीं, क्योंकि निषिद्ध कर्म होनेमें 'कामना' हेतु है (गीता ३ । ३७) जब कि कर्मयोगका साधक सर्वप्रथम कामनाको त्यागकर ही कर्तव्य कर्मोंमें प्रवृत्त होता है।

कर्मयोगीको सत्सङ्ग, सत्-शास्त्र और सत्-विचारसे इस बातका ज्ञान हो जाता है कि पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि उसके अपने नहीं हैं, अपितु उसे जगत्से मिले हैं। जो अपने नहीं हैं, वे अपने लिये हो ही कैसे सकते हैं। ये सब जगत्के हैं और जगत्के लिये ही हैं। भूलसे इन्हें अपना और अपने लिये मान लिया गया था।

अतः जगत्से मिले हुए पदार्थोंको जगत्की सेवामें लगाना ही ईमानदारी है। उनसे अपने लिये कुछ भी चाहना ईमानदारी नहीं है। जो वस्तु जिसकी है, उसे उसीकी सेवामें लगा देना चाहिये और अपनेमें सेवकपनेका अभिमान भी नहीं आने देना चाहिये। जिसकी वस्तु है, उसीकी सेवामें वह वस्तु लगा देना कौन-सा बड़ा काम है, जिससे अभिमान पैदा हो !

अपने लिये कुछ न करने और न चाहनेसे अपनेमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं रहता तथा योग सिद्ध हो जाता है*। योगकी सिद्धि होनेपर शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है, जो परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है†। उस शान्तिका भी उपभोग न करनेसे सूक्ष्म कर्तृत्व, भोक्तृत्व भी मिट जाता है इस प्रकार कर्मयोगी अन्य किसी साधनका अवलम्बन लिये बिना ही अवश्य ही अपनेमें अपने स्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है—'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' (गीता ४ । ३८)।

* कर्मयोगीका कर्तृत्व (अभिनयकर्ताकी भाँति) केवल क्रियाके करनेके समयतक रहता है। वह अपनेमें कर्तृत्व निरन्तर नहीं मानता। जो कर्तृत्व निरन्तर अपनेमें मान लिया जाता है, वह कर्तृत्व ही बाँधनेवाला होता है। अपने लिये कुछ न चाहनेसे नित्य-निरन्तर अपनेमें कर्तृत्वकी मान्यता नहीं रहती। अपने लिये किञ्चिन्मात्र भी चाहना होनेमें ही कर्तृत्व-भाव रहता है, अन्यथा कर्तृत्व रह ही नहीं सकता।

† आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

(गीता ६ । ३)

(२) ज्ञानयोग—प्रकृति-पुरुष, जड-चेतनके विवेकद्वारा अपनेको जडतासे सर्वथा निर्लिप्त, असङ्ग अनुभव करना 'ज्ञानयोग' है। शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है, शरीरसे होनेवाली क्रियाएँ भी मेरी तथा मेरे लिये नहीं हैं; स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों ही शरीर केवल प्रकृतिके हैं—ऐसा विवेक होनेसे जो अपना स्वरूप नहीं है, उसकी निवृत्ति और नित्यसिद्ध स्वरूपकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

(३) भक्तियोग—एकमात्र भगवान्‌में मेरेपनके भावको (मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं—इस भावको) अखण्ड-रूपसे जाग्रत रखकर जड संसारसे सर्वथा विमुख हो जाना 'भक्तियोग' है।

भक्तियोगका साधक प्रारम्भसे ही किसी वस्तुको अपनी नहीं मानता। वह तो वस्तुमात्र (व्यक्ति, शरीर, इन्द्रियों, प्राण, मन, बुद्धि आदि) को भगवान्‌की ही मानता है। सब कुछ भगवान्‌का माननेमें जो आनन्द है, उससे विभोर होकर वह अपने-आपको भगवान्‌के प्रति समर्पित कर देता है अर्थात् भगवान्‌के हाथकी कठ-पुतली बन जाता है। इस प्रकार समर्पित होनेपर भगवान्‌की ओरसे जो मिलेगा, वह किसी ज्ञानयोगी या कर्मयोगीको मिलनेवाली वस्तुसे कम कैसे होगा ?* उसे मिलेगा वह विशुद्ध प्रेम, जिसके परस्पर

* तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(गीता १०। १०-११)

आदान-प्रदानके लिये भगवान् भी लालायित रहते हैं। ऐसा प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है।

कर्मयोगमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि जड़ पदार्थोंको संसारके ही मानकर संसार (प्राणिमात्र) की ही सेवामें लगा देनेसे जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

ज्ञानयोगमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि सब पदार्थ प्रकृतिके हैं; उनका चेतन-स्वरूपके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसा जान लेनेसे जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

भक्तियोगमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि सब पदार्थोंको भगवान्‌के ही मानकर उन्हें (संसारकी सेवाको भगवत्सेवा मानकर) भगवान्‌की सेवामें लगा देनेसे जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है॥ ८॥

श्लोक—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥ ९॥

भावार्थ—

हे अर्जुन! यदि तू मन-बुद्धिको भलीभाँति मेरे अर्पित करनेमें अर्थात् उनपरसे अपनापन हटानेमें अपनेको असमर्थ मानता है,

---

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझे ही प्राप्त होते हैं।'

'उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

तो भी तुझे मेरी प्राप्तिके लिये निराश नहीं होना चाहिये। मन-बुद्धिको मेरेमें अर्पण करना ही मेरी प्राप्तिका एकमात्र साधन है, ऐसी बात नहीं है। एकमात्र मेरी प्राप्तिका उद्देश्य एवं निष्कामभाव होनेपर नाम-जप-कीर्तन, लीला-चिन्तन, कथा-श्रवण, सत्-शास्त्र-अध्ययन आदि किसी भी क्रियाका अभ्यास तुझे मेरी प्राप्ति करा देगा। अतः तू अभ्यासयोगके द्वारा मेरी प्राप्तिकी इच्छा कर।

अन्वय—

अथ, चित्तम्, मयि, स्थिरम्, समाधातुम्, न, शक्नोषि, ततः, धनंजय, अभ्यासयोगेन, माम्, आप्तुम्, इच्छ ॥ ९ ॥

पद-व्याख्या—

अथ—यदि।

चित्तम्—मनको।

यहाँ 'चित्तम्' पदका अर्थ 'मन' है। परंतु इस श्लोकका पूर्ववर्ती श्लोकमें वर्णित साधनसे सम्बन्ध है, इसलिये 'चित्तम्' पदसे यहाँ मन और बुद्धि दोनों ही लेना युक्तिसंगत है।

मयि—मुझमें।

स्थिरम्—अचलभावसे अर्थात् पूर्णरूपसे।

समाधातुम्—स्थापित करने अर्थात् अर्पित करनेके लिये।

न शक्नोषि—(तू) समर्थ नहीं है।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि यदि तू मन-बुद्धिको मेरे अर्पित करनेमें अपनेको असमर्थ मानता है, तो अभ्यासयोगके द्वारा मुझे प्राप्त होनेकी इच्छा कर।

ततः—तो।

धनंजय—हे अर्जुन !

अभ्यासयोगेन—अभ्यासयोगके द्वारा ।

'अभ्यास' और 'अभ्यासयोग' पृथक्-पृथक् हैं । किसी लक्ष्यपर चित्तको बार-बार लगानेका नाम 'अभ्यास' है और समताका नाम 'योग' है । समता रखते हुए अभ्यास करना ही 'अभ्यासयोग' कहलाता है । केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे किया गया भजन, नाम-जप आदि 'अभ्यासयोग' है ।

'योग'की परिभाषा गीतामें दो प्रकारसे दी गयी है—(१) **'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २ । ४८) 'समतामें अटल स्थितिका नाम योग है; क्योंकि समता परमात्माका स्वरूप ही है—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (गीता ५ । १९) । (२) **'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'** (गीता ६ । २३) 'दुःखरूप संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदका नाम योग है । 'समता'की इन दोनों परिभाषाओंसे यह सिद्ध होता है कि समता (परमात्मा)में स्थिति होनेसे दुःखरूप संसारसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद होगा और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे समतामें स्वतः स्थिति होगी । इस प्रकार दोनों स्थानोंपर योगकी परिभाषा करनेके प्रकार दो हैं, भाव तो एक ही है* । अतः जिस

---

* दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें समता-प्राप्तिका उद्देश्य रखकर आसक्तिका त्याग तथा सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर कर्म करनेकी आज्ञा है; अतः वहाँ साधकके योगकी बात आयी है । छठे अध्यायके तेईसवें श्लोकमें सिद्ध पुरुषकी स्थितिका वर्णन है; अतः वहाँ सिद्धके योगकी बात आयी है । इस प्रकार प्रकरणानुसार यह भेद किया गया है । वास्तवमें योगकी परिभाषामें कोई भेद नहीं है ।

क्रियाका उद्देश्य दु:खरूप संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद और समता (परमात्मा) की प्राप्ति हो, उसे अभ्यास 'योग' कहा जायगा।

अभ्यासके साथ योगका संयोग न होनेसे साधकका उद्देश्य संसार ही रहेगा। संसारका उद्देश्य होनेपर स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति, मान-बड़ाई, नीरोगता, अनुकूलता आदिकी अनेक कामनाएँ उत्पन्न होंगी। फलस्वरूप ऐसे पुरुषकी क्रियाओंके उद्देश्य भी (कभी पुत्र, कभी धन, कभी मान-बड़ाई आदि) भिन्न-भिन्न रहेंगे। दूसरे अध्यायके इकतालीसवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि ऐसे सकाम पुरुषोंकी बुद्धियाँ बहुत भेदोंवाली और अनन्त होती हैं—'**बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्**।' इसलिये ऐसे पुरुषकी क्रियामें योग नहीं होगा। योग तभी होगा, जब, क्रियामात्रका उद्देश्य (ध्येय) केवल परमात्मा ही हो।

साधक जब भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखकर बार-बार नाम-जप आदि करनेकी चेष्टा करता है, तब उसके मनमें दूसरे अनेक संकल्प भी उत्पन्न होते रहते हैं। अतः साधकको 'मेरा ध्येय भगवत्प्राप्ति ही है।' इस प्रकारकी दृढ़ धारणा करके अन्य सब संकल्पोंसे उपराम हो जाना चाहिये *।

---

* भगवान्‌ने छठे अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें मनको अभ्यासपूर्वक अपनेमें लगानेकी बात कही है। गीतामें अभ्यासके साधनकी रीति विशेषरूपसे इसी श्लोकमें बतायी गयी है।

छठे अध्यायके पैंतीसवें श्लोकके अन्तर्गत 'अभ्यासेन' पद तथा इसी (बारहवें) अध्यायके बारहवें श्लोकके अन्तर्गत 'अभ्यासात्' पद साधारण अभ्यासमात्रके वाचक हैं।

तीव्र उत्कण्ठा होगी, तब सुख-भोगकी इच्छाका स्वयमेव नाश हो जायगा और वर्तमानमें ही भगवत्प्राप्ति हो जायगी।

साधकका यदि आरम्भसे ही यह दृढ़ निश्चय हो कि मुझे तो केवल भगवत्प्राप्ति ही करनी है (चाहे लौकिक दृष्टिसे कुछ भी बने या बिगड़े), तो कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोग—किसी भी मार्गसे उसे अत्यन्त शीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सकती है ॥ ९ ॥

श्लोक—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

भावार्थ—

यदि तू अभ्यासमें भी असमर्थ है अर्थात् किसी क्रियादिके बार-बार करनेपर भी मुझे प्राप्त करनेमें असमर्थ है, तो लौकिक तथा पारलौकिक सब-के-सब कर्म मेरे लिये ही कर अर्थात् मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। मेरे लिये कर्म करनेके परायण होना भी मेरी प्राप्तिका एक स्वतन्त्र साधन है। देश, काल, परिस्थिति आदिके अनुसार जो शुभ कर्म तेरे सम्मुख उपस्थित हो, उस कर्मको मेरे लिये ही (केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे) कर इस प्रकार केवल मेरे लिये कर्म करनेसे तुझे मेरी ही प्राप्ति होगी।

यदि साधकका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही है और सम्पूर्ण क्रियाएँ वह भगवान्‌के लिये ही करता है, तो इसका अभिप्राय यह है कि उसने अपनी सारी समझ, सामग्री, सामर्थ्य और समय भगवत्प्राप्तिके लिये ही लगा दिया। इसके सिवा वह और कर भी क्या

सकता है? भगवान् उस साधकसे इससे अधिक अपेक्षा भी नहीं रखते। अतः उसे अपनी प्राप्ति करा देते हैं। इसका कारण यह है कि परमात्मा किसी साधन-विशेषसे खरीदे नहीं जा सकते। परमात्माके महत्त्वके सामने सृष्टिमात्रका महत्त्व भी कुछ नहीं है, फिर एक व्यक्तिके द्वारा अर्पित सीमित सामग्री और साधनसे उनका मूल्य चुकाया ही कैसे जा सकता है! अतः अपनी प्राप्तिके लिये भगवान् साधकसे इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूरी योग्यता, सामर्थ्य आदिको उन्हींकी प्राप्तिमें लगा दे अर्थात् अपने पास बचाकर कुछ न रखे और इन योग्यता, सामर्थ्य आदिको अपना भी न समझे।

अन्वय—

(यदि,) अभ्यासे, अपि, असमर्थः, असि, (तर्हि,) मत्कर्मपरमः, भव, मदर्थम्, कर्माणि, कुर्वन्, अपि, सिद्धिम्, अवाप्स्यसि ॥ १० ॥

पद-व्याख्या—

(यदि) अभ्यासे—यदि (पिछले श्लोकमें वर्णित) अभ्यासमें।

इस पदका अभिप्राय पिछले (नवें) श्लोकमें वर्णित 'अभ्यास-योग' से है। गीताकी यह शैली है कि पहले कहे हुए विषयका आगे संक्षेपमें वर्णन किया जाता है। आठवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपने मन-बुद्धिको लगानेके साधनको नवें श्लोकमें पुनः 'चित्तम् समाधातुम्' पदोंसे कहा अर्थात् 'चित्तम्' पदके अन्तर्गत मन-बुद्धि दोनोंका समावेश कर लिया। इसी प्रकार नवें श्लोकमें आये हुए अभ्यासयोगके लिये यहाँ (दसवें श्लोकमें) 'अभ्यासे' पद आया है।

अपि—भी।

असमर्थः—असमर्थ।

असि—है ।

(**तर्हि**) तो ।

मत्कर्मपरमः भव—केवल मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो जा ।

इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण कर्मो (वर्णाश्रमधर्मानुसार शरीरनिर्वाह और आजीविका-सम्बन्धी लौकिक एवं भजन, ध्यान, नाम-जप आदि पारमार्थिक कर्मो) का उद्देश्य सांसारिक भोग और संग्रह न होकर एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही हो । जो कर्म भगवत्प्राप्तिके लिये भगवदाज्ञानुसार किये जाते हैं, उन्हें 'मत्कर्म' कहते हैं । जो साधक इस प्रकार कर्मोंके परायण हैं, वे 'मत्कर्मपरम' कहे जाते हैं । साधकका अपना सम्बन्ध भी भगवान्‌से हो और कर्मोंका सम्बन्ध भी भगवान्‌के साथ रहे, तभी मत्कर्मपरायणता सिद्ध होगी ।

साधकका ध्येय जब संसार (भोग और संग्रह) नहीं रहेगा, तब निषिद्ध क्रियाएँ सर्वथा छूट जायँगी; क्योंकि निषिद्ध क्रियाओंके अनुष्ठानमें संसारकी 'कामना' ही हेतु है (गीता ३ । ३७) । अतः भगवत्प्राप्तिका ही उद्देश्य होनेसे साधककी सम्पूर्ण क्रियाएँ शास्त्रविहित एवं भगवदर्थ ही होंगी ।*

मदर्थम् कर्माणि कुर्वन् अपि—मेरे लिये कर्मोंको करता हुआ भी ।

---

* तीसरे अध्यायके नवें श्लोकमें 'तदर्थं कर्म समाचर' पद इसी भावमें प्रयुक्त हुए हैं । ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें 'मत्कर्मकृत्' पद भी इसी भावका द्योतक है ।

भगवान्‌ने जिस साधनकी बात इसी श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'मत्कर्मपरमः भव' पदोंसे कही है, वही बात इन पदोंमें पुनः कही गयी है। भाव यह है कि केवल परमात्माका उद्देश्य होनेसे उस साधककी अन्यत्र स्थिति हो ही कैसे सकती है।

सिद्धिम् अवाप्स्यसि—(तू) सिद्धिको प्राप्त होगा अर्थात् तुझे मेरी प्राप्ति होगी।

जिस प्रकार भगवान्‌ने आठवें श्लोकमें मन-बुद्धि अपनेमें अर्पित करनेके साधनको तथा नवें श्लोकमें अभ्यासयोगके साधनको अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बतलाया, उसी प्रकार यहाँ भगवान् **'मत्कर्मपरमः भव'** (केवल मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो)—इस साधनको भी अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बतला रहे हैं।

जैसे धन-प्राप्तिके लिये व्यापार आदि कर्म करनेवाले मनुष्यको ज्यों-ज्यों धन प्राप्त होता है, त्यों-त्यों उसके मनमें धनका लोभ एवं कर्म करनेका उत्साह बढ़ता है, वैसे ही साधक जब भगवान्‌के लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है, तब उसके मनमें भी भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा एवं साधन करनेका उत्साह बढ़ता रहता है। उत्कण्ठा तीव्र होनेपर जब उसे भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाता है, तब सर्वत्र परिपूर्ण भगवान् उससे छिपे नहीं रहते। भगवान् अपनी कृपासे उसे अपनी प्राप्ति करा ही देते हैं॥ १०॥

श्लोक—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ ११॥

भावार्थ—

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! यदि तू मेरा आश्रय लेकर केवल मेरे लिये सम्पूर्ण कर्म करनेमें भी असमर्थ है, तो तू कर्मजन्य फलको सर्वथा त्याग दे और कभी कर्मोंके फलकी इच्छा मत कर। दूसरे शब्दोंमें तेरे कर्मोंका उद्देश्य स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई आदि लौकिक और स्वर्ग आदि पारलौकिक किसी सुखकी प्राप्ति न हो। परन्तु मन, इन्द्रियों एवं शरीरपर पूरा अधिकार हुए बिना कर्मजन्य फलका सर्वथा त्याग करना कठिन है, इसलिये तू 'यतात्मवान्' अर्थात् जीते हुए शरीर-इन्द्रियों-मनवाला होकर सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग कर।

सम्पूर्ण कर्मोंके फल (फलेच्छा) का त्याग भगवत्प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन है। कर्मफलत्यागसे विषयासक्तिका नाश होकर शान्ति (सात्त्विक सुख) की प्राप्ति हो जाती है। उस शान्तिका उपभोग न करनेसे (उसमें सुख-बुद्धि कर उसमें न अटकनेसे) वह शान्ति परमतत्त्वका बोध कराकर उससे अभिन्न करा देती है।

ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें भगवान्‌ने साधक भक्तके पाँच लक्षणोंमें एक लक्षण 'सङ्गवर्जितः' (आसक्तिसे रहित) बतलाया था। इस श्लोकमें भगवान् सम्पूर्ण कर्मोंके फलत्यागकी बात कहते हैं, जो संसारके प्रति आसक्तिके सर्वथा त्यागसे ही सम्भव है। इस (सर्व-कर्मफलत्याग) का फल भगवान्‌ने इसी अध्यायके बारहवें श्लोकमें तत्काल परमशान्तिकी प्राप्ति होना बतलाया है। अतः यह समझना चाहिये कि केवल आसक्तिका सर्वथा त्याग करनेसे भी परमशान्ति अथवा भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

अन्वय—

अथ, मद्योगम्, आश्रितः, एतत्, अपि, कर्तुम्, अशक्तः, असि, ततः, यतात्मवान्, (सन्), सर्वकर्मफलत्यागम्, कुरु ॥ ११ ॥

पद व्याख्या—

अथ—यदि ।

मद्योगम् आश्रितः—मेरे योगके आश्रित हुआ ।

पिछले (दसवें) श्लोकमें भगवान्‌ने अपने लिये ही सम्पूर्ण कर्म करनेसे अपनी प्राप्ति बतलायी और अब इस श्लोकमें वे सम्पूर्ण कर्मोंके फलत्यागरूप साधनकी बात बतला रहे हैं । ये दोनों ही साधन 'कर्मयोग'के अन्तर्गत हैं । भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करनेमें भक्तिकी प्रधानता होनेसे उसे 'भक्तिप्रधान कर्मयोग' कहेंगे और सर्वकर्मफलत्यागमें केवल फलत्यागकी मुख्यता होनेसे उसे 'कर्मप्रधान कर्मयोग' कहेंगे । इस प्रकार भगवत्प्राप्तिके ये दोनों ही स्वतन्त्र (पृथक्-पृथक्) साधन हैं ।

इस श्लोकमें **'मद्योगमाश्रितः'** पदका सम्बन्ध **'अथैतदप्यशक्तोऽसि'** के साथ मानना ही उचित प्रतीत होता है; क्योंकि यदि इसका सम्बन्ध **'सर्वकर्मफलत्यागम् कुरु'** के साथ माना जाय, तो भगवान्‌के आश्रयकी मुख्यता हो जानेसे यहाँ भक्तिप्रधान कर्मयोग ही हो जायगा । ऐसी दशामें दसवें श्लोकमें कहे हुए भक्तिप्रधान कर्मयोगके साधनसे इसकी भिन्नता नहीं रहेगी, जब कि भगवान् दसवें और ग्यारहवें श्लोकोंमें क्रमशः भक्तिप्रधान कर्मयोग और कर्मप्रधान कर्मयोग—दो भिन्न-भिन्न साधन बतलाना चाहते हैं ।

दूसरी बात यह है कि भगवान्‌ने इस श्लोकमें **'यतात्मवान्'** (मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके सहित शरीरपर विजय प्राप्त करनेवाला) पद भी दिया है। कर्मप्रधान कर्मयोगमें ही आत्मसंयमकी विशेष आवश्यकता है; क्योंकि आत्मसंयमके बिना सर्वकर्मफलत्याग होना असम्भव है। इसलिये भी **'मद्योगमाश्रितः'** पदका सम्बन्ध **'अथैतदप्यशक्तोऽसि'** के साथ मानना चाहिये, न कि सर्वकर्मफलत्याग करनेकी आज्ञाके साथ।

एतत्—इस (पूर्वश्लोकमें वर्णित साधन) को।

अपि—भी।

कर्तुम्—करनेमें।

अशक्तः—(तू) असमर्थ।

असि—है।

ततः—तो।

यतात्मवान् (**सन्**)—जीते हुए मन-इन्द्रियोंवाला अर्थात् मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके सहित शरीरको पूर्णतया अपने अधिकारमें रखनेवाला होकर।

कर्मप्रधान कर्मयोगके साधनमें स्वाभाविक ही कर्मोंका विस्तार होता है; क्योंकि योगकी प्राप्तिमें अनासक्तभावसे कर्म करना ही हेतु कहा गया है—**'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते'** (गीता ६। ३)। इसमें कर्मोंमें फलासक्तिवश बँधनेका भय रहता है। अतएव उपर्युक्त पदसे भगवान् कर्मफलत्यागके साधनमें मन-इन्द्रियों आदिके संयमकी परम आवश्यकता बतलाते हैं। यह ध्यान देनेकी

बात है कि मन-इन्द्रियोंका संयम होनेपर कर्मफलत्यागमें भी सुगमता होती है। यदि साधक मन-बुद्धि-इन्द्रियों आदिका संयम नहीं करता, तो स्वाभाविक ही उसके मनद्वारा विषयोंका चिन्तन होगा और उसकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जायगी। परिणामस्वरूप उसका पतन होनेकी बहुत सम्भावना रहेगी।* त्यागका उद्देश्य होनेसे साधक मन-इन्द्रियोंका संयम सुगमतासे कर पाता है।†

सर्वकर्मफलत्यागम् कुरु—सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग कर।

यहाँ 'सर्वकर्म' पद यज्ञ, दान, तप, सेवा और वर्णाश्रमके अनुसार जीविका तथा शरीर-निर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्र

---

* ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(गीता २। ६२-६३)

† पाँचवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें 'यतात्मानः' पद तथा छब्बीसवें श्लोकमें 'यतचेतसाम्' पद, छठे अध्यायके सातवें श्लोकमें 'जितात्मनः' पद और इसी (बारहवें) अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'यतात्मा' पद मन बुद्धि इन्द्रियोंके सहित शरीरको वशमें रखनेवाले सिद्ध भक्तोंके लिये आये हैं। सिद्ध भक्तोंके मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि स्वाभाविक ही पूर्णतया वशमें रहते हैं।

चौथे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'यतचित्तात्मा' पद और अठारहवें अध्यायके उनचासवें श्लोकमें 'जितात्मा' पद मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदिको वशमें करनेवाले साधकोंके लिये आये हैं।

तेरहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'आत्मविनिग्रहः' पद भी इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

विहित सम्पूर्ण कर्मोंका वाचक है। सर्वकर्मफलत्यागका अभिप्राय स्वरूपसे कर्मफलका त्याग न होकर कर्मफलमें ममता, आसक्ति, कामना, वासना आदिका त्याग ही है।

कर्मफलके चार विभाग हैं—

(क) प्रारब्ध—

(१) प्राप्त कर्मफल—प्रारब्धानुसार प्राप्त शरीर, जाति, वर्ण, वस्तुएँ, प्राणी, धन-सम्पत्ति, निर्धनता, रोग, नीरोगता, अधिकार आदि सब 'प्राप्त कर्मफल'के अन्तर्गत आते हैं।

(२) अप्राप्त कर्मफल—प्रारब्धकर्मके फलरूपमें जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भविष्यमें मिलनेवाली है, वह सब 'अप्राप्त कर्मफल' है।

(ख) क्रियमाण—

(३) दृष्ट कर्मफल—वर्तमान जीवनमें किये जानेवाले नये कर्मोंका फल, जो कर्मोंके पश्चात् तत्काल प्रत्यक्ष मिलता हुआ दीखता है, वह 'दृष्ट कर्मफल' है; जैसे—भोजन करनेसे तृप्ति हो गयी, नौकरी करनेसे पैसे मिल गये, खेती करनेसे अनाज हो गया, दवा लेनेसे रोग दूर हो गया इत्यादि।

(४) अदृष्ट कर्मफल—वर्तमान जीवनमें किये जानेवाले नये कर्मोंका जो फल कालान्तरमें इस लोक और परलोकमें अनुकूलता या प्रतिकूलताके रूपमें मिलनेवाला है, जो संचितरूपसे है और संचितरूपसे हो रहा है तथा जिसके भोगका विधान अभी नहीं बना है, वह 'अदृष्ट कर्मफल' है।

'सर्वकर्मफलत्याग'का व्यापक अर्थ है—प्राप्त कर्मफलमें ममता न करना, अप्राप्त फलकी इच्छा न करना, इष्ट फलमें आग्रह, आसक्ति न रखना और अदृष्ट फलकी आशा न रखना।

कर्मफलत्यागके साधनमें कर्मोंको स्वरूपसे त्यागनेकी बात नहीं कही गयी; क्योंकि कर्म करना तो अनिवार्य है—**'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते'** (गीता ६ । ३) 'योगमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा जाता है', जैसा कि पहले कह चुके हैं, आवश्यकता केवल कर्मों एवं उनके फलोंमें ममता, आसक्ति, कामना आदिके त्यागकी ही है।

कर्मयोगके साधकको अकर्मण्य नहीं होना चाहिये; क्योंकि कर्मफल-त्यागकी बात सुनकर प्रायः साधक सोचता है कि जब कुछ होना ही नहीं है तो क्यों न कर्मोंको ही त्याग दिया जाय! इसलिये भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें कर्मप्रधान कर्मयोगकी बात कहते हुए **'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'** 'तेरी कर्म न करनेमें आसक्ति न हो'—यह कहकर साधकके लिये अकर्मण्यता (कर्मके त्याग)का निषेध किया है।

अठारहवें अध्यायके नवें श्लोकमें भगवान्‌ने सात्त्विक त्यागके लक्षण बतलाते हुए कर्मोंमें फलासक्तिके त्यागको ही 'सात्त्विक त्याग' कहा है, न कि स्वरूपसे कर्मोंके त्यागको—**'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः'** (गीता १८ । ९)

फलासक्तिको त्यागकर क्रियाओंको करते रहनेसे क्रियाओंको करनेका वेग शान्त हो जाता है और पुरानी आसक्ति मिट जाती है।

फलकी इच्छा न रहनेसे कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और नयी आसक्ति पैदा नहीं होती। फिर साधक कृतकृत्य हो जाता है। पदार्थोंमें राग, आसक्ति, कामना, ममता, फलेच्छा आदि ही क्रियाओंमें वेग उत्पन्न करनेवाली हैं। इनके रहते हुए हठपूर्वक क्रियाओंका त्याग करनेपर भी क्रियाओंका वेग शान्त नहीं होता। राग-द्वेष रहनेके कारण साधककी प्रकृति पुनः उसे कर्ममें लगा देती है। अतः राग-द्वेषादिको त्यागकर (निष्कामभावपूर्वक) कर्तव्यकर्म करनेसे ही क्रियाओंका वेग शान्त होता है।

जिन साधकोंकी सगुण-साकार भगवान्में स्वाभाविक श्रद्धा और भक्ति नहीं है, अपितु व्यावहारिक और लोकहितके कार्य करनेमें ही अधिक श्रद्धा और रुचि है, ऐसे साधकोंके लिये यह (सर्वकर्म-फलत्याग-रूप) साधन बहुत उपयोगी है*।

भगवान्ने जहाँ भी 'कर्मफलत्याग'की बात कही है, वहाँ आसक्ति और फलेच्छाके त्यागका अध्याहार कर लेना चाहिये; क्योंकि

---

* दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें 'मा फलेषु कदाचन' पदोंसे, पाँचवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें 'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा' पदोंसे, छठे अध्यायके पहले श्लोकमें 'अनाश्रितः कर्मफलम्' पदोंसे, इसी (बारहवें) अध्यायके बारहवें श्लोकमें 'कर्मफलत्यागः' पदसे; अठारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च' पदोंसे, नवें श्लोकमें 'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव' पदोंसे, ग्यारहवें श्लोकमें 'कर्मफलत्यागी' पदसे, बारहवें श्लोकमें 'त्रिविधं कर्मणः फलम् भवति अत्यागिनाम्' पदोंसे और तेईसवें श्लोकमें 'अफल-प्रेप्सुना' पदसे (इसी भावसे) कर्मफल त्यागके करनेकी बात कही गयी है। इन पदोंमें कर्मफल-त्यागके अन्तर्गत कर्मों और उनके फलोंमें ममता-आसक्तिका त्याग ही निर्दिष्ट हुआ है।

भगवान्‌के मतमें आसक्ति और फलेच्छाका पूर्णतया त्याग होनेसे ही कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होता है* ।

अठारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'सर्वकर्मफलत्यागम्' पद विद्वानोंके मतानुसार केवल कर्मफलकी 'कामना'के त्यागके लिये आया है । कर्मोंमें ममता-आसक्तिके त्यागकी बात इसके अन्तर्गत नहीं आयी है । इसलिये वहाँ पूर्ण कर्मफलत्यागकी वैसी बात नहीं है, जैसी बात भगवान्‌ने 'सर्वकर्मफलत्यागम्' पदसे (अपने मतानुसार) यहाँ कही है । यदि विद्वानोंके मतमें भी 'सर्वकर्मफलत्यागम्'का अभिप्राय कर्मफलमें आसक्ति और कामना—दोनोंका त्याग करना होता अर्थात् उनका मत पूर्ण होता तो भगवान्‌को अलगसे (गीता १८ । ६ में) अपना मत बतलानेकी आवश्यकता नहीं रहती । अतः अठारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें **'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च'** पदोंसे भगवान्‌ने कर्मफलमें आसक्ति और कामनाके त्यागको ही अपना निश्चित मत बतलाया है ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—

भगवान्‌ने आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक एक साधनमें असमर्थ होनेपर दूसरा, दूसरे साधनमें असमर्थ होनेपर तीसरा

---

* एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥
(गीता १८ । ६)

'हे पार्थ ! इन (यज्ञ-दान-तपरूप) कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके अवश्य करना चाहिये; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ।'

और तीसरे साधनमें असमर्थ होनेपर चौथा साधन बताया । इससे यह शङ्का हो सकती है कि अन्तमें बताया गया 'सर्वकर्मफलत्याग' साधन कदाचित् सबसे निम्न श्रेणीका हो ! क्योंकि उसे सबसे अन्तमें कहा गया तथा भगवान्‌ने उस (सर्वकर्मफलत्याग)का कोई फल भी नहीं बताया । इस शङ्काका निराकरण करते हुए भगवान् सर्वकर्मफलत्याग साधनकी श्रेष्ठता तथा उसका फल बतलाते हैं ।

श्लोक—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

भावार्थ—

अभ्याससे शास्त्रज्ञान श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है । कर्मफलत्यागसे तत्काल ही परमशान्ति प्राप्त हो जाती है; क्योंकि कर्मफलत्यागमें असत्‌से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है ।

जिस 'अभ्यास'में ज्ञान, ध्यान और कर्मफलत्याग नहीं है तथा जिस 'ज्ञान' में अभ्यास, ध्यान और कर्मफलत्याग नहीं है—उन दोनोंमें अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान ही श्रेष्ठ है । इसी प्रकार जिस 'ज्ञान' में अभ्यास, ध्यान और कर्मफलत्याग नहीं है, तथा जिस 'ध्यान'में ज्ञान और कर्मफलत्याग नहीं है—उन दोनोंमें ध्यान ही श्रेष्ठ है । पुनः जिस 'ध्यान'में ज्ञान और कर्मफलत्याग नहीं है तथा जिस 'कर्मफल-त्याग'में ज्ञान और ध्यान नहीं है—उन दोनोंमें 'कर्मफलत्याग' ही श्रेष्ठ है; क्योंकि एकमात्र कर्मफलत्यागसे ही परमशान्तिकी प्राप्ति

(भगवत्प्राप्ति) हो जाती है। इसका कारण यह है कि आसक्ति और फलेच्छाके कारण ही दुःखरूप संसारसे सम्बन्ध उत्पन्न होता है और कर्मफलत्यागमें आसक्ति और फलेच्छाका नाश होता है।

कर्मफलत्यागका अर्थ है—आसक्ति, ममता और कामनाका त्याग। अतः कर्मफलत्यागसे (संसारके प्रति आसक्तिका नाश होनेके कारण) साधक अन्तःकरणकी स्वच्छता, प्रसन्नता एवं शान्तिको प्राप्त कर लेता है—'आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति' (गीता २। ६४)। शान्तिकी स्थितिमें भी आसक्तिके त्यागका क्रम बना रहने (शान्तिका उपभोग न करने) से सूक्ष्म 'अहं' भी मिट जाता है और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। फिर जन्म-मरणका कोई कारण ही न रहनेसे मनुष्य परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है।

अन्वय—

हि, अभ्यासात्, ज्ञानम्, श्रेयः, ज्ञानात्, ध्यानम्, विशिष्यते, ध्यानात्, कर्मफलत्यागः (विशिष्यते), त्यागात्, अनन्तरम्, शान्तिः ॥ १२ ॥

पद-व्याख्या—

हि—क्योंकि।

ग्यारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मफलत्याग करनेकी आज्ञा दी थी। उस कर्मफलत्यागकी श्रेष्ठता बतलानेके लिये यहाँ 'हि' पदका प्रयोग किया गया है।

भगवान्‌ने आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक एक-एक साधनमें असमर्थ होनेपर क्रमशः समर्पणयोग, अभ्यासयोग, भगवदर्थ कर्म और कर्मफलत्याग—ये चार साधन बतलाये। इसमें प्रायः ऐसा प्रतीत

होता है कि क्रमशः पहले साधनकी अपेक्षा आगेका साधन निम्न श्रेणीका है, और अन्तमें कहा गया कर्मफलत्यागका साधन सबसे निम्न श्रेणीका है। इस बातकी पुष्टि इससे भी होती है कि पहलेके तीन साधनोंमें भगवत्प्राप्तिरूप फलकी बात ('निवसिष्यसि मय्येव', 'मामिच्छाप्तुं' तथा 'सिद्धिमवाप्स्यसि'—इन पदोंद्वारा) साथ-साथ कही गयी; परंतु ग्यारहवें श्लोकमें जहाँ कर्मफलत्याग करनेकी आज्ञा दी गयी है, वहाँ उसका फल 'भगवत्प्राप्ति' नहीं बतलाया गया।

उपर्युक्त सभी भ्रान्त धारणाओंका निराकरण करनेके लिये यह बारहवाँ श्लोक कहा गया है। इसमें भगवान्‌ने कर्मफलत्यागको श्रेष्ठ और तत्काल परमशान्ति देनेवाला बतलाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि इस चौथे साधनको कोई निम्न श्रेणीका न समझे; क्योंकि इस साधनमें आसक्ति, ममता एवं फलेच्छाके त्यागकी ही प्रधानता होनेसे जिस तत्त्वकी प्राप्ति समर्पणयोग, अभ्यासयोग एवं भगवदर्थ कर्म करनेसे होती है, ठीक उसी तत्त्वकी प्राप्ति कर्मफलत्यागसे भी होगी।

वास्तवमें उपर्युक्त चारों साधन स्वतन्त्ररूपसे भगवत्प्राप्ति करानेवाले हैं। साधकोंकी रुचि, विश्वास और योग्यताकी भिन्नताके कारण ही भगवान्‌ने आठवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक अलग-अलग साधन कहे हैं।

जहाँतक कर्मफलत्यागके फल (भगवत्प्राप्ति)को अलगसे बारहवें श्लोकमें कहनेका प्रश्न है, उसमें यही विचार करना चाहिये कि समर्पणयोग, अभ्यासयोग एवं भगवदर्थ कर्म करनेसे भगवत्प्राप्ति

होती है, यह तो प्रायः प्रचलित ही है, किंतु कर्मफलत्यागसे भी भगवत्प्राप्ति होती है, यह बात प्रचलित नहीं है। इसलिये प्रचलित साधनोंकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता बतलानेके लिये बारहवाँ श्लोक कहा गया है और उसीमें कर्मफलत्यागका फल कहना उचित प्रतीत होता है।

अभ्यासात्—अभ्याससे।

महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—'**तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः**।' (योगदर्शन १। १३) अर्थात् किसी एक विषयमें स्थिति (स्थिरता) प्राप्त करनेके लिये बार-बार प्रयत्न करनेका नाम 'अभ्यास' है।

यहाँ (इस श्लोकमें) 'अभ्यास' शब्द केवल अभ्यासरूप क्रियाका वाचक है, अभ्यासयोगका वाचक नहीं, क्योंकि इस (प्राणायाम, मनोनिग्रह आदि) अभ्यासमें शास्त्रज्ञान और ध्यान नहीं है तथा कर्मफलकी इच्छाका त्याग भी नहीं है। जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही योग होता है, जब कि उपर्युक्त अभ्यासमें जडता (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि)का आश्रय रहता है।

ज्ञानम् श्रेयः—शास्त्रज्ञान श्रेष्ठ है।

यहाँ 'ज्ञान' शब्दका अर्थ शास्त्रज्ञान है, तत्त्वज्ञान नहीं, क्योंकि तत्त्वज्ञान तो सभी साधनोंका फल है। अतः यहाँ जिस ज्ञानकी अभ्याससे तुलना की जा रही है, उस ज्ञानमें न अभ्यास है, न ध्यान है और न कर्मफलत्याग ही है। जिस अभ्यासमें न ज्ञान है, न ध्यान है और न कर्मफलत्याग ही है—ऐसे अभ्यासकी अपेक्षा उपर्युक्त ज्ञान ही श्रेष्ठ है।

शास्त्रोंके अध्ययन और सत्सङ्गके द्वारा आध्यात्मिक जानकारीको तो प्राप्त कर ले, पर न तो उसके अनुसार तत्त्व (वास्तविकता) का अनुभव करे और न ध्यान, अभ्यास और कर्मफलत्यागरूप किसी साधनका अनुष्ठान ही करे—ऐसी (केवल शास्त्रोंकी) जानकारीके लिये यहाँ **'ज्ञानम्'** पद प्रयुक्त हुआ है। इस ज्ञानको उपर्युक्त अभ्यासकी अपेक्षा श्रेष्ठ कहनेका अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक ज्ञानसे रहित अभ्यास भगवत्प्राप्तिमें उतना सहायक नहीं होता, जितना अभ्याससे रहित 'ज्ञान' सहायक होता है। कारण यह कि ज्ञानसे भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा जाग्रत् हो सकती है, जिससे संसारसे ऊपर उठना जितना सुगम हो सकता है, उतना अभ्यासमात्रसे नहीं।*

---

* श्रीमद्भगवद्गीतामें 'ज्ञानम्' पदके अन्य प्रयोग अर्थभेदसहित इस प्रकार हैं—

चौथे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें एक बार तथा उन्तालीसवें श्लोकमें दो बार 'ज्ञानम्' पद, पाँचवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें 'ज्ञानम्' तथा सोलहवें श्लोकमें 'ज्ञानेन' एवं ज्ञानम्' पद, तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें दो बार 'ज्ञानम्' पद और चौदहवें अध्यायके पहले-दूसरे श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद तत्त्वज्ञानके वाचक हैं।

सातवें अध्यायके दूसरे और नवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद भगवान्‌के निर्गुण-निराकार तत्त्वके प्रभाव, माहात्म्य और रहस्य-सहित यथार्थ ज्ञानका वाचक है और 'विज्ञानम्' पद भगवान्‌के सगुण-निराकार तथा दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व एवं प्रभावसहित यथार्थ ज्ञानका वाचक है।

दसवें अध्यायके चौथे श्लोकमें 'ज्ञानम्'पद साधारण ज्ञानसे लेकर तत्त्वज्ञानतकका वाचक है।

ज्ञानात् ध्यानम् विशिष्यते—शास्त्र-ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है।

यहाँ 'ध्यान' शब्द केवल मनकी एकाग्रतारूप क्रियाका वाचक है, ध्यानयोगका वाचक नहीं। इस ध्यानमें शास्त्रज्ञान और कर्मफलत्याग नहीं है। ऐसा ध्यान उस ज्ञानकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, जिस ज्ञानमें अभ्यास, ध्यान और कर्मफलत्याग नहीं है। कारण यह है कि ध्यानसे मनका नियन्त्रण होता है जब कि केवल शास्त्र-ज्ञानसे मनका नियन्त्रण नहीं होता। इसलिये मन-नियन्त्रणके कारण ध्यानसे जो शक्ति सञ्चित होती है वह शास्त्र-ज्ञानसे नहीं होती। यदि साधक उस शक्तिका सदुपयोग करके परमात्माकी ओर बढ़ना चाहे, तो जितनी सुगमता उसे होगी, उतनी शास्त्रज्ञानवालेको नहीं। इसके साथ-साथ ध्यान करनेवाले साधकको (यदि वह शास्त्रका अध्ययन करे, तो)

तेरहवें अध्यायके ग्यारहवें और अठारहवें श्लोकोंमें 'ज्ञानम्' पद साधनरूप ज्ञानका वाचक है। तेरहवें अध्यायके ही सत्रहवें श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद ज्ञानस्वरूप परमात्माके लिये आया है।

तीसरे अध्यायके उन्तालीसवें-चालीसवें श्लोकोंमें, चौदहवें अध्यायके नवें, ग्यारहवें और सत्रहवें श्लोकमें तथा पन्द्रहवें अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद विवेक ज्ञानके अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं।

दसवें अध्यायके अड़तीसवें तथा अठारहवें अध्यायके अठारहवें उन्नीसवें श्लोकोंमें 'ज्ञानम्' पद साधारण ज्ञानके वाचक हैं। अठारहवें अध्यायके ही बीसवें श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद सात्त्विक ज्ञानका, इक्कीसवें श्लोकमें दो बार प्रयुक्त 'ज्ञानम्' पद लौकिक ज्ञानका तथा बयालीसवें श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद शास्त्रज्ञानका वाचक है।

अठारहवें अध्यायके तिरसठवें श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद सम्पूर्ण गीतोपदेशके लिये आया है।

मनकी एकाग्रताके कारण वास्तविक ज्ञानकी प्राप्ति बहुत सुगमतासे हो सकती है, जब कि केवल शास्त्राभ्यासी साधकको (चाहनेपर भी) मनकी चञ्चलताके कारण ध्यान लगानेमें कठिनाई होती है।*

ध्यानात् कर्मफलत्यागः (विशिष्यते)—ध्यानसे (भी) सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है।

ज्ञान और कर्मफलत्यागसे रहित 'ध्यान'की अपेक्षा ज्ञान और ध्यानसे रहित 'कर्मफलत्याग' श्रेष्ठ है। यहाँ कर्मफलत्यागका अर्थ कर्मों एवं 'कर्मफलोंका स्वरूपसे त्याग नहीं है, अपितु कर्मों और उनके फलोंमें ममता, आसक्ति एवं कामनाका त्याग ही है।

कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छा ही संसारमें बन्धनका कारण है। आसक्ति और फलेच्छा न रहनेसे कर्मफलत्यागी पुरुष सुगमतापूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य, पदार्थ आदि जो कुछ हमारे पास है, वह सब-का-सब संसारसे ही मिला हुआ है, अपना व्यक्तिगत नहीं है। इसलिये कर्मफलत्यागी अर्थात् कर्मयोगी मिली हुई (शरीरादि) सब सामग्रीको अपनी और अपने लिये न मानकर उसे निष्कामभावपूर्वक संसारकी ही सेवामें लगा देता है।

---

* तेरहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें 'ध्यानेन' पद साधनरूप ध्यानका वाचक है। दूसरे अध्यायके बासठवें श्लोकमें 'ध्यायतः' पद चिन्तनके अर्थमें आया है। इसी (बारहवें) अध्यायके छठे श्लोकमें 'ध्यायन्तः' पद अनन्य-चिन्तनके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। अठारहवें अध्यायके बावनवें श्लोकमें 'ध्यानयोगपरः' पद निर्गुण-तत्त्वका ध्यान करने-वाले पुरुषके लिये आया है।

इस प्रकार मिली हुई सामग्री (जडता)का प्रवाह संसार (जड़ता) की ही ओर हो जानेसे उसका जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और उसे परमात्मासे अपने स्वाभाविक और नित्यसिद्ध सम्बन्धका अनुभव हो जाता है । इसलिये कर्मयोगीके लिये अलगसे ध्यान लगानेकी आवश्यकता नहीं है । यदि वह ध्यान लगाना भी चाहे, तो कोई सासारिक कामना न होनेके कारण वह सुगमतापूर्वक ध्यान लगा सकता है, जब कि ध्यान करनेवाले सामान्य कोटिके साधकको सकामभावके कारण ध्यान लगानेमें कठिनाई होती है ।

गीताके छठे अध्यायमें वर्णित ध्यानयोगके प्रकरणमे भगवान्‌ने बतलाया है कि ध्यानका अभ्यास करते-करते अन्तमें जब साधकका चित्त एकमात्र परमात्मामें भलीभाँति स्थित हो जाता है तब वह सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो जाता है और चित्तके उपराम होनेपर वह 'स्वय'से परमात्मतत्त्वमें स्थित हो जाता है, * परतु कर्मयोगी सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके तत्काल 'स्वय'से परमात्मतत्त्वमें

---

* यदा विनियत चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
नि स्पृह सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥
(गीता ६ । १८)

'भलीभाँति वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें परमात्मामें ही स्थित हो जाता है, उस कालमें सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त कहलाता है ।'

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्ध योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मान पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
(गीता ६ । २०)

स्थित हो जाता है* । कारण यह है कि ध्यानमें परमात्मामें चित्त लगाया जाता है, इसलिये उसमें चित्त (जड़ता)का आश्रय रहनेके कारण चित्त (जड़ता)के साथ बहुत दूरतक सम्बन्ध बना रहता है। परंतु कर्मयोगमें ममता और कामनाका त्याग किया जाता है, इसलिये उसमें ममता और कामना (जड़ता)का त्याग करनेके साथ ही चित्त (जड़ता)का भी स्वतः त्याग हो जाता है । इसलिये परिणाममें समानरूपसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर भी ध्यानका अभ्यास करनेवाले साधकको ध्येयमें चित्त लगानेमें कठिनाई होती है तथा उसे परमात्मतत्त्वका अनुभव भी विलम्बसे होता है, जब कि कर्मयोगीको परमात्मतत्त्वका अनुभव सुगमतापूर्वक एवं शीघ्रतासे होता है । इससे सिद्ध होता है कि ध्यानकी अपेक्षा कर्मयोगका साधन श्रेष्ठ है ।

अपना कुछ नहीं, अपने लिये कुछ नहीं चाहिये और अपने लिये कुछ नहीं करना—यही कर्मयोगका मूल महामन्त्र है, जिसके कारण यह सब साधनोंसे विलक्षण हो जाता है—'कर्मयोगो विशिष्यते' (गीता ५ । २) ।

'ध्यानयोगके अभ्याससे निरुद्ध चित्त जिस अवस्थामें उपराम हो जाता है और जिस अवस्थामें स्वयंसे परमात्माको साक्षात् करता हुआ परमात्मामें ही संतुष्ट रहता है ।'

* प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
(गीता २ । ५५)

'हे अर्जुन ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और स्वयंसे परमात्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।'

त्यागात्—त्यागसे ।

यहाँ 'त्यागात्'पद 'कर्मफलत्याग'के लिये ही आया है । 'त्याग'के स्वरूपको विशेषरूपसे समझनेकी आवश्यकता है । त्याग न तो उसका हो सकता है, जो अपना स्वरूप है और न उसीका (त्याग) हो सकता है, जिसके साथ अपना सम्बन्ध नहीं है ।

उदाहरणार्थ—अपना स्वरूप होनेके कारण प्रकाश और उष्णता-से सूर्यका वियोग नहीं हो सकता, और जिससे वियोग नहीं हो सकता, उसका त्याग करना असम्भव है । इसके विपरीत अपना स्वरूप न होनेके कारण अन्धकार और शीतलतासे सूर्यका वियोग भी कहना नहीं बनता; क्योंकि अपना स्वरूप न होनेके कारण उनका वियोग अथवा त्याग नित्य और स्वतःसिद्ध है अतएव वास्तवमें त्याग उसीका होता है, जो अपना नहीं है, पर भूलसे अपना मान लिया गया है ।

जीव स्वयं चेतन और अविनाशी है तथा संसार जड़ और विनाशी है । जीव भूलसे (अपने अंशी परमात्माको भूलकर) विजातीय संसारको अपना मान लेता है । इसलिये संसारसे माने हुए सम्बन्धका ही त्याग करनेकी आवश्यकता है ।

कर्मफलत्यागमें संसारसे माने हुए सम्बन्धका त्याग हो जाता है । इसलिये यहाँ 'त्यागात्' पद कर्मों और उनके फलों (संसार)-के साथ भूलसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करनेके अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है । यही त्यागका वास्तविक स्वरूप है ।

'त्याग'के अन्तर्गत जप, भजन, ध्यान, समाधि आदिके फलका त्याग भी समझना चाहिये, क्योंकि जबतक जप, भजन, ध्यान, समाधि अपने लिये की जाती है, तबतक व्यक्तित्व बना रहनेसे बन्धन बना

रहता है । अतः अपने लिये किया हुआ ध्यान, समाधि आदि भी बन्धन ही है । इसलिये किसी भी क्रियाके साथ अपने लिये कुछ भी चाह न रखना ही 'त्याग' है ।

अनन्तरम्—तत्काल ही ।

शान्तिः—परमशान्ति (प्राप्त हो जाती है) ।

यहाँ 'शान्तिः' पदका तात्पर्य परमशान्तिकी प्राप्ति है । इसीको भगवत्प्राप्ति कहते हैं ।

अभ्यास, ज्ञान और ध्यान—तीनों साधनोंसे वस्तुतः कर्मफल-त्यागरूप साधन श्रेष्ठ है । जबतक साधकमें फलकी आसक्ति रहती है, तबतक वह (जड़ताका आश्रय रहनेसे) मुक्त नहीं हो सकता—

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

(गीता ५ । १२ का उत्तरार्द्ध)

'सकाम पुरुष कामनाके कारण फलमें आसक्त होकर बँधता है ।'

इसलिये फलासक्तिके त्यागकी आवश्यकता अभ्यास, ज्ञान और ध्यान—तीनों ही साधनोंमें है । जड़ता अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका सम्बन्ध ही अशान्तिका मुख्य कारण है । कर्मफलत्याग अर्थात् कर्मयोगमें आरम्भसे ही कर्मों और उनके फलोंमें आसक्तिका त्याग किया जाता है ।* इसलिये जड़ताका सम्बन्ध न रहनेसे कर्मयोगीको शीघ्र परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है—

---

* कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

(गीता ५ । ११)

'कर्मयोगी ममत्वबुद्धि रहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं ।'

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
(गीता ५ । १२ का पूर्वार्द्ध

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप परमशान्ति-को प्राप्त होता है ।'*

कर्मफलत्याग-सम्बन्धी विशेष बात

'कर्मफलत्याग' कर्मयोगका ही दूसरा नाम है। कारण कि कर्मयोगमें 'कर्मफलत्याग' ही मुख्य है। यह कर्मयोग भगवान् श्रीकृष्णके अवतारसे बहुत पहले ही लुप्तप्राय हो गया था (गीता ४ । २)। भगवान्ने अर्जुनको निमित्त बनाकर कृपापूर्वक इस कर्म-योगको पुनः प्रकट किया (गीता ४ । ३)। भगवान्ने इसे प्रकट ही नहीं किया, अपि तु इसे 'योग' संज्ञा देकर प्रत्येक परिस्थितिमें प्रत्येक मनुष्यको कल्याणका अधिकार प्रदान किया । अन्यथा अध्यात्ममार्गके विषयमें कभी यह सोचा ही नहीं जा सकता कि एकान्तके बिना, कर्मोंको छोड़े बिना, वस्तुओंका त्याग किये बिना, स्वजनोंके त्यागके बिना—प्रत्येक परिस्थितिमें मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है !

---

* दूसरे अध्यायके सत्तरवें-इकहत्तरवें श्लोकोंमें, चौथे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें, पाँचवें अध्यायके बारहवें तथा उन्तीसवें श्लोकोंमें, छठे अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें, नवें अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके बासठवें श्लोकमें आया 'शान्तिम्' पद परमशान्तिका वाचक है।

दूसरे अध्यायके छाछठवें श्लोकमें और सोलहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'शान्तिः' पद तथा अठारहवें अध्यायके तिरपनवें श्लोकमें 'शान्तः' पद अन्तःकरणकी शान्तिके लिये आया है ।

अर्जुनने भी युद्ध-जैसे घोर कर्मको अपने कल्याणमें महान् बाधक समझा (गीता १ । ३१) तथा ऐसे घोर हिंसात्मक कर्म करनेकी अपेक्षा मरना ही उचित समझा (गीता १ । ४६) । परंतु भगवान्‌को यह अभीष्ट नहीं था । उन्होंने अर्जुनकी किंकर्तव्य-विमूढ़ताको भलीभाँति समझ लिया और दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे सांख्ययोगविषयक उपदेश प्रारम्भ किया । इस सांख्ययोगके विषयकी समाप्ति भगवान्‌ने **'एषा तेऽभिहिता सांख्ये'** (गीता २ । ३९) पदोंसे की । यहाँ **'एषा'** पदका तात्पर्य **'सुखदुःखे समे कृत्वा'** (गीता २ । ३८) श्लोकमें कही 'समता' से है । आत्मा-अनात्मा, सत्-असत्, नित्य-अनित्य, चेतन-जड़ आदिके तत्त्वको यथार्थ जाननेवाला सांख्ययोगी भी जय-पराजय, लाभ-हानि आदि अनुकूल-प्रतिकूलरूपसे प्राप्त प्रत्येक परिस्थितिमें सम रहकर अपने कर्तव्यका पालन करता है । अतः जिस समताकी प्राप्ति सांख्ययोगसे सम्भव है, वही समता कर्मयोगसे भी सम्भव है । उस कर्मयोगका उपदेश भगवान् **'योगे त्विमां शृणु'** (गीता २ । ३९) पदोंसे प्रारम्भ करते हैं ।

कर्मयोगमें फलासक्तिका त्याग ही मुख्य है । स्वस्थता-अस्वस्थता, धनवत्ता-निर्धनता, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा आदि सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ कर्मोंके फलस्वरूपमें आती हैं । इनके साथ राग-द्वेष रहनेसे कभी परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती (गीता २ । ४२—४४) ।

उत्पन्न होनेवाली मात्र वस्तु कर्मफल है । जो फलरूपमें मिला है, वह सदा रहनेवाला नहीं होता; क्योंकि जब कर्म सदा नहीं

रहता, तब उससे उत्पन्न होनेवाला फल सदा कैसे रहेगा ? इसलिये उसमें आसक्ति, ममता करना भूल ही है। जो फल अभी नहीं मिला है, उसकी कामना करना भी भूल है। अतः फलासक्तिका त्याग कर्मयोगका बीज है।

कर्मयोगमें क्रियाओंकी प्रधानता प्रतीत होती है और शरीरादि (जड़) पदार्थोंके बिना क्रियाओंका होना सम्भव नहीं है, इसलिये कर्मों एवं फलोंसे छुटकारा पाना कठिन प्रतीत होता है। पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो मिली हुई कर्म-सामग्री (शरीरादि जड़-पदार्थों)को अपनी तथा अपने लिये माननेसे ही फलासक्तिका त्याग कठिन प्रतीत होता है। शरीरादि प्राप्त-सामग्रीमें किसी प्रकारकी आसक्ति न रखकर कर्तव्य-कर्म करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है*। वास्तवमें क्रियाएँ कभी बन्धनकारक नहीं होतीं। बन्धनका मूल हेतु कामना और फलासक्ति है। कामना और फलासक्तिके मिटनेपर कर्म अकर्म हो जाते हैं (गीता ४। १९ से २३)।

'कर्म'का सम्बन्ध संसार (जड)से और 'योग'का सम्बन्ध स्वयं (चेतन)से होता है। इसलिये 'कर्म' सदैव संसारके लिये और 'योग' सदैव अपने लिये होता है।

---

* तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(गीता ३। १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्ति-रहित होकर कर्तव्य-कर्मको भलीभाँति करता रह। क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

भगवान्‌ने कर्मयोगको कर्मसंन्याससे भी श्रेष्ठ बतलाया है—'तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥' (गीता ५ । २)। भगवान्‌के मतमें स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेवाला व्यक्ति संन्यासी नहीं है, अपि तु कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्तव्य-कर्म करनेवाला कर्मयोगी संन्यासी है (गीता ६ । १)। आसक्तिरहित कर्मयोगी सभी संकल्पोंसे मुक्त होकर सुगमतासे योगारूढ़ हो जाता है (गीता ६ । ४)। इतना ही नहीं, कर्मयोगीको भगवान्‌ने तपस्वी, ज्ञानी तथा कर्मोंसे भी श्रेष्ठ बतलाया है *। इसके विपरीत जो कर्मों एवं उनके फलोंको अपना (ममता) और अपने लिये मानकर सुख-भोगकी इच्छा रखते हैं, वे वास्तवमें पाप-भोग करते हैं—'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥' (गीता ३ । १३)। अतः फलासक्ति ही संसारमें बन्धनका मुख्य कारण है—'फले सक्तो निबध्यते' (गीता ५ । १२)। इसका त्याग ही वास्तवमें त्याग है †।

---

* तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
(गीता ६ । ४६)

'योगी (कर्मयोगी) तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है; इसलिये हे अर्जुन ! तू योगी हो ।'

† न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥
(गीता १८ । ११)

'शरीरधारी किसी भी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग किया जाना शक्य नहीं है; इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है—यह कहा जाता है ।'

गीता फलासक्तिके त्यागपर जितना जोर देती है, उतना और किसी साधनपर नहीं। अन्य साधनोंका वर्णन करते समय भी कर्म-फलत्यागको उनके साथ रखा गया है। भगवान्‌के मतानुसार त्याग वही है, जिसमें निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन हो और फलोंमें किसी प्रकारकी आसक्ति न हो (गीता १८।६)। उत्तम-से-उत्तम कर्मोंमें भी आसक्ति न हो और साधारण-से-साधारण कर्मोंमें भी द्वेष न हो; क्योंकि कर्म तो उत्पन्न होकर समाप्त हो जायँगे, पर उनमें होनेवाली आसक्ति (राग) और द्वेष रह जायगा, जो बन्धनका हेतु है। इसके विपरीत अहंभाव तथा राग-द्वेषसे रहित मनुष्यके सामने समस्त लोकोंका संहाररूप कर्तव्य-कर्म भी आ जाय तो भी वह बँध नहीं सकता (गीता १८ । १७)। इसीलिये भगवान् 'कर्मफलत्याग'को तप, ज्ञान, कर्म, अभ्यास, ध्यान आदि साधनोंसे श्रेष्ठ बतलाते हैं। अन्य साधनोंमें क्रियाएँ तो उत्तम प्रतीत होती हैं, पर विशेष लाभ दिखायी नहीं देता तथा श्रम भी करना पड़ता है। परंतु फलासक्तिका त्याग कर देनेपर न तो कोई नये कर्म करने पड़ते हैं, न आश्रम, देश आदिका परिवर्तन ही करना पड़ता है, अपितु साधक जहाँ है, जो करता है, जैसी परिस्थितिमें है, उसीमें (फलासक्तिके त्यागसे) बहुत सुगमतासे अपना कल्याण कर सकता है।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥

(गीता ४ । २०)

(जो) 'समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्यतृप्त है, वह कर्मोंमें भलीभाँति बरतता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता।'

नित्यप्राप्त परमात्माकी अनुभूति होती है, प्राप्ति नहीं। जहाँ 'परमात्माकी प्राप्ति' कहा जाता है, वहाँ उसका अर्थ नित्यप्राप्तकी प्राप्ति या अनुभव ही मानना चाहिये। वह प्राप्ति साधनोंसे नहीं होती, अपितु जड़ताके त्यागसे होती है। ममता, कामना और आसक्ति ही जड़ता है। शरीर, मन, इन्द्रियाँ, पदार्थ आदिको 'मैं' या 'मेरा' मानना ही जड़ता है। ज्ञान, अभ्यास, ध्यान, तप आदि साधन करते-करते जब जड़ताका सम्बन्ध-विच्छेद होता है, तभी नित्यप्राप्त परमात्माकी अनुभूति होती है। इस जड़ताका त्याग जितना कर्मफल-त्याग अर्थात् कर्मयोगसे सुगम होता है, उतना ज्ञान, अभ्यास, ध्यान, तप आदिसे नहीं। कारण कि ज्ञानादि साधनोंमें क्रियाकी मुख्यता होनेसे कर्म-सामग्री (शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ)से विशेष आन्तरिक सम्बन्ध बना रहता है। इन साधनोंका लक्ष्य परमात्मप्राप्ति होनेसे अन्तमें सफलता तो मिल जाती है, किंतु उसमें विलम्ब और कठिनाई होती है। परन्तु कर्मयोगमें प्रारम्भसे ही जड़ताके त्यागका लक्ष्य रहता है। जड़ताका सम्बन्ध ही नित्यप्राप्त परमात्माकी अनुभूतिमें प्रधान बाधा है—यह बात अन्य साधनोंमें स्पष्ट प्रतीत नहीं होती। यही कारण है कि भगवान्‌ने प्रस्तुत श्लोकमें कर्मयोगको ही श्रेष्ठ बतलाया है।

कर्मयोगकी यह विलक्षणता है कि ज्ञानयोग या भक्तियोग—किसी भी मार्गपर क्यों न चला जाय, कर्मयोगकी प्रणाली (अपने लिये कुछ न करना; फलासक्तिका त्याग) आ ही जाती है। कारण कि मनुष्यमें क्रिया निरन्तर रहती है (गीता ३। ५), पर विचार तथा ध्यान निरन्तर नहीं रहता, अपितु समय-समयपर होता है।

श्रुतिमें भी कामनाओंके त्यागकी विशेष महिमा कही गयी है*। कामनाओंके त्यागसे निषिद्ध कर्मोंका त्याग स्वतः होता है तथा निषिद्ध-कर्मोंके त्यागसे कामनाओंके त्यागका बल आता है।

जब साधक यह दृढ निश्चय कर लेता है कि मुझे कभी किसी दशामें मन, वाणी अथवा क्रियासे चोरी, झूठ, व्यभिचार, हिंसा, छल, कपट, अभक्ष्य-भक्षण आदि कोई शास्त्र-विरुद्ध कर्म नहीं करने है, तो उसके द्वारा स्वत. ही विहित-कर्म होने लगते हैं।

साधकको निषिद्ध-कर्मोंके त्यागका ही निश्चय करना चाहिये, न कि विहित-कर्मोंको करनेका। कारण कि यदि साधक विहित-कर्मोंको करनेका निश्चय करता है, तो उसमें विहित-कर्म करनेका अभिमान आ जायगा और उसका 'अहं' सुरक्षित रहेगा। विहित-कर्म करनेका अभिमान रहनेसे निषिद्ध-कर्म अवश्य होते हैं। परंतु 'मैं निषिद्ध-कर्म नहीं करूँगा' इस निषेधात्मक निश्चयमें किसी योग्यता, सामर्थ्यकी अपेक्षा न रहनेके कारण साधकमें अभिमान नहीं आता और उसका 'अहं' नष्ट हो जाता है। फलकी कामना तभी होती है, जब कुछ

---

* यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(कठोपनिषद् २। ३। १४)

'साधकके हृदयमें स्थित सम्पूर्ण कामनाएँ जब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं (मनुष्य शरीरमें ही) ब्रह्मका भलीभाँति अनुभव कर लेता है।'

'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।' (कैवल्योपनिषद् ३)

'कई साधक त्यागके द्वारा ही अमृतत्वको प्राप्त हुए हैं।'

किया जाता है। जब कुछ किया ही नहीं, केवल निषिद्ध-कर्मका त्याग ही किया है, तब फलकी कामना क्यों होगी ? अतएव…… करनेका अभिमान न रहनेसे फलासक्तिका त्याग स्वतः हो जाता है। फलासक्तिका त्याग होनेपर शान्ति स्वतः सिद्ध है।

निषिद्ध-कर्म न करनेका निश्चय होनेपर दो अवस्थाएँ होती हैं—या तो विहित-कर्मोंमें प्रवृत्ति होगी या सर्वथा निवृत्ति। विहित-कर्मोंमें प्रवृत्तिसे अन्तःकरण निर्मल होता है और सर्वथा निवृत्ति होनेसे परमात्मामें स्थिति होती है। सर्वथा निवृत्तिका तात्पर्य वासनारहित अवस्थामें है न कि अकर्मण्यता या आलस्यसे; क्योंकि आलस्य आदि भी निषिद्ध-कर्म है।

कर्मयोगी अपनेको निरन्तर 'कर्ता' नहीं मानता। वह कर्म करते समय ही उस कर्मका कर्ता बनता है, दूसरे समय नहीं। कर्मका अन्त होनेके साथ ही उसके कर्तापनका भी अन्त हो जाता है। जैसे—बोलनेके समय वह 'वक्ता' बनता है, बोलना समाप्त होते ही उसका कर्तापन (मैं वक्ता हूँ) भी समाप्त हो जाता है। वास्तवमें कर्म करते समय भी वह अपनेको उस कर्मका कर्ता वैसे ही नहीं मानता, जैसे नाटकमें स्वाँगधारी व्यक्ति कर्म (अभिनय) करते हुए भी वस्तुतः अपनेको उसका कर्ता नहीं मानता। इस प्रकार कर्मयोगीका कर्तापन निरन्तर नहीं रहता। जो वस्तु निरन्तर नहीं रहती, अपितु बदलती रहती है, वह वास्तवमें नहीं होती—यह सिद्धान्त है। अतएव कर्म करते हुए भी कर्मयोगीका कर्तृत्वाभिमान सुगमतापूर्वक मिट जाता है और उसका जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

साधन-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान्‌ने नवें, दसवें और ग्यारहवें श्लोकमें क्रमशः जो तीन साधन (अभ्यासयोग, भगवदर्थ-कर्म और कर्मफलत्याग) बतलाये हैं, विचारपूर्वक देखा जाय तो उनमेंसे (कर्मफलत्यागको छोड़कर) प्रत्येक साधनमें शेष दोनों साधन भी आ जाते हैं। जैसे—(१) अभ्यासयोगमें भगवान्‌के लिये भजन, नाम-जप आदि क्रियाएँ करनेसे वह भगवदर्थ है ही और नाशवान् फलकी कामना न होनेसे उसमें कर्मफलत्याग भी है, (२) भगवदर्थ-कर्ममें भगवान्‌के लिये कर्म होनेसे अभ्यासयोग भी है और नाशवान् फलकी कामना न होनेसे कर्मफलत्याग भी है।

वास्तवमें साधकको सबसे पहले अपने लक्ष्य, ध्येय अथवा उद्देश्यको सुनिश्चित करना चाहिये। इसके बाद उसे यह पहचानना चाहिये कि उसका सम्बन्ध वास्तवमें किसके साथ है। फिर चाहे कोई भी साधन करे—अभ्यास करे, भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करे अथवा कर्मफलत्याग करे, वही साधन उसके लिये श्रेष्ठ हो जायगा। जब साधकका यह लक्ष्य हो जायगा कि उसे भगवान्‌को ही प्राप्त करना है और वह यह भी पहचान लेगा कि अनादिकालसे उसका भगवान्‌के साथ स्वतः सिद्ध सम्बन्ध है, तब कोई भी साधन उसके लिये छोटा नहीं रह जायगा। किसी साधनका छोटा या बड़ा होना लौकिक दृष्टिसे ही है। वास्तवमें मुख्यता उद्देश्यकी ही है। अतः साधकको चाहिये कि वह अपने उद्देश्यमें कभी किञ्चिन्मात्र भी शिथिलता या अनिश्चय न आने दे।

किसी साधनकी सुगमता या कठिनता साधककी 'रुचि' और 'उद्देश्य' पर निर्भर करती है । रुचि और उद्देश्य एक (भगवान्‌का) होनेसे साधन सुगम होता है तथा रुचि संसारकी और उद्देश्य भगवान्‌का होनेसे साधन कठिन हो जाता है ।

जैसे—भूख सबकी एक ही होती है और भोजन करनेपर तृप्तिका अनुभव भी सबको एक ही होता है, पर भोजनकी रुचि सबकी भिन्न-भिन्न होनेके कारण भोज्य-पदार्थ भी भिन्न-भिन्न होते हैं । इसी प्रकार साधकोंकी रुचि, विश्वास और योग्यताके अनुसार साधन भी भिन्न-भिन्न होते हैं, पर भगवान्‌की अप्राप्तिका दुःख तथा भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा (भूख) सभी साधकोंमें एक ही होती है । साधक चाहे किसी भी श्रेणीका क्यों न हो, साधनकी पूर्णताके बाद भगवत्प्राप्तिरूप आनन्दकी अनुभूति (तृप्ति) भी सबको एक-जैसी ही होती है ।

प्रस्तुत प्रकरणमें अर्जुनको निमित्त बनाकर भगवान्‌ने मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये चार साधन बतलाये हैं—(१) समर्पणयोग, (२) अभ्यासयोग, (३) भगवान्‌के लिये ही सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठान और (४) सर्वकर्मफलत्याग । यद्यपि चारों साधनोंका फल भगवत्प्राप्ति ही है, तथापि साधकोंमें रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यताकी भिन्नताके कारण ही भिन्न-भिन्न साधनोंका वर्णन हुआ है । वास्तवमें चारों ही साधन समानरूपसे स्वतन्त्र और श्रेष्ठ हैं । इसलिये साधक जो भी साधन अपनाये, उसे उस साधनको सर्वोपरि मानना चाहिये ।

अपने साधनको किसी प्रकार हीन (निम्नश्रेणीका) नहीं मानना चाहिये और साधनकी सफलता (भगवत्प्राप्ति)के विषयमें कभी निराश भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि कोई भी साधन निम्नश्रेणीका होता ही नहीं। यदि साधकका एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति हो, साधन उसकी रुचि, विश्वास तथा योग्यताके अनुसार हो, साधन पूरी शक्ति और तत्परता (लगन) से किया जाय और भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा भी तीव्र हो, तो सभी साधन एक समान हैं। साधकको उद्देश्य, सामर्थ्य एवं तत्परताके विषयमें कभी हतोत्साह नहीं होना चाहिये। भगवान् साधकसे इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूरी शक्ति और योग्यताको साधनमें लगा दे। साधक चाहे भगवत्तत्त्वको ठीक-ठीक न जाने, पर सर्वज्ञ भगवान् तो उसके उद्देश्य, भाव, शक्ति, तत्परता आदिको भलीभाँति जानते ही हैं। यदि साधक अपने उद्देश्य, भाव, चेष्टा, तत्परता, उत्कण्ठा आदिमें किसी प्रकारकी कमी न आने दे तो भगवान् स्वयं उसे अपनी प्राप्ति करा देते हैं। वास्तवमें अपने उद्योग, बल, ज्ञान आदिकी कीमतसे भगवान्‌की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। यदि भगवान्‌के दिये हुए बल, ज्ञान आदिको भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही लगा दिया जाय तो वे साधकको कृपापूर्वक अपनी प्राप्ति करा देते हैं।

संसारमें भगवत्प्राप्ति ही सबसे सुगम है और इसके सभी अधिकारी हैं; कारण कि इसीके लिये मनुष्यशरीर मिला है। सब प्राणियोंके कर्म भिन्न-भिन्न होनेके कारण किन्हीं भी दो व्यक्तियोंको संसारके पदार्थ एक समान नहीं मिल सकते, जबकि (भगवान् एक

होनेसे) भगवत्प्राप्ति सबको एक समान ही होती है; क्योंकि भगवत्प्राप्ति कर्मजन्य नहीं है। जीवात्मा परमात्माका ही अंश है और अंश अंशीको ही प्राप्त होता है, ऐसा सिद्धान्त है।

भगवान्‌की प्राप्तिमें संसारसे वैराग्य और भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा—ये दो बातें ही मुख्य हैं; इन दोनोंमेंसे किसी एक साधनके भी तीव्र होनेपर भगवत्प्राप्ति हो जाती है। फिर भी भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठामें विशेष शक्ति है।

ऊपर जो चार साधन बतलाये गये हैं, उनमेंसे प्रथम तीन साधन तो प्रधानतया भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा जाग्रत् करनेवाले हैं, और चौथा साधन (कर्मफलत्याग) मुख्यतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाला है।

साधन कोई भी हो, जब सांसारिक भोग दुःखदायी प्रतीत होने लगेंगे तथा भोगोंका हृदयसे त्याग होगा, तभी (लक्ष्य भगवान्) भगवान्‌की ओर स्वतः प्रगति होगी और भगवान्‌की ही उनको प्राप्ति हो जायगी।

इसी तरह जब भगवान् परमप्रिय लगने लगेंगे, उनके बिना रहा नहीं जायगा, उनके वियोगमें व्याकुलता होने लगेगी, तब शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—

भगवान्‌ने निर्गुण-निराकार ब्रह्म और सगुण-साकार भगवान्‌की उपासना करनेवाले उपासकोंमें सगुण-उपासकोंको श्रेष्ठ बतलाकर अर्जुनको सगुण-उपासना करनेकी आज्ञा दी। सगुण-उपासनाके

अन्तर्गत भगवान्‌ने आठवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक अपनी प्राप्तिके चार साधन बतलाये। अब तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक भगवान् पाँच प्रकरणोंमें चारों साधनोंसे सिद्धावस्थाको प्राप्त हुए अपने प्रिय भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हैं। पहला प्रकरण तेरहवें और चौदहवें दो श्लोकोंका है, जिसमें सिद्ध भक्तके बारह लक्षण बतलाये गये हैं।

श्लोक—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

भावार्थ—

एकमात्र भगवान्‌में ही आत्मीयता और प्रेम होनेसे भक्तका संसारके प्राणियोंके प्रति दयाका भाव हो सकता है, पर द्वेषका भाव होना सम्भव नहीं। अतः सिद्ध भक्तमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति द्वेषका सर्वथा अभाव होता है।

सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें सबसे पहले स्पष्टरूपसे 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' पद देकर भगवान् यह बतलाते हैं कि साधकका भी किसी प्राणीके साथ वैर-विरोध नहीं होना चाहिये। सिद्ध भक्तमें प्राणिमात्रके प्रति द्वेषका आत्यन्तिक अभाव तो होता ही है, साथ ही उसके हृदयमें सबके प्रति मित्रता और करुणाका भाव भी रहता है। एकमात्र प्रभुमें ही आत्मीयता होनेके कारण उसका शरीर और संसारके प्रति ममता (अपनेपन) का किञ्चित् भी भाव नहीं रहता। उसकी शरीरमें अहंबुद्धि भी नहीं रहती। अत्यन्त कष्टमय अथवा अत्यन्त सुखमय परिस्थितिके उपस्थित होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें समभाव

रहता है। किसी भी प्राणीके द्वारा अपने प्रति किये गये अपराधको अपराध न माननेसे वह सदैव क्षमाशील होता है। एकमात्र भगवान् ही उसकी संतुष्टिका कारण होते हैं। इसलिये वह सदा ही संतुष्ट रहता है। केवल भगवान्‌में ही रमण करनेसे वह योगी है। शरीर-सहित मन-इन्द्रियाँ भलीभाँति उसके वशमें रहते हैं। उसके निश्चयमें सर्वत्र एक भगवान्‌की ही सत्ता होती है। भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम होनेसे उसके मन और बुद्धि भगवान्‌के अर्पित रहते हैं अर्थात् उनपर उसकी किञ्चित् भी ममता नहीं रहती। ऐसे भक्तको भगवान् अपना प्रिय बतलाते हैं।

अन्वय—

सर्वभूतानाम्, एव, अद्वेष्टा, मैत्रः, च करुणः, निर्ममः, निरहंकारः, समदुःखसुखः, क्षमी ॥ १३ ॥

सततम्, संतुष्टः, योगी, यतात्मा, दृढनिश्चयः, मयि, अर्पितमनोबुद्धिः, यः, मद्भक्तः, सः, मे, प्रियः ॥ १४ ॥

पदव्याख्या—

सर्वभूतानाम् एव अद्वेष्टा—सब भूतोंमें ही द्वेषभावसे रहित। (किसी भी प्राणीके साथ—यहाँतक कि बिना कारण अपना अत्यधिक अनिष्ट करनेवालेके साथ भी जिनका द्वेषभाव नहीं है।)

अनिष्ट करनेवालोंके दो भेद हैं—(१) इष्टकी प्राप्तिमें बाधा उत्पन्न करनेवाले अर्थात् धन, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदिकी प्राप्तिमें बाधा उत्पन्न करनेवाले और (२) अनिष्ट पदार्थ, क्रिया, व्यक्ति, घटना आदिसे संयोग करानेवाले। भक्तके शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और सिद्धान्तके प्रतिकूल चाहे कोई कितना ही, किसी

प्रकारका व्यवहार करे—इष्टकी प्राप्तिमें बाधा डाले, अनिष्ट करे, निन्दा करे, अपमान करे अथवा किसी प्रकारकी आर्थिक और शारीरिक हानि पहुँचाये, पर भक्तके मनमें उसके प्रति कभी किञ्चिन्मात्र द्वेष नहीं होता; क्योंकि वह प्राणिमात्रमें अपने प्रभुको ही व्याप्त देखता है। ऐसी स्थितिमें वह विरोध करे तो किससे करे—

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

(मानस ७। ११२ ख)

इतना ही नहीं, वह तो अनिष्ट करनेवालोंकी सब क्रियाओंको भी भगवान्‌का कृपापूर्ण मङ्गलमय विधान ही मानता है।

प्राणिमात्र भगवान्‌का अंश है। अतः किसी भी प्राणीके प्रति थोड़ा भी द्वेषभाव रहना भगवान्‌के प्रति ही द्वेष है। इसलिये किसी प्राणीके प्रति द्वेष रहते हुए भगवान्‌से अभिन्नता तथा अनन्यप्रेम नहीं हो सकता। प्राणिमात्रके प्रति द्वेषभावसे रहित होनेपर ही भगवान्‌में पूर्ण प्रेम हो सकता है। इसलिये भक्तमें प्राणिमात्रके प्रति द्वेषका सर्वथा अभाव होता है।

मैत्रः च करुणः—स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु।*

भक्तके अन्तःकरणमें प्राणिमात्रके प्रति केवल द्वेषका अत्यन्त भाव ही नहीं होता, अपितु सम्पूर्ण प्राणियोंमें भगवद्भाव होनेके नाते

* यहाँ भक्तोंके जो लक्षण बतलाये गये हैं, वे ज्ञानी (गुणातीत) पुरुषोंके (गीता १४। २२—२५ में वर्णित) लक्षणोंकी अपेक्षा भी अधिक एवं विलक्षण हैं। 'मैत्रः' और 'करुणः' पद भी यहीं—भक्तोंके लक्षणोंमें ही आये हैं।

उसका सबसे मैत्री और दयाका व्यवहार भी होता है। भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गीता ५। २९)। भगवान्‌का स्वभाव भक्तमें अवतरित होनेके कारण भक्त भी सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् होता है—'सुहृदः सर्वदेहिनाम्' (श्रीमद्भागवत ३। २५। २१)। इसलिये भक्तका भी सभी प्राणियोंके प्रति किसी स्वार्थके बिना स्वाभाविक ही मैत्री और दयाका भाव रहता है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
(मानस ७। ४६)

भक्तका अपने अनिष्ट करनेवालोंके प्रति भी मित्रताका व्यवहार होता है; क्योंकि उसका भाव यह रहता है कि अनिष्ट करनेवालेने अनिष्टरूपमें भगवान्‌का विधान ही प्रस्तुत किया है। अतः उसने जो कुछ किया है, मेरे लिये ठीक ही किया है कारण कि भगवान्‌का विधान सदैव मंगलमय होता है। इतना ही नहीं, भक्त यह मानता है कि उसका अनिष्ट करनेवाला (अनिष्टमें निमित्त बनकर) उसके (भक्तके) पूर्वकृत पापकर्मोंका नाश कर रहा है; अतः वह विशेषरूपसे आदरका पात्र है।

साधकमात्रके मनमें यह भाव रहता है और रहना ही चाहिये कि उसका अनिष्ट करनेवाला उसके पिछले पापोंका फल भुगताकर उसे शुद्ध कर रहा है। जब सामान्य साधकमें भी अनिष्ट करनेवालेके प्रति मैत्री और करुणाका भाव रहता है, फिर सिद्ध भक्तका तो कहना ही क्या है ! सिद्ध भक्तका तो उसके प्रति ही क्या, प्राणिमात्रके प्रति मैत्री और दयाका विलक्षण भाव होता है।

पातञ्जलयोगदर्शनमें चित्त-शुद्धिके चार हेतु बतलाये गये हैं—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (१ । ३३)

'सुखियोंके प्रति मैत्री, दुःखियोंके प्रति करुणा, पुण्यात्माओंके प्रति मुदिता (प्रसन्नता) और पापात्माओंके प्रति उपेक्षाके भावसे चित्तमें निर्मलता आती है।'

परंतु भगवान्ने इन चारों हेतुओंको दोमें विभक्त कर दिया है—'मैत्रः च करुणः।' तात्पर्य यह है कि सिद्ध भक्तका सुखियों और पुण्यात्माओंके प्रति 'मैत्री' का भाव तथा दुःखियों और पापात्माओंके प्रति 'करुणा'का भाव रहता है।

दुःख पानेवालेकी अपेक्षा दुःख देनेवालेपर (उपेक्षाका भाव न होकर) दया होनी चाहिये; क्योंकि दुःख पानेवाला तो (पुराने पापोंका फल भोगकर) पापोंसे छूट रहा है, पर दुःख देनेवाला नया पाप कर रहा है। अतः दुःख देनेवाला दयाका विशेष पात्र है।

निर्ममः—ममतासे रहित।

यद्यपि भक्तका प्राणिमात्रके प्रति स्वभावतः मैत्री और करुणा-का भाव रहता है, तथापि उसकी किसीके प्रति किञ्चिन्मात्र भी ममता नहीं होती। प्राणियों और पदार्थोंमें ममता (मेरेपनका भाव) ही मनुष्यको संसारमें बाँधनेवाली होती है। भक्त इस ममतासे सर्वथा रहित होता है। उसकी अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिमें भी बिल्कुल ममता नहीं होती।

साधकसे भूल यह होती है कि वह प्राणियों और पदार्थोंसे तो ममता हटानेकी चेष्टा करता है, पर अपने शरीर, मन, बुद्धि

और इन्द्रियोंसे ममता हटानेकी ओर विशेष ध्यान नहीं देता। इसीलिये वह सर्वथा निर्मम नहीं हो पाता। साधक जबतक मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीरको 'अपना' मानकर उन्हें शुद्ध करनेकी चेष्टा करेगा, तबतक उसे भगवत्प्राप्तिमें विलम्ब ही होगा; क्योंकि इन्हें अपना मानना ही मूल अशुद्धि है।

निर्मम होना प्रत्येक साधनमें अत्यावश्यक है। कर्मयोगी शरीरादिको अपना न मानकर उनसे दूसरोंकी निष्कामभावसे सेवा करता है (गीता ५। ११) जिससे (निर्मम होनेसे) उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। ममतासे रहित होकर दूसरेकी सेवा (या पालन-पोषण) करनेसे सेवक (सेवा करनेवाले) तथा सेव्य (जिसकी सेवा की जाय)—दोनोंका अन्तःकरण शुद्ध होता है।* इसके विपरीत ममतासहित दूसरेकी सेवा करनेसे सेवक और सेव्य—दोनोंका अन्तःकरण (आसक्ति, कामना आदिसे) अशुद्ध होता है।

ज्ञानयोगी विवेक-विचार तथा वैराग्यसे जड़ संसारसे अपना कोई सम्बन्ध न मानकर निर्मम होता है। भक्तियोगमें भक्त प्रारम्भसे ही एक भगवान्‌के सिवा किसीको अपना नहीं मानता; अतः वह शीघ्र ही सुगमतापूर्वक निर्मम हो जाता है†।

---

* वस्तुतः सेव्यका अन्तःकरण तभी शुद्ध होगा, जब वह भी ममता-रहित हो।

† दूसरे अध्यायके इकहत्तरवें श्लोकमें, तीसरे अध्यायके तीसवें श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके तिरपनवें श्लोकमें आया 'निर्ममः' पद इसी भावको व्यक्त करता है।

निरहंकारः—अहंकारसे रहित।

शरीर, इन्द्रियाँ आदि जड़-पदार्थोंको अपना स्वरूप माननेसे 'अहंकार' उत्पन्न होता है। गीताके अनुसार अहंकार (अहंता)से रहित होना प्रत्येक साधकके लिये अत्यावश्यक है। इसीलिये दूसरे अध्यायके इकहत्तरवें श्लोकमें 'कर्मयोगी'के लिये, अठारहवें अध्यायके तिरपनवें श्लोकमें 'ज्ञानयोगी'के लिये और यहाँ (प्रस्तुत श्लोकमें) 'भक्तियोगी' के लिये अहंकाररहित होनेकी बात कही गयी है।

'कर्मयोगी' अहंकारको शुद्ध करके अहंकाररहित होता है। जैसे 'मैं पुत्र हूँ' ऐसा अहंकार रखनेवाला कर्मयोगी ऐसा मानेगा कि मैं पुत्रोचित कर्तव्य-कर्म (सेवा) करनेमात्रके लिये पुत्र हूँ, कुछ पानेके लिये नहीं।

'ज्ञानयोगी' अहंकारको मिटाता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें जड़ताका सर्वथा अभाव है, और अहंकार जड़तासे तादात्म्य होनेपर ही होता है। जब शरीर आदि जड़ पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रही तो अहंकार कैसे रह सकता है।

'भक्तियोगी' अहंकारको बदलकर अहंकाररहित होता है। जो पहले 'मैं संसारी हूँ' ऐसा मानता था, वही 'मैं भगवान्‌का ही हूँ' ऐसा मानकर अपना अहंकार बदल लेता है। वास्तवमें सम्पूर्ण प्राणी भगवान्‌के ही हैं। अतः 'मैं भगवान्‌का ही हूँ' इस वास्तविकताको स्वीकार लेनेसे भक्तका (बाँधनेवाला) अहंकार मिट जाता है।

भक्तकी अपने शरीरादिके प्रति किञ्चित् भी अहंबुद्धि न होनेके कारण एवं केवल भगवान्‌से सम्बन्ध हो जानेके कारण उसके अन्तः-

करणमें स्वतः श्रेष्ठ, दिव्य, अलौकिक गुण प्रकट होने लगते हैं। इन गुणोंको भी वह अपने गुण नहीं मानता, अपितु (दैवी-सम्पत्ति होनेसे) भगवान्‌के ही मानता है। 'सत्' (परमात्मा)के होनेके कारण ही ये गुण 'सद्‌गुण' कहलाते हैं। ऐसी दशामें भक्त उन्हें अपना मान ही कैसे सकता है! इसलिये वह अहंकारसे पूर्णतः रहित होता है।

समदुःखसुखः—सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम।

भक्त सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम रहता है अर्थात् अनुकूलता-प्रतिकूलता उसके हृदयमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार उत्पन्न नहीं कर सकते।

गीतामें 'सुख-दुःख' पद अनुकूलता-प्रतिकूलताकी परिस्थिति (जो सुख-दुःख उत्पन्न करनेमें हेतु है)के लिये तथा अन्तःकरणमें होनेवाले हर्ष-शोकादि विकारोंके लिये भी आया है।

अनुकूलता-प्रतिकूलताकी परिस्थितियाँ मनुष्यको सुखी-दुःखी बनाकर ही उसे बाँधती है। इसलिये सुख-दुःखमें सम होनेका अर्थ है—अनुकूलता या प्रतिकूलताकी परिस्थिति आनेपर अपनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंका न होना।

भक्तके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, सिद्धान्त आदिके अनुकूल या प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदिका संयोग या वियोग होनेपर उसे अनुकूलता और प्रतिकूलताका 'ज्ञान' तो होता है, पर उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोकादि कोई 'विकार' उत्पन्न नहीं होता। यहाँ यह बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिये कि किसी परिस्थितिका

ज्ञान होना अपने-आपमें कोई दोष नहीं है, अपितु उससे अन्तःकरणमें विकार उत्पन्न होना ही दोष है। भक्त राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंसे सर्वथा रहित होता है। उदाहरणार्थ—प्रारब्धानुसार भक्तके शरीरमें कोई रोग होनेपर उसे शारीरिक पीड़ाका ज्ञान (अनुभव) तो होगा; किंतु उसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका विकार नहीं होगा।

क्षमी—क्षमावान्।

अपना किसी प्रकारका भी अपराध करनेवालेको किसी भी प्रकारका दण्ड देनेकी इच्छा न रखकर उसे क्षमा कर देनेवालेको 'क्षमी' कहते हैं।

भक्तके लक्षणोंमें पहले 'अद्वेष्टा' पद देकर भगवान्‌ने भक्तमें अपना अपराध करनेवालेके प्रति द्वेषका अभाव बतलाया, अब यहाँ 'क्षमी' पदसे यह बतलाते हैं कि भक्तमें अपना अपराध करनेवालेके प्रति ऐसा भाव रहता है कि वह भगवान् अथवा अन्य किसीके द्वारा भी दण्डित न हो ऐसा क्षमाभाव भक्तिकी एक विशेषता है।

सततम् संतुष्टः—निरन्तर संतुष्ट।*

जीवको मनके अनुकूल प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थितिके संयोगमें एवं मनके प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थितिके

---

* ऐसे संतोषीके लिये भागवतकार कहते हैं—

सदा संतुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम्॥

(श्रीमद्भागवत ७। १५। १७)

'जैसे पैरोंमें जूते पहनकर चलनेवालेको कंकड़ और काँटोंसे कोई भय नहीं होता, वैसे ही जिसके मनमें संतोष है, उसके लिये सर्वदा सब जगह सुख-ही-सुख है, दुःख है ही नहीं।'

वियोगमें संतोष होता है। विजातीय एवं अनित्य पदार्थोंसे होनेके कारण यह संतोष स्थायी नहीं रह पाता। स्वयं नित्य होनेके कारण जीवको नित्य परमात्माकी अनुभूतिसे ही वास्तविक और स्थायी संतोष होता है।

भगवान्‌को प्राप्त होनेपर भक्त नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहता है; क्योंकि न तो उसका भगवान्‌से कभी वियोग होता है और न उसे नाशवान् संसारकी कोई आवश्यकता ही रहती है। अतः उसके असंतोषका कोई कारण ही नहीं रहता। इस संतुष्टिके कारण वह संसारके किसी भी प्राणी-पदार्थके प्रति किञ्चित् भी महत्त्व-बुद्धि नहीं रखता—'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः' (गीता ६। २२)।*

'संतुष्टः'के साथ 'सततम्' पद देकर भगवान्‌ने भक्तके उस नित्य-निरन्तर रहनेवाले संतोषकी ओर ही लक्ष्य कराया है, जिसमें न तो कभी कोई अन्तर पड़ता है और न कभी अन्तर पड़नेकी सम्भावना ही रहती है। कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोग—किसी भी योगमार्ग-से सिद्धि प्राप्त करनेवाले महापुरुषमें ऐसी संतुष्टि (जो वास्तवमें है) निरन्तर रहती है† ।

---

* संत कबीरदासजी कहते हैं—

गोधन गजधन बाजिधन, और रतन धन खान।
जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान॥

† दूसरे अध्यायके पचपनवें श्लोकमें 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' पदोंसे और तीसरे अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें 'आत्मन्येव च संतुष्टः' पदोंसे कर्मयोगी-की, छठे अध्यायके बीसवें श्लोकमें 'आत्मनि तुष्यति' पदोंसे ध्यानयोगीकी,

योगी—परमात्मासे युक्त ।

भक्तियोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त (नित्य-निरन्तर परमात्मासे संयुक्त) पुरुषका नाम यहाँ 'योगी' है ।

वास्तवमें किसी भी मनुष्यका परमात्मासे कभी वियोग हुआ नहीं, है नहीं, हो सकता नहीं और सम्भव ही नहीं । इस वास्तविकताका जिसने अनुभव कर लिया है, वही 'योगी' है ।

समताका नाम ही योग है—'समत्वं योग उच्यते' (गीता २ । ४८) । भक्तमें स्वाभाविक ही समता रहती है । उसमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार कभी होते ही नहीं । इस दृष्टिसे भी उसे 'योगी' कहा जाता है ।

यतात्मा—मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए ।

जिसका मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित शरीरपर पूर्ण अधिकार है, वह 'यतात्मा' है । सिद्ध भक्तको मन-बुद्धि आदि वशमें करने नहीं पड़ते, अपितु ये स्वाभाविक ही उसके वशमें रहते हैं । इसलिये उसमें किसी प्रकारके इन्द्रियजन्य दुर्गुण-दुराचारके आनेकी सम्भावना ही नहीं रहती ।

और इसी (बारहवें) अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें 'संतुष्टः' पदसे भक्तियोगीकी निरन्तर संतुष्टिका वर्णन हुआ है ।

सिद्ध भक्तमें स्वाभाविक ही निरन्तर संतोष रहता है, जब कि साधक संतोषके लिये चेष्टा करता है । दसवें अध्यायके नवें श्लोकमें 'तुष्यन्ति' पदसे साधकके संतोषकी बात कही गयी है ।

वास्तवमें संतुष्टि नित्य-निरन्तर ही रहती है, पर जड़ताके सम्बन्धसे इसकी अनुभूति नहीं होती ।

वास्तवमें मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ स्वाभाविकरूपसे सन्मार्गपर चलनेके लिये ही हैं; किंतु संसारसे रागयुक्त सम्बन्ध रहनेसे ये (मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ) मार्गच्युत हो जाती हैं। भक्तका संसारसे किञ्चित् भी रागयुक्त सम्बन्ध नहीं होता, इसलिये उसके मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ सर्वथा उसके वशमें होती हैं। अतएव उसकी प्रत्येक क्रिया दूसरोंके लिये आदर्श होती है।

ऐसा देखा जाता है कि न्याय-पथपर चलनेवाले सत्पुरुषोंकी इन्द्रियाँ भी कभी कुमार्गगामी नहीं होतीं। उदाहरणार्थ, राजा दुष्यन्तकी वृत्ति शकुन्तलाकी ओर जानेपर उन्हें दृढ़ विश्वास हो जाता है कि यह क्षत्रिय-कन्या ही है, ब्राह्मण-कन्या नहीं। कवि कालिदासके कथनानुसार जहाँ संदेह हो, वहाँ सत्पुरुषके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है—

सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥
(अभिज्ञानशाकुन्तलम् १। २१)

जब न्यायशील सत्पुरुषकी इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति भी स्वतः कुमार्गकी ओर नहीं होती, तब सिद्ध भक्त (जो न्यायधर्मसे कभी किसी अवस्थामें च्युत नहीं होता) की मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ कुमार्गकी ओर जा ही कैसे सकती हैं! भगवान्‌ने 'यतात्मा' पदसे इसी भावको व्यक्त किया है*।

दृढनिश्चयः—दृढ निश्चयवाला।

---

* पाँचवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें 'यतात्मानः' पद सिद्ध ज्ञानी महापुरुषोंके लिये और इसी (बारहवें) अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें 'यतात्मवान्' पद साधकोंके लिये आया है।

सिद्ध महापुरुषके अन्तःकरणमें शरीरसहित संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका सर्वथा अभाव रहता है। उसकी बुद्धिमें एक परमात्माकी ही अटल सत्ता रहती है। अतः उसकी बुद्धिमें विपर्यय-दोष (प्रतिक्षण बदलनेवाले संसारका स्थायी दीखना) नहीं रहता, क्योंकि सिद्ध भक्तको एक भगवान्‌के साथ ही अपने नित्यसिद्ध सम्बन्धका अनुभव होता रहता है। अतः उसका भगवान्‌में ही दृढ़ निश्चय होता है। उसका यह निश्चय बुद्धिमें नहीं, अपितु 'स्वयं'में होता है, जिसका आभास बुद्धिमें प्रतीत होता है।

संसारकी स्वतन्त्र सत्ता मानने अथवा संसारसे अपना सम्बन्ध माननेसे ही बुद्धिमें विपर्यय और संशयरूप दोष उत्पन्न होते हैं। विपर्यय और संशययुक्त बुद्धि कभी स्थिर नहीं होती। ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषकी बुद्धिके निश्चयमें ही अन्तर होता है, स्वरूपसे तो दोनों समान ही होते हैं। अज्ञानीकी बुद्धिमें संसारकी सत्ता और उसका महत्त्व रहता है, परंतु सिद्ध भक्तकी बुद्धिमें एक भगवान्‌के अतिरिक्त न तो संसारकी किसी वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता रहती है और न उसका कोई महत्त्व ही रहता है। अतः उसकी बुद्धि विपर्यय और संशयदोषसे सर्वथा रहित होती है और उसका केवल परमात्मामें ही दृढ़ निश्चय होता है*।

* दूसरे अध्यायके चौवनवें श्लोकमें 'स्थितप्रज्ञस्य' और 'स्थितधीः' पद, पचपनवें श्लोकमें 'स्थितप्रज्ञः' पद, छप्पनवें श्लोकमें 'स्थितधीः' पद तथा सत्तावनवें, अट्ठावनवें एवं इकसठवें श्लोकमें 'प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' पद, पाँचवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें 'येषां साम्ये स्थितं मनः' पद तथा बीसवें श्लोकमें 'स्थिरबुद्धिः' पद सिद्ध महापुरुषोंमें स्वतः रहनेवाले दृढ

मयि अर्पितमनोबुद्धिः—मुझ (भगवान्)में अर्पित मन-बुद्धिवाला ।

जब साधक एकमात्र भगवत्प्राप्तिको ही अपना उद्देश्य बना लेता है एवं स्वयं भगवान्‌का ही हो जाता है (जो कि वास्तवमें है); तब उसके मन-बुद्धि भी अपने-आप भगवान्‌में लग जाते हैं । फिर सिद्ध भक्तके मन-बुद्धि भगवान्‌के अर्पित रहें—इसमें तो कहना ही क्या है ?

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ स्वाभाविक ही मनुष्यका मन लगता है एवं जिसे मनुष्य सिद्धान्ततः श्रेष्ठ समझता है, उसमें स्वाभाविक ही उसकी बुद्धि लगती है । भक्तके लिये भगवान्‌से बढ़कर कोई प्रिय और श्रेष्ठ नहीं होता । भक्त तो मन-बुद्धिपर अपना अधिकार ही नहीं मानता । वह तो इन्हें सर्वथा भगवान्‌का ही मानता है । अतः उसके मन-बुद्धि स्वाभाविक ही भगवान्‌में लगे रहते हैं ।

निश्चयका बोध कराते हैं । 'स्वयं'के निश्चय (स्वतःसिद्ध अनुभव) का बुद्धिपर प्रभाव होनेके कारण उन्हें 'स्थितप्रज्ञः', 'स्थितधीः' आदि नामोंसे कहा गया है ।

दूसरे अध्यायके इकतालीसवें तथा चौवालीसवें श्लोकमें व्यवसायात्मिका बुद्धिः' पद, सातवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'दृढव्रताः' पद और उसी (नवें) अध्यायके तीसवें श्लोकमें 'सम्यग्व्यवसितः' पद साधकमें रहनेवाले दृढ़ निश्चयका बोध करानेके लिये आये हैं ।

भगवान्‌ने गीतामें इस दृढ़ निश्चयकी स्थान-स्थानपर बहुत प्रशंसा की है, क्योंकि बुद्धिके दृढ़ निश्चयसे नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव सुगमतापूर्वक हो जाता है ।

यः—जो ।

मद्भक्तः—(भक्तिमार्गसे मुझे प्राप्त हुआ) मेरा भक्त (है)*।

सः—वह ।

मे प्रियः—मुझे प्रिय है†।

भगवान्‌को तो सभी प्रिय हैं; परंतु भक्तका प्रेम भगवान्‌के अतिरिक्त और कहीं नहीं होता । ऐसी दशामें, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।' (गीता ४ । ११) 'जो मुझे जैसे भजता

---

* इसी (बारहवें) अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भी 'मद्भक्तः' पद इसी भावमें आया है ।

नवें अध्यायके चौंतीसवें और अठारहवें अध्यायके पैंसठवें श्लोकमें 'मद्भक्तः' पदसे साधकोंको भक्त बननेकी आज्ञा दी गयी है ।

सातवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें 'मद्भक्ताः' पद तथा ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें 'मद्भक्तः' पद, नवें अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें 'मे भक्तः' पद, तेरहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें 'मद्भक्तः' पद और अठारहवें अध्यायके अड़सठवें श्लोकमें 'मद्भक्तेषु' पद साधक-भक्तके वाचक हैं ।

चौथे अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'भक्तः' पदसे भगवान्‌ने अर्जुनको अपना भक्त बतलाया है । सातवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'भक्तः' पद देवताओंके भक्तके लिये आया है ।

† भगवान् श्रीराम कहते हैं—

अखिल बिस्व यह मोर उपाया । सब पर मोहि बराबरि दाया ॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया । भजै मोहि मन बच अरु काया ॥
पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ॥

(मानस उत्तर० ८७ । ४, ८७ क)

है, मैं भी उसे वैसे ही भजता हूँ'—इस प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान्‌को भक्त अत्यन्त प्रिय होता है* ॥ १३-१४ ॥

सम्बन्ध—

सिद्ध भक्तके लक्षणोंका दूसरा प्रकरण, जिसमें छः लक्षणोंका वर्णन है, निम्न श्लोकमें आया है।

श्लोक—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

भावार्थ—

इस श्लोकका विशेष तात्पर्य सिद्ध भक्तकी निर्विकारताको बतलाना है। उस भक्तसे कोई भी प्राणी उद्विग्न (विकारको प्राप्त) नहीं होता और वह स्वयं भी किसी प्राणीसे उद्विग्न नहीं होता।

विकार दो प्रकारके होते हैं—

(१) प्रकृतिके कार्य शरीरादिमें होनेवाले परिवर्तनादि विकार;

---

* सातवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें दो बार तथा इसी (बारहवें) अध्यायके पंद्रहवें, सोलहवें, सत्रहवें और उन्नीसवें श्लोकमें 'प्रियः' पद सिद्ध भक्तोंका ही वाचक है।

इसी (बारहवें) अध्यायके बीसवें श्लोकमें 'अतीव मे प्रियाः' पद साधक भक्तके लिये प्रयुक्त हुआ है।

नवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें, ग्यारहवें अध्यायके चौवालीसवें श्लोकमें और सत्रहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'प्रियः' पद साधारण प्रियताके लिये आये हैं।

दसवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'प्रीयमाणाय' पदसे और अठारहवें अध्यायके पैंसठवें श्लोकमें 'प्रियः' पदसे भगवान्‌ने अर्जुनको अपना प्रिय कहा है।

जैसे—बालकपनसे वृद्धावस्थाको प्राप्त होना, शरीरमें रोगादिका होना इत्यादि । ये शारीरिक विकार सिद्ध भक्तके भी होते हैं; क्योंकि ये शरीरके अपरिहार्य धर्म हैं । अतः इनका होना कोई दोष नहीं है ।

(२) जड-चेतनके माने हुए सम्बन्धसे अन्तःकरणमें होनेवाले विकार; जैसे—राग-द्वेष, काम-क्रोध, हर्ष-शोक आदि । ये विकार सिद्ध भक्तके अन्तःकरणमें हो ही नहीं सकते, क्योंकि उसका जडतासे किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं होता । इन विकारोंका होना दोष माना गया है । अतः साधकको भी इनसे सर्वथा मुक्त होना चाहिये ।

किसी भी प्राणीसे उद्विग्न न होनेका अर्थ यही समझना चाहिये कि दूसरे प्राणियोंके द्वारा होनेवाले किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल व्यवहारसे भक्तके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, भय-चिन्ता, सन्ताप-क्षोभ आदि विकार होते ही नहीं । उसकी दृष्टिमें भगवान्‌के अतिरिक्त संसारका किञ्चित् भी स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व न होनेसे वह इन विकारोंसे सर्वथा मुक्त होता है । इन विकारोंसे मुक्त हुआ भक्त भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय होता है । भगवान्‌के अतिरिक्त उसे कोई भी, किञ्चित् भी प्रिय नहीं होता । भगवान्‌में उसका स्वतःसिद्ध प्रेम होता है ।

अन्वय—

यस्मात्, लोकः, न, उद्विजते, च, यः, लोकात्, न, उद्विजते, च, यः, हर्षामर्षभयोद्वेगैः, मुक्तः, सः, मे, प्रियः ॥ १५ ॥

पद-व्याख्या—

यस्मात् लोकः न उद्विजते—जिससे कोई भी प्राणी उद्विग्न नहीं होता ।

भक्त सर्वत्र और सबमें अपने परमप्रिय प्रभुको ही देखता है। अतः उसकी दृष्टिमें मन, वाणी और शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ एकमात्र भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होती हैं*। ऐसी अवस्थामें भक्त किसी प्राणीको कैसे उद्वेग पहुँचा सकता है? फिर भी भक्तोंके चरित्रमें यह देखनेमें आता है कि उनकी महिमा, आदर-सत्कार तथा कहीं-कहीं उनकी क्रिया, यहाँतक कि उनकी सौम्य आकृतिमात्रसे भी कुछ लोग ईर्ष्यावश उद्विग्न हो जाते हैं और भक्तोंसे अकारण द्वेष और विरोध करने लगते हैं। यही नहीं, वे लोग उन्हें दुःख पहुँचानेकी कुचेष्टा भी कर बैठते हैं; किंतु भक्त उनसे उद्विग्न नहीं होता। यह भक्तकी महिमा है।

लोगोंको भक्तसे होनेवाले कथित उद्वेगके सम्बन्धमें गम्भीर विचार किया जाय, तो यही पता चलेगा कि भक्तकी क्रियाएँ कभी किसीके उद्वेगका कारण नहीं होतीं; क्योंकि भक्त प्राणिमात्रमें भगवान्‌को ही देखता है—'वासुदेवः सर्वम्' (गीता ७। १९)। उसकी मात्र क्रियाएँ स्वभावतः प्राणियोंके परमहितके लिये ही होती हैं। उसके द्वारा कभी भूलसे भी किसीके अहितकी चेष्टा नहीं होती; क्योंकि उसका उद्देश्य या भाव प्राणिमात्रका हित करनेका

---

* सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
(गीता ६। ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।'

होता है—'सर्वभूतहिते रताः' (गीता ५ । २५; १२ । ४) । इसलिये जिन्हें उससे उद्वेग होता है, वह उनके अपने राग-द्वेषयुक्त आसुरी स्वभावके कारण ही होता है । अपने ही दोषयुक्त स्वभावके कारण उन्हें भक्तकी हितपूर्ण चेष्टाएँ भी उद्वेगजनक प्रतीत होती हैं । इसमें भक्तका क्या दोष ? भर्तृहरिजी कहते हैं—

> मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम् ।
> लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ॥
> (नीतिशतक ६१)

'हरिण, मछली और सज्जन क्रमशः तृण, जल और संतोषपर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं (किसीको कुछ नहीं कहते); परंतु व्याध, मछुए और दुष्ट लोग अकारण ही इनसे वैर करते हैं ।'

वास्तवमें भक्तोंद्वारा दूसरे प्राणियोंके उद्विग्न होनेका प्रश्न ही नहीं उठता, अपितु भक्तोंके चरित्रमें ऐसे प्रसङ्ग देखनेमें आते हैं कि उनसे वैमनस्य रखनेवाले लोग भी उनके चिन्तन और सङ्ग (दर्शन-स्पर्श-वार्तालाप)के प्रभावसे अपना आसुरी स्वभाव छोड़कर भक्त हो गये । ऐसा होनेमें भक्तोंका उदारतापूर्ण स्वभाव ही हेतु है । गोस्वामी तुलसीदासने कहा है—

> उमा संत कइ इहइ बड़ाई । मंद करत जो करइ भलाई ॥
> (मानस ५ । ४१ । ४)

किंतु भक्तोंसे द्वेष करनेवाले सभी लोग लाभान्वित होते हों ऐसा नियम भी नहीं है ।

यदि ऐसा मान लिया जाय कि भक्तसे किसीको उद्वेग होता ही नहीं अथवा दूसरे लोग भक्तके विरुद्ध कोई चेष्टा करते ही नहीं

या भक्तके शत्रु-मित्र होते ही नहीं, तो फिर भक्तके लिये शत्रु-मित्र, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदिमें 'सम' होनेकी बात (जो आगे अठारहवें-उन्नीसवें श्लोकोंमें कही गयी है) नहीं कही जाती। तात्पर्य यह है कि लोगोंको अपने आसुरी स्वभावके कारण भक्तकी हितकर क्रियाओंसे भी उद्वेग हो सकता है और वे बदलेकी भावनासे भक्तके विरुद्ध चेष्टा कर सकते हैं तथा अपनेको उस भक्तका शत्रु मान सकते हैं; परंतु भक्तकी दृष्टिमें न तो कोई शत्रु होता है और न किसीको उद्विग्न करनेका उसका भाव ही होता है।

च यः लोकात् न उद्विजते—और जो (स्वयं भी) किसी प्राणीसे उद्विग्न नहीं होता।

पहले भगवान्‌ने बतलाया कि भक्तसे किसी प्राणीको उद्वेग नहीं होता और अब उपर्युक्त पदोंसे यह बतलाते हैं कि भक्तको स्वयं भी किसी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता। इसके दो कारण हैं—

(१) भक्तके शरीर, मन, इन्द्रियों, सिद्धान्त आदिके विरुद्ध भी अनिच्छा या परेच्छासे क्रियाएँ और घटनाएँ हो सकती हैं। परंतु वास्तविकताका बोध होने तथा भगवान्‌में अतिशय प्रेम होनेके कारण भक्त भगवत्प्रेममें इतना निमग्न रहता है कि उसे सर्वत्र और सबमें भगवान्‌के ही दर्शन होते हैं। इसलिये प्राणिमात्रकी क्रियाओंमें (चाहे उनमें कुछ उसके प्रतिकूल ही क्यों न हों) उसे भगवान्‌की ही लीला दिखायी देती है। इस कारण उसे किसी भी क्रियासे कभी उद्वेग नहीं होता।

(२) मनुष्यको दूसरोंसे उद्वेग तभी होता है, जब उसकी कामना, मान्यता, साधना, धारणा आदिका विरोध होता है। भक्त सर्वथा पूर्णकाम होता है। इसलिये दूसरोंसे उद्विग्न होनेका कोई कारण ही नहीं रहता।

च—तथा

यः—जो।

हर्षामर्षभयोद्वेगैः—हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगसे रहित है।

'हर्ष'का तात्पर्य है—प्रसन्नता। प्रसन्नता तीन प्रकारकी होती है—तामसी, राजसी और सात्त्विक। निद्रा, आलस्य और प्रमादमें अज्ञानी पुरुषोंको जो प्रसन्नता होती है, वह 'तामसी' है*। ऐसी प्रसन्नता सर्वथा त्याज्य है। शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियोंके अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, घटनाके संयोगसे एवं प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, घटनाके वियोगसे साधारण मनुष्योंके हृदयमें जो प्रसन्नता होती है, वह 'राजसी' है। तात्पर्य यह कि सांसारिक सम्बन्धोंसे जो भी प्रसन्नता होती है, वह सब राजसी है। यद्यपि राजसी प्रसन्नता आरम्भमें सुखरूप प्रतीत होती है, तथापि परिणाममें वह दुःखदायी होती है।† रागरहित होकर सांसारिक विषयोंका सेवन करने, संसारके प्रति त्यागका भाव होने, परमात्मामें बुद्धि लग जाने, भगवान्‌के गुण-प्रभाव-

* यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ (गीता १८। ३९)

† विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ (गीता १८। ३८)

तत्त्व-रहस्य-लीला आदिकी बातें सुनने एवं सत्-शास्त्रोंके अध्ययनसे साधकोंके चित्तमें जो प्रसन्नता होती है, वह 'सात्त्विक' है।*

संसारसे वैराग्य होनेपर साधकका भगवान्‌में स्वतः अनुराग होता है। फिर भगवान्‌के मिलनेमें विलम्ब होनेसे साधकके चित्तमें एक व्याकुलता उत्पन्न होती है। यह व्याकुलता भी सात्त्विक प्रसन्नताका ही अङ्ग है। यदि इस (सात्त्विक) प्रसन्नताका उपभोग किया जाय, तो यह मिट जाती है। इसका उपभोग साधनमें बाधा ही डालता है— 'सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ' (गीता १४ । ६)। इसलिये साधकको चाहिये कि इस प्रसन्नताका उपभोग न करे और संसारसे विमुख होकर केवल परमात्माकी ओर ही अपना लक्ष्य रखे। इस प्रसन्नतामें ऐसी शक्ति है कि यह व्याकुलताको समाप्त करके स्वयं भी शान्त और एकरस हो जाती है, वैसे ही जैसे काठको जलाकर अग्नि। फलस्वरूप साधकको महान् आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है†।

यहाँ 'हर्षसे मुक्त' होनेका तात्पर्य यह है कि सिद्ध भक्त सब प्रकारके (सात्त्विक, राजस और तामस) हर्षादि विकारोंसे सर्वथा रहित होता है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सिद्ध भक्त सर्वथा हर्षरहित (प्रसन्नताशून्य) होता है, प्रत्युत उसकी प्रसन्नता तो नित्य, एकरस, विलक्षण और अलौकिक होती है । हाँ, उसकी

---

* अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ (गीता १८।३६-३७)

† प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ (गीता २ । ६५)

प्रसन्नता सांसारिक पदार्थोंके संयोग-वियोगसे उत्पन्न, क्षणिक, नाशवान् एवं घटने-बढ़नेवाली नहीं होती।* सर्वत्र भगवद्बुद्धि रहनेसे एकमात्र अपने इष्टदेव भगवान्‌को और उनकी लीलाओंको देख-देखकर वह स्वभावतः सदा ही प्रसन्न रहता है† ।

किसीके उत्कर्ष (उन्नति)को सहन न करना 'अमर्ष' कहलाता है। दूसरे लोगोंको अपने समान या अपनेसे अधिक सुख-सुविधा, धन, विद्या, महिमा, आदर-सत्कार आदि प्राप्त हुआ देखकर साधारण मनुष्यके अन्तःकरणमें उनके प्रति ईर्ष्या होने लगती है; क्योंकि उसे दूसरोंका उत्कर्ष सहन नहीं होता। कई बार कुछ साधकोंके अन्तःकरणमें भी दूसरे साधकोंकी आध्यात्मिक उन्नति और प्रसन्नता देखकर अथवा सुनकर किञ्चित् ईर्ष्याका भाव उत्पन्न हो जाता है। पर भक्त

---

* इसी (बारहवें) अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें 'न हृष्यति' पदसे भी यही बतलाया गया है कि सांसारिक संयोग वियोगजन्य हर्ष सिद्ध भक्तको नहीं होता।

† पहले अध्यायके बारहवें श्लोकमें 'तस्य सञ्जनयन्हर्षं' पदोंमें और अठारहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'हर्षशोकान्वितः' पदमें आया 'हर्ष' शब्द राजसी प्रसन्नताके लिये प्रयुक्त हुआ है।

दूसरे अध्यायके चौंसठवें श्लोकमें 'प्रसादम्' पद, ग्यारहवें अध्यायके पैंतालीसवें श्लोकमें 'हृषित' पद, सत्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'मनःप्रसादः' पद तथा अठारहवें अध्यायके सैंतीसवें श्लोकमें 'आत्मबुद्धिप्रसादजम्' पद और छिहत्तरवें-सतहत्तरवें श्लोकोंमें 'हृष्यामि' पद सात्त्विक प्रसन्नताके अर्थमें आये हैं।

ग्यारहवें अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें 'प्रसन्नेन' पद तथा अठारहवें अध्यायके अट्ठावनवें और बासठवें श्लोकमें 'प्रसादात्' पद भगवान्‌की कृपाके द्योतक हैं।

इस विकारसे सर्वथा रहित होता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें अपने प्रिय प्रभुके अतिरिक्त अन्य किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं। फिर वह किसके प्रति और क्यों अमर्ष करे ?*

यदि साधकके हृदयमें दूसरोंकी आध्यात्मिक उन्नति देखकर ऐसा भाव उत्पन्न होता है कि मेरी भी ऐसी ही आध्यात्मिक उन्नति हो, तो यह भाव उसके साधनमें सहायक होता है। इसके विपरीत यदि साधकके हृदयमें कदाचित् ऐसा भाव उत्पन्न हो जाय कि इसकी उन्नति क्यों हो गयी, तो ऐसे कुभावके कारण उसके हृदयमें अमर्षका भाव उत्पन्न हो जायगा, जो उसे पतनकी ओर ले जानेवाला होगा।

इष्टके वियोग और अनिष्टके संयोगकी आशङ्कासे उत्पन्न होनेवाले विकारको 'भय' कहते हैं। भय दो कारणोंसे होता है—(१) बाहरी कारणोंसे; जैसे—सिंह, साँप, चोर, डाकू आदिसे अनिष्ट होने अथवा किसी प्रकारकी सांसारिक हानि पहुँचनेकी आशङ्कासे होनेवाला भय और (२) आन्तरिक कारणोंसे; जैसे—चोरी, झूठ, कपट, व्यभिचार आदि शास्त्रविरुद्ध भावों तथा आचरणोंसे होनेवाला भय।

सबसे विकट भय मृत्युका होता है। विवेकशील कहे जानेवाले पुरुषोंको भी प्रायः मरणका भय बना रहता है† । साधकको भी : सत्सङ्ग-भजन-ध्यानादि साधनोंसे शरीरके कृश होने आदिका रहता है। उसे कभी-कभी ऐसा भय भी होता है कि संसारसे

* चौथे अध्यायके बाईसवें श्लोकमें भी 'विमत्सरः' पदसे साधकमें अमर्षका अभाव बतलाया गया है।

† स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥

(पातञ्जलयोगदर्शन २ । ९)

सर्वथा वैराग्य हो जानेपर मेरे शरीर और परिवारका पालन कैसे होगा ! साधारण मनुष्यको मनोनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें बाधा पहुँचाने-वाले अपनेसे बलवान् मनुष्यसे भय होता है। ये सभी भय केवल शरीर (जडता) के आश्रयसे ही उत्पन्न होते हैं। भक्त सर्वथा भगवच्चरणोंके आश्रित रहता है, इसलिये वह सदैव भय-रहित होता है। साधकको भी तभीतक भय रहता है, जबतक वह सर्वथा भगवच्चरणोंके आश्रित नहीं हो जाता।

सिद्ध भक्तको सदा, सर्वत्र अपने प्रिय प्रभुकी लीला ही दीखती है। फिर भगवान्की लीला उसके हृदयमें भय कैसे उत्पन्न कर सकती है *!

मनका एकरूप न रहकर हलचलयुक्त हो जाना 'उद्वेग' कहलाता है। इस (पन्द्रहवें) श्लोकमें 'उद्वेग' शब्दका तीन बार उल्लेख हुआ है। पहली बार उद्वेगकी बात कहकर भगवान्ने यह बतलाया कि भक्तकी कोई भी क्रिया, उसकी ओरसे किसी प्राणीके उद्वेगका कारण नहीं होती। दूसरी बार उद्वेगकी बात कहकर यह बतलाया कि दूसरे प्राणियोंकी किसी भी क्रियासे भक्तके अन्तःकरणमें उद्वेग नहीं होता। इसके अतिरिक्त अन्य कई कारणोंसे भी मनुष्यको

---

* दूसरे अध्यायके पैंतीसवें तथा चालीसवें श्लोकोंमें 'भयात्' पद, तीसरे अध्यायके पैंतीसवें श्लोकमें 'भयावहः' पद, दसवें अध्यायके चौथे श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके पैंतीसवें श्लोकमें 'भयम्' पद, ग्यारहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'भयानकानि' पद, पैंतालीसवें श्लोकमें 'भयेन' पद और अठारहवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें 'भयाभये' पदके अन्तर्गत 'भय' शब्द भयरूप विकारके ही द्योतक हैं।

उद्वेग हो सकता है; जैसे बार-बार प्रयत्न करनेपर भी अपना कार्य पूर्ण न होना, कार्यका इच्छानुसार फल न मिलना, अनिच्छासे ऋतु-परिवर्तन, भूकम्प, बाढ़ आदि दुःखप्रद घटनाएँ घटित होना, अपनी कामना, मान्यता, सिद्धान्त अथवा साधनमें विघ्न पड़ना आदि । भक्त इन सभी प्रकारके उद्वेगोंसे सर्वथा मुक्त होता है—यह बतलानेके लिये ही तीसरी बार उद्वेगकी बात कही गयी है । तात्पर्य यह है कि भक्तके अन्तःकरणमें 'उद्वेग' नामकी कोई वस्तु रहती ही नहीं ।

उद्वेग उत्पन्न होनेमें अज्ञानजनित इच्छा और आसुर-स्वभाव ही कारण है । भक्तमें अज्ञानका सर्वथा अभाव होनेसे कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं रहती, फिर आसुर-स्वभाव तो साधनावस्थामें ही नष्ट हो जाता है । भगवान्‌की इच्छा ही भक्तकी इच्छा होती है । भक्त स्वकृत क्रियाओंके फलरूपमें अथवा अनिच्छासे प्राप्त अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिमें भगवान्‌का कृपापूर्ण विधान ही देखता है और निरन्तर आनन्दमें मग्न रहता है । अतः भक्तमें उद्वेगका अत्यन्ताभाव होता है *।

'मुक्तः' पदका अर्थ है—विकारोंसे सर्वथा छूटा हुआ । अन्तःकरणमें संसारका आदर रहनेसे अर्थात् परमात्मामें पूर्णतया मन-बुद्धि न लगनेसे ही हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादि विकार

---

* दूसरे अध्यायके छप्पनवें श्लोकमें 'अनुद्विग्नमनाः' पदसे सिद्ध महापुरुषको किसी प्रकारकी प्रतिकूलता और अप्रियकी प्राप्तिपर उद्वेग न होनेकी बात कही गयी है ।

सत्रहवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें 'अनुद्वेगकरम्' पद उद्वेग उत्पन्न न करनेवाली वाणीके लिये आया है ।

उत्पन्न होते हैं। परंतु भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य किसीकी स्वतन्त्र सत्ता एवं महत्ता न रहनेसे उसमें ये विकार उत्पन्न ही नहीं होते। उसमें स्वाभाविक ही सद्गुण-सदाचार रहते हैं।

इस श्लोकमें भगवान्‌ने 'भक्त' पद न देकर 'युक्त' पद दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि भक्त यावन्मात्र दुर्गुण-दुराचारोंसे सर्वथा रहित होता है।

गुणोंका अभिमान होनेसे दुर्गुण अपने-आप आ जाते हैं। मनुष्यमें गुणोंका अभिमान तभीतक होता है, जबतक उसमें कुछ अवगुण रहता है। जैसे, मनुष्यको सत्य बोलनेका अभिमान तभी-तक होता है, जबतक वह कुछ-न-कुछ असत्य बोलता है। पूर्ण सत्य बोलनेवालेको कभी सत्य बोलनेका अभिमान नहीं हो सकता। अपनेमें किसी गुणके आनेपर अभिमानरूप दुर्गुण उत्पन्न हो जाय तो उस गुणको गुण कैसे माना जा सकता है? दैवीसम्पत्ति (सद्गुण) से कभी आसुरी-सम्पत्ति (दुर्गुण) उत्पन्न नहीं हो सकती। यदि दैवी-सम्पत्तिसे आसुरी-सम्पत्तिकी उत्पत्ति होती तो 'दैवी संपद्विमोक्षाय' (गीता १६। ५)—इन भगवद्वचनोंके अनुसार मनुष्य मुक्त कैसे होता? वस्तुतः गुणोंके अभिमानमें गुण कम तथा अभिमान (दुर्गुण) अधिक होता है। अभिमानसे दुर्गुणोंकी वृद्धि होती है; क्योंकि सभी दुर्गुण-दुराचार अभिमानके ही आश्रित रहते हैं।

भक्तको तो प्रायः इस बातका ज्ञान ही नहीं रहता कि मुझमें कोई गुण है। यदि उसे अपनेमें कभी गुण दीखता भी है, तो वह उसे भगवान्‌का ही मानता है अपना नहीं। इस प्रकार गुणोंका

अभिमान न होनेके कारण भक्त सभी दुर्गुण-दुराचारों, विकारोंसे मुक्त होता है* ।

सः—वह (भक्त) ।

मे—मुझे ।

प्रियः—प्रिय है ।

भक्तको भगवान् अत्यन्त प्रिय होते हैं, इसलिये भगवान्को भी भक्त अत्यन्त प्रिय होते हैं† ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—

सिद्ध भक्तके छः लक्षणोंका निर्देश करनेवाला तीसरा प्रकरण निम्न श्लोकके अन्तर्गत आया है ।

---

* तीसरे अध्यायके नवें श्लोकमें 'मुक्तसङ्गः' पदसे साधकोंको आसक्ति-रहित होनेके लिये कहा गया है । चौथे अध्यायके तेईसवें श्लोकमें 'मुक्तस्य' पदसे सिद्ध कर्मयोगीके सर्वथा आसक्ति-रहित होनेकी बात कही गयी है । पाँचवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें 'मुक्तः' पदसे साधकको विकारोंसे मुक्त बतलाया गया है । अठारहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें 'मुक्तसङ्गः' पदसे सात्त्विक कर्ताका आसक्ति-रहित होना बतलाया गया है । अठारहवें अध्यायके ही चालीसवें श्लोकमें 'मुक्तम्' पदसे यह बतलाया गया है कि त्रिलोकीमें कोई भी प्राणी-पदार्थ सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंसे रहित नहीं है और इकहत्तरवें श्लोकमें 'मुक्तः' पदका [illegible] करके यह बतलाया गया है कि गीता-श्रवणसे मनुष्य पापोंसे छूट [illegible]ता है ।

† प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ (गीता ७ । १७)

'मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानी भक्तको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह [illegible] भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है ।'

श्लोक—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

भावार्थ—

भगवान्‌को प्राप्त होनेपर भक्त पूर्णकाम हो जाता है । अतः उसके मनमें किसी क्रिया, पदार्थ आदिकी इच्छा, वासना और स्पृहा नहीं रहती । उसमें स्वतः महान् पवित्रता आ जाती है । वह करने-योग्य कार्य सम्पन्न कर चुका है । विवादग्रस्त विषयोंमें वह तटस्थ रहता है । उसके अन्तःकरणमें राग द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार नहीं होते । किसी भी कर्ममें उसे कर्तापनका अभिमान नहीं होता । शास्त्रविहित क्रियाएँ करते हुए भी वह संसारसे सर्वथा निर्लिप्त रहते हुए एकमात्र भगवान्‌में ही तन्मय रहता है । ऐसा भक्त भगवान्‌को प्रिय होता है ।

अन्वय—

यः, अनपेक्षः शुचिः, दक्षः, उदासीनः, गतव्यथः, सर्वारम्भपरित्यागी, सः, मद्भक्तः, मे, प्रियः ॥ १६ ॥

पद-व्याख्या—

यः—जो ।

अनपेक्षः—आकाङ्क्षासे रहित ।

भक्त भगवान्‌को ही सर्वोत्तम मानता है । उसकी दृष्टिमें भगवत्प्राप्तिसे बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं होता—**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।** (गीता ६ । २२) अतः संसारकी किसी भी वस्तुमें उसका किञ्चित् भी आकर्षण नहीं होता । इतना ही नहीं, अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धिमें भी उसका

अपनापन नहीं रहता, अपितु वह उन्हें भी भगवान्‌का ही मानता है, जो वास्तवमें भगवान्‌के ही हैं। अतः उसे शरीर-निर्वाहकी भी चिन्ता नहीं होती। फिर वह और किस बातकी अपेक्षा करे? अर्थात् फिर उसे किसी भी वस्तुकी इच्छा-वासना-स्पृहा नहीं रहती।

भक्तपर चाहे कितनी ही बड़ी आपत्ति आ जाय, आपत्तिका ज्ञान होनेपर भी उसके चित्तपर प्रतिकूल प्रभाव नहीं होता। विकट-से-विकट परिस्थितिमें भी भक्त भगवान्‌की लीलाका अनुभव करके मुग्ध रहता है। इसलिये वह किसी प्रकारकी अनुकूलताकी कामना नहीं करता।

नाशवान् पदार्थ तो रहते नहीं, उनका वियोग अवश्यम्भावी है और अविनाशी परमात्मासे कभी वियोग होता ही नहीं—इस वास्तविकताको जाननेके कारण भक्तमें स्वाभाविक ही नाशवान् पदार्थोंकी इच्छा उत्पन्न नहीं होती।

यह बात विशेषरूपसे ध्यान देनेकी है कि केवल इच्छा करनेसे शरीर-निर्वाहके पदार्थ मिलते हों तथा इच्छा न करनेसे न मिलते हों—ऐसा कोई नियम नहीं है। वास्तवमें शरीर-निर्वाहकी अपेक्षित (आवश्यक) सामग्री स्वतः प्राप्त होती है; क्योंकि जीवमात्रके शरीर-निर्वाहकी अपेक्षित सामग्रीका प्रबन्ध भगवान्‌की ओरसे पहले ही हुआ रहता है। इच्छा करनेसे तो आवश्यक वस्तुओंकी प्राप्तिमें अवरोध ही आता है। यदि मनुष्य किसी वस्तुको अपने लिये अत्यधिक आवश्यक समझकर 'वह वस्तु कैसे मिले; कहाँ मिले; कब मिले'—ऐसी प्रबल इच्छाको अपने अन्तःकरणमें पकड़े रहता है, तो उसकी

उस इच्छाका विस्तार नहीं हो पाता अर्थात् उसकी वह इच्छा दूसरे लोगोंके अन्तःकरणतक नहीं पहुँच पाती। फलतः दूसरे लोगोंके अन्तःकरणमें उस आवश्यक वस्तुको देनेकी इच्छा या प्रेरणा नहीं होती। प्रायः देखा जाता है कि लेनेकी प्रबल इच्छा रखनेवाले (चोर आदि) को कोई देना नहीं चाहता। इसके विपरीत किसी वस्तुकी इच्छा न रखनेवाले विरक्त त्यागी और बालककी आवश्यकताओंका अनुभव अपने-आप दूसरोंको होता है, जिसके फलस्वरूप दूसरे उनके शरीर-निर्वाहका अपने-आप प्रसन्नतापूर्वक प्रबन्ध करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि इच्छा न करनेसे जीवन-निर्वाहकी आवश्यक वस्तुएँ बिना माँगे स्वतः मिलती हैं। अतः अपेक्षित वस्तुओंकी इच्छा करना केवल मूर्खता और अकारण दुःख पाना ही है। सिद्ध भक्तको तो अपने कहे जानेवाले शरीरकी भी अपेक्षा नहीं होती; इसलिये वह सर्वथा निरपेक्ष होता है।

किसी-किसी भक्तको तो इसकी भी अपेक्षा नहीं होती कि भगवान् दर्शन दें! भगवान् दर्शन दें तो आनन्द, न दें तो भी आनन्द! वह तो सदा भगवान्‌की प्रसन्नता और कृपाको देखकर मस्त रहता है। ऐसे निरपेक्ष भक्तके पीछे-पीछे भगवान् भी घूमा करते हैं! भगवान् स्वयं कहते हैं—

> निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
> अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥
>
> (श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

'जो निरपेक्ष (किसीकी अपेक्षा न रखनेवाला), निरन्तर मेरा मनन करनेवाला, शान्त, द्वेष-रहित और सबके प्रति समान दृष्टि

रखनेवाला है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं सदा यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसकी चरण-रज मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।'

किसी वस्तुकी इच्छाको लेकर भगवान्‌की भक्तिमें प्रवृत्त होनेवाला मनुष्य वस्तुतः उस इच्छित वस्तुका ही भक्त होता है, क्योंकि (मुख्य लक्ष्य वस्तुकी ओर रहनेसे) वह वस्तुके लिये ही भगवान्‌की भक्ति करता है, न कि भगवान्‌के लिये। परंतु भगवान्‌की यह उदारता है कि उसे भी अपना भक्त मानते हैं*; क्योंकि वह इच्छित वस्तुके लिये किसी दूसरेपर भरोसा न रखकर अर्थात् केवल भगवान्‌पर भरोसा रखकर ही भजन करता है। इतना ही नहीं, भगवान् भक्त ध्रुवकी भाँति उस (अर्थार्थी भक्त) की इच्छा पूर्ण करके उसे सर्वथा निःस्पृह भी बना देते हैं।

शुचिः—बाहर-भीतरसे पवित्र।

शरीरमें अहंता-ममता (मैं-मेरापन) न रहनेसे भक्तका शरीर अत्यन्त पवित्र होता है। अन्तःकरणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोधादि विकारोंके न रहनेसे उनका अन्तःकरण भी अत्यन्त

---

* चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
(गीता ७। १६)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी (सांसारिक पदार्थोंके लिये भजनेवाले), आर्त (सङ्कट-निवारणके लिये भजनेवाले), जिज्ञासु (भगवान्‌को तत्त्वसे जाननेकी इच्छासे भजनेवाले) और ज्ञानी (भगवत्प्राप्त प्रेमी भक्त)—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझे भजते हैं।'

पवित्र होता है। ऐसे (बाहर-भीतरसे अत्यन्त पवित्र) भक्तके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे दूसरे लोग भी पवित्र हो जाते हैं। तीर्थ सब लोगोंको पवित्र करते हैं, किंतु ऐसे भक्त तीर्थोंको भी तीर्थत्व प्रदान करते हैं अर्थात् तीर्थ भी उनके चरण-स्पर्शसे पवित्र हो जाते हैं (पर भक्तोंके मनमे ऐसा अहंकार नहीं होता)। ऐसे भक्त अपने हृदयमें विराजित 'पवित्राणां पवित्रम्' (पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले) भगवान्‌के प्रभावसे तीर्थोंको भी महातीर्थ बनाते हुए विचरण करते हैं—

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्भा० १। १३। १०)

महाराज भगीरथ गङ्गाजीसे कहते हैं—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥

(श्रीमद्भा० ९। ९। ६)

'माता! जिन्होंने लोक-परलोककी समस्त कामनाओंका त्याग कर दिया है, जो संसारसे उपरत होकर अपने-आपमें शान्त हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ और लोकोंको पवित्र करनेवाले परोपकारी साधु पुरुष हैं, वे अपने अङ्ग-स्पर्शसे तुम्हारे (पापियोंके अङ्गस्पर्शसे आये) समस्त पापोंको नष्ट कर देंगे; क्योंकि उनके हृदयमें समस्त पापोंका नाश करनेवाले भगवान् सर्वदा निवास करते हैं।'*

---

* छठे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें 'शुचौ' पद पवित्र स्थानके लिये, इकतालीसवें श्लोकमें 'शुचीनाम्' पद पवित्र पुरुषोंके लिये और सत्रहवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'शौचम्' पद शरीरकी पवित्रताके

दक्षः—चतुर ।

जिसने करनेयोग्य कर लिया है, वही दक्ष है । मानव-जीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही है । इसीके लिये मनुष्यशरीर मिला है । अतः जिसने अपना उद्देश्य पूरा कर लिया अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त कर लिया, वही 'दक्षः' अर्थात् चतुर है । भगवान् कहते हैं—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २९ । २२)

'विवेकियोंके विवेक और चतुरोंकी चतुराईकी पराकाष्ठा इसीमें है कि वे इस विनाशी और असत्य शरीरके द्वारा मुझ अविनाशी एवं सत्य तत्त्वको प्राप्त कर लें ।'

सांसारिक दक्षता (चतुराई) वास्तवमें दक्षता नहीं है । एक दृष्टिसे तो व्यवहारमें अधिक दक्षता होना कलंक ही है; क्योंकि इससे अन्तःकरणमें जड़ पदार्थोंका आदर बढ़ता है, जो मनुष्यके पतनका कारण होता है ।

सिद्ध भक्तमें व्यावहारिक (सांसारिक) दक्षता भी होती है । परंतु व्यावहारिक दक्षताको पारमार्थिक स्थितिकी कसौटी मानना वस्तुतः सिद्ध भक्तका अपमान ही करना है ।*

उदासीनः—पक्षपातसे रहित ।

लिये आया है । तेरहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें, सोलहवें अध्यायके तीसरे और सातवें श्लोकोंमें तथा अठारहवें अध्यायके बयालीसवें श्लोकमें 'शौचम्' पद बाहर-भीतरकी पवित्रताके लिये आये हैं ।

* अठारहवें अध्यायके तैंतालीसवें श्लोकमें 'दाक्ष्यम्' पद क्षत्रियके स्वाभाविक धर्मका बोधक है ।

'उदासीन' शब्दका अर्थ है—उत्+आसीन अर्थात् ऊपर बैठा हुआ, तटस्थ, पक्षपातसे रहित।

विवाद करनेवाले दो व्यक्तियोंके प्रति जिसका सर्वथा तटस्थ भाव रहता है, उसे उदासीन कहा जाता है। 'उदासीन' शब्द निर्लिप्तताका द्योतक है। जैसे ऊँचे पर्वतपर खडे हुए पुरुषपर नीचे पृथ्वीपर लगी हुई आग या बाढ आदिका कोई प्रभाव नहीं पडता, वैसे ही किसी भी अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिका भक्तपर कोई प्रभाव नहीं पडता, वह सदा निर्लिप्त रहता है।

जो मनुष्य भक्तका हित चाहता है तथा उसके अनुकूल आचरण करता है, वह उसका मित्र समझा जाता है और जो मनुष्य भक्तका अहित चाहता है तथा उसके प्रतिकूल आचरण करता है, वह उसका शत्रु समझा जाता है। इस प्रकार मित्र और शत्रु समझे जानेवाले व्यक्तिके साथ भक्तके बाहरी व्यवहारमें अन्तर प्रतीत हो सकता है, किंतु भक्तके अन्तःकरणमें दोनों मनुष्योंके प्रति किञ्चित् भी भेदभाव नहीं होता। वह दोनों स्थितियोंमें सर्वथा उदासीन अर्थात् निर्लिप्त रहता है।

भक्तके अन्तःकरणमें अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। वह शरीरसहित सम्पूर्ण संसारको परमात्माका ही मानता है। इसलिये उसका व्यवहार पक्षपातसे रहित होता है।*

---

* चौदहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें गुणातीत पुरुषको 'उदासीनवत्' (उदासीनकी तरह) इसलिये कहा गया है कि उसकी दृष्टिमें एक तत्त्वके अतिरिक्त अन्य किसीकी स्वतन्त्र सत्ता होती ही नहीं, फिर वह उदासीन किससे हो ? भगवान्‌को भी नवें अध्यायके नवें श्लोकमें

गतव्यथः—व्यथासे छूटा हुआ।

कुछ मिले या न मिले, कुछ भी आये या चला जाय, जिसके चित्तमें दुःख-चिन्ता-शोकरूप हलचल कभी होती ही नहीं, उस भक्तको यहाँ 'गतव्यथः' कहा गया है।

यहाँ 'व्यथा' शब्द केवल दुःखका वाचक नहीं है। अनुकूलताकी प्राप्ति होनेपर चित्तमें प्रसन्नता तथा प्रतिकूलताकी प्राप्ति होनेपर चित्तमें खिन्नताकी जो हलचल होती है, उसे भी 'व्यथा' ही कहना चाहिये। अतः अनुकूलता तथा प्रतिकूलतासे अन्तःकरणमें होनेवाले राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारोंके अत्यन्ताभावको ही यहाँ 'गतव्यथः' पदसे व्यक्त किया गया है।*

सर्वारम्भपरित्यागी—(और) सभी आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन, वाणी और शरीरद्वारा प्रारब्धवश होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी है।

'उदासीनवत्' (उदासीनकी तरह) कहा गया है, उसका भी यही तात्पर्य है कि भगवान्‌की दृष्टिमें उनके सिवा दूसरा कोई है ही नहीं, फिर वे उदासीन किससे हों !

छठे अध्यायके नवें श्लोकमें, 'उदासीन' शब्दका प्रयोग यह सूचित करनेके लिये किया गया है कि सिद्ध कर्मयोगीका उदासीन पुरुषमें भी समभाव रहता है।

* दूसरे अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें 'यं हि न व्यथयन्त्येते' पदोंमें साधकके सुख-दुःख दोनोंमें व्यथित न होनेकी बात कही गयी है। ग्यारहवें अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें 'मा व्यथिष्ठाः' पद तथा उन्चासवें श्लोकमें 'व्यथा' पद भयके अर्थमें आये हैं। चौदहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'न व्यथन्ति' पदका प्रयोग यह बतानेके लिये किया गया है कि सिद्ध पुरुषको जन्म-मरणरूप व्यथा नहीं होती।

सिद्ध भक्तके लिये कुछ भी प्राप्तव्य अथवा कर्तव्य न रहनेसे उसका शरीरसे होनेवाली क्रियाओंसे कोई प्रयोजन नहीं रहता। चाहे साधक हो या सिद्ध, कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं कर सकता*। हाँ, अन्य मनुष्य तो कामना, ममता तथा आसक्तिपूर्वक सब कर्म करते हैं; अतः वे 'मैं ही कर्मोंका कर्ता हूँ' ऐसा मान लेते हैं; परंतु भक्तकी यह विशेषता है कि उसके द्वारा शरीर-निर्वाह, भक्ति-प्रचार, परहित-साधन आदि जो क्रियाएँ होती हैं, उनका कर्ता वह अपनेको नहीं मानता अर्थात् वह कर्तापनके अभिमानसे सर्वथा रहित होता है। उसमें राग-द्वेष, कर्तृत्वाभिमान एवं फलासक्तिका सर्वथा अभाव होता है। अतः उसके द्वारा होती हुई दीखनेवाली क्रियाएँ शुद्ध एवं स्वाभाविक लोकहितार्थ ही होती हैं।

भक्तके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहंकार सर्वथा भगवदर्पित रहते हैं। उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता अथवा इच्छा नहीं रहती। वह एकमात्र भगवान्‌के हाथका यन्त्र होता है। जिस प्रकार यन्त्रका अपना कोई आग्रह नहीं होता; यन्त्री उसका चाहे जिस तरह संचालन करे, वह तो उसीपर सर्वथा निर्भर रहता है, इसी प्रकार भक्तका भी अपना कोई आग्रह नहीं होता; भगवान् जो कुछ करवाते हैं, वह वही करता है।

---

* न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। (गीता ३। ५)
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। (गीता १८। ११)

वैसे तो सभी मनुष्योंको भगवान् यन्त्रवत् चलाते हैं*, पर मनुष्य अपने शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें अहंकार, आसक्ति, ममता करके अपनेको कर्मोंका कर्ता मान लेता है। फलस्वरूप वह जन्म-मरणरूप दुःखको भोगता रहता है। भक्त अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता ही नहीं, अपितु उसे यही अनुभव होता है कि मात्र क्रियाएँ भगवान्‌के द्वारा ही हो रही हैं। अतएव उसके द्वारा शास्त्रविहित कर्म होते हुए दीखनेपर भी वास्तवमें वे (फलजनक न होनेके कारण) 'अकर्म' ही होते हैं। कामना, ममता और आसक्ति-रहित होनेके कारण भक्तके द्वारा 'विकर्म' (निषिद्ध-कर्म) होनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

एक स्थितिमें क्रिया की जाती है, दूसरी स्थितिमें क्रिया होती है और इनसे भिन्न स्थितिमें क्रियाका सर्वथा अभाव होता है, एक परमात्मतत्त्वकी सत्तामात्र रहती है। साधारण मनुष्यका जड़तासे विशेष सम्बन्ध रहनेसे उसके द्वारा क्रिया की जाती है। साधकका जड़ताके साथ स्वल्पमात्र सम्बन्ध रहनेसे उसके द्वारा क्रिया होती है। इस स्थितिमें भी यदि साधक यह मानता है कि भगवत्कृपासे ही साधन तथा अन्य सब क्रियाएँ हो रही हैं, तो उसके साधनमें तीव्रतासे प्रगति होती है। पर जहाँ जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद है, वहाँ या तो सत्तामात्र रहती है, या भगवान्‌में तल्लीनता।

---

* ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (गीता १८। ६१)

'हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी ईश्वर अपनी मायासे (उनके कर्मोंके अनुसार) भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

तत्त्वज्ञानीकी स्वरूपमें स्थिति होती है और सिद्ध भक्तकी भगवान्‌में तल्लीनता। जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होनेपर सब क्रियाएँ उसी प्रकार स्वाभाविक होती हैं, जिस प्रकार नेत्रोंका झपकना, श्वासोंका आना-जाना आदि क्रियाएँ। स्वाभाविक होनेवाली क्रियाएँ (कर्तापन न होनेके कारण) बन्धनकारक नहीं होतीं।*

---

* मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमान (कर्तापनके अभिमान) के त्यागकी बात गीतामें कई स्थलोंपर इस प्रकार आयी है—

ज्ञानयोगी यह मानता है कि प्रत्येक क्रिया प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे ही होती है। तीसरे अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (इन्द्रियरूप गुणकार्योंका विषयरूप) गुणकार्योंमें वर्ताव हो रहा है— इन पदोंसे, पाँचवें अध्यायके नवें श्लोकमें 'इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते, (इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं) तथा चौदहवें श्लोकमें 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' (स्वभाव अर्थात् प्रकृति ही बरतती है) इन पदोंसे और तेरहवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें 'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः' (सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते) —इन पदोंसे और अठारहवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें कर्मोंके होनेमें पाँच हेतु बतलाकर इसी बातकी ओर संकेत किया गया है।

कर्मयोगी सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको संसारकी सेवामें लगाता है, यहाँतक कि 'अहं' (मैं पन) को भी संसारकी सेवामें लगा देता है। कर्मयोगी पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिको भी उन्हींका मानता है, जिनकी वह सेवा करता है। इस प्रकार उसमें भी कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता। चौथे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें 'यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः' (जिसके सम्पूर्ण कर्म कामना और संकल्पके बिना होते हैं)—इन पदोंसे यही बात कही गयी है।

सिद्ध भक्तद्वारा कर्म होनेमें कुछ विशेष हेतु

वास्तवमें सिद्ध भक्त या ज्ञानी कर्म नहीं करता, अपितु उससे क्रिया या चेष्टामात्र होती है। चेष्टामात्र होनेमें तीन हेतु हैं—पहला हेतु है—प्रारब्ध। प्रारब्धके वेगसे उसके कहलानेवाले शरीरद्वारा निर्वाहमात्रकी क्रियाएँ होती रहती हैं—व्यवहार चलता रहता है। अहंभावको सर्वथा भगवान्‌में लीन कर देनेके कारण वह किसी क्रियाका कर्ता होता ही नहीं।

दूसरा हेतु है—जगत्‌में धर्म-स्थापन अथवा अधर्म-निवारण करके जीवोंका उद्धार करनेके लिये जब जैसी साधन-प्रणालीकी आवश्यकता होती है, तब भगवान् स्वयं प्रेरणा करके उससे वैसा ही

भक्तियोगी भगवान्‌के समर्पित होकर शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि एवं इनकी क्रियाओंको भी भगवान्‌की मानता है। तीसरे अध्यायके तीसवें श्लोकमें 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा' (मुझ परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके) तथा पाँचवें अध्यायके दसवें श्लोकमें 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः' (जो सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके आसक्ति-रहित होकर कर्म करता है) इन पदोंद्वारा यही बात कही गयी है।

तत्त्वज्ञानी (सिद्ध ज्ञानी पुरुष) की शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धिरूप 'व्यष्टि प्रकृति' अहंकार और ममतासे रहित होनेके कारण 'समष्टि प्रकृति' में लीन हो जाती है। उसके अन्तःकरणमें प्रारब्धके जो संस्कार रहते हैं, उसीके अनुसार उसके कथित शरीर-इन्द्रियों-मन-बुद्धिके द्वारा लोक-संग्रहके लिये स्वतः-स्वाभाविक (कर्तापनके अभिमान बिना) क्रियाएँ हुआ करती हैं। इसलिये उसे भी चौदहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें 'सर्वारम्भपरित्यागी' (सम्पूर्ण क्रियाओंको करते हुए भी कर्तृत्व-रहित) कहा गया है।

कर्म करवा लेते हैं। वे सब कर्म केवल लोकहितके लिये ही होते हैं। जैसे, भगवान् बुद्धने बढती हुई हिंसाको और भगवान् शङ्कराचार्यने बढती हुई नास्तिकताको मिटानेका सत्प्रयास किया।

तीसरा हेतु है—किसी व्यक्तिविशेषकी श्रद्धा एवं जिज्ञासाके कारण महापुरुषोंके हृदयमें कुछ विशेष बातें (कहनेके लिये) स्फुरित होती हैं और वे उस व्यक्तिकी जिज्ञासाको शान्त करनेकी चेष्टा करते हैं।

वास्तवमें भगवान्‌के पूर्ण नियन्त्रणमें समष्टि प्रकृति ही समस्त संसारका संचालन करती है* अर्थात् मात्र क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं। परंतु मनुष्य भूलसे मन, बुद्धि, इन्द्रिय एवं शरीररूप प्रकृतिके कार्योंको अपना मानकर इनकी क्रियाओंका कर्ता अपनेको मान लेता है†। अतः भगवान्‌की समष्टि प्रकृतिरूप जो शक्ति संसारका कार्य चलाती है, उसी शक्तिसे सिद्ध भक्तके अपने कहे

---

* मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥
(गीता ९ । १०)

'हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताकी अध्यक्षतामें प्रकृति चराचर जगत्‌की रचना करती है और इसी हेतुसे जगत्‌की सम्पूर्ण क्रियाएँ हो रही हैं।'

† प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
(गीता ३ । २७)

'सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं, तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी पुरुष 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मानता है।

जानेवाले मन-बुद्धि-इन्द्रिय-शरीरके द्वारा क्रियाएँ होती हैं अर्थात् उसके कार्य भगवान्‌के द्वारा ही संचालित होते हैं। इसीलिये सिद्ध भक्तको 'सर्वारम्भपरित्यागी' कहा गया है।

वास्तवमें राग-द्वेषादि विकार न तो प्रकृति (जड़) में हैं और न पुरुष (चेतन) में ही है। चेतनका जड़के साथ सम्बन्ध मान लेनेसे अपने-आप विकार उत्पन्न होते हैं। प्रकृतिके साथ भूलसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण साधारण मनुष्योंको अपने लिये सांसारिक पदार्थोंकी आवश्यकता प्रतीत होती है। उन पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये वे कर्म करना आरम्भ कर देते हैं। इस प्रकार कर्मोंके आरम्भका मूल हेतु प्रकृतिके साथ माना हुआ सम्बन्ध ही है। परंतु सिद्ध भक्तका एकमात्र भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होनेसे उसमें कर्मोंको आरम्भ करनेके मूल हेतुका अत्यन्त अभाव रहता है। इसलिये वह 'सर्वारम्भपरित्यागी' होता है।*

सः—वह।

मद्भक्तः—मेरा भक्त (प्रेमी)।

भगवान्‌में स्वाभाविक ही इतना महान् आकर्षण है कि भक्त स्वतः उनकी ओर खिंच जाता है, उनका प्रेमी हो जाता है।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(श्रीमद्भा० १। ७। १०)

* चौथे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें 'समारम्भाः' पद तथा अठारहवें अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें 'सर्वारम्भाः' पद शास्त्रविहित कर्मोंके वाचक हैं।

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चिद्-जड-ग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की हेतुरहित (निष्काम) भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि भगवान्‌में इतना महान् आकर्षण है, तो सभी मनुष्य भगवान्‌की ओर क्यों नहीं खिंच जाते, उनके प्रेमी क्यों नहीं हो जाते।

वास्तविक बात यह है कि जीव भगवान्‌का ही अंश है। अतः उसका भगवान्‌की ओर स्वतः स्वाभाविक आकर्षण होता है। परंतु जो भगवान् वास्तवमें अपने हैं, उन्हें तो मनुष्यने अपना माना नहीं और जो मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ-शरीर-कुटुम्बादि अपने नहीं हैं, उन्हें उसने अपना मान लिया। इसीलिये वह शारीरिक निर्वाह और सुख-की कामनासे सांसारिक भोगोंकी ओर आकृष्ट हो गया तथा अपने अंशी भगवान्‌से दूर (विमुख) हो गया। फिर भी उसकी यह दूरी वास्तविक नहीं माननी चाहिये। कारण कि नाशवान् भोगोंकी ओर आकृष्ट होनेसे उसको भगवान्‌से दूरी दिखायी तो देती है, पर वास्तवमें दूरी है नहीं; क्योंकि उन भोगोंमें भी तो सर्वव्यापी भगवान् परिपूर्ण हैं। परंतु इन्द्रियोंके विषयोंमें अर्थात् भोगोंमें ही आसक्ति होनेके कारण उसे उनमें छिपे भगवान् दिखायी नहीं देते*।

---

* त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

(गीता ७। १३)

'गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सारा संसार (प्राणिसमुदाय) मोहित हो रहा है, इसलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशीको नहीं जानता।'

जब इन नाशवान् भोगोंकी ओर उसका आकर्षण नहीं रहता, तब वह स्वतः ही भगवान्‌की ओर खिंच जाता है । संसारमें किञ्चित् भी आसक्ति न रहनेसे भक्तका एकमात्र भगवान्‌में स्वतः अटल प्रेम होता है । ऐसे अनन्यप्रेमी भक्तको भगवान् 'मद्भक्तः' कहते हैं ।

मे—मुझे ।

प्रियः—प्रिय है ।

जिस भक्तका भगवान्‌में अनन्य प्रेम है, वह भगवान्‌को प्रिय होता है ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—

सिद्ध भक्तके पाँच लक्षणोंवाला चौथा प्रकरण निम्न श्लोकमें आया है ।

श्लोक—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

भावार्थ—

भक्तके अन्तःकरणमें किसी भी प्रिय और अप्रिय प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थितिके संयोग-वियोगसे किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार नहीं होते । कामना-रहित होनेसे उसके द्वारा अशुभ (पापमयी) क्रियाएँ तो हो ही नहीं सकतीं, केवल शुभ (शास्त्रविहित, धर्मयुक्त, न्याययुक्त) क्रियाएँ ही होती हैं; परंतु ममता, आसक्ति और फलेच्छासे सर्वथा रहित होनेके कारण उसका शुभ क्रियाओंसे भी कोई सम्बन्ध नहीं होता । अतः उन क्रियाओंकी 'कर्म' संज्ञा ही नहीं रहती । ऐसा विकाररहित और शुभाशुभ-परित्यागी भक्त भगवान्‌को प्रिय होता है ।

अन्वय—

यः, न, हृष्यति, न, द्वेष्टि, न, शोचति, न, काङ्क्षति (च), यः, शुभाशुभपरित्यागी, सः, भक्तिमान्, मे, प्रियः ॥ १७ ॥

पद-व्याख्या—

यः न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति—जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है।

मुख्य विकार चार हैं—(१) राग, (२) द्वेष, (३) हर्ष, और (४) शोक*। सिद्ध भक्तमें ये चारों ही विकार नहीं होते। उसका यह अनुभव होता है कि संसारका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है और भगवान्‌से कभी वियोग होता ही नहीं। संसारके साथ कभी संयोग था नहीं, है नहीं, रहेगा नहीं और रह सकता भी नहीं। अतः संसारकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—इस वास्तविकता (सत्य) को प्रत्यक्ष जान लेनेके पश्चात् (जड़ताका कोई सम्बन्ध न रहनेपर) भक्तका केवल भगवान्‌के साथ अपने नित्यसिद्ध सम्बन्धका अनुभव अटलरूपसे है। इस कारण उसका अन्तःकरण राग-द्वेषादि विकारोंसे सर्वथा मुक्त होता है। भगवान्‌का साक्षात्कार होनेपर ये विकार सर्वथा मिट जाते हैं।

साधनावस्थामें भी साधक ज्यों-ज्यों साधनमें प्रगति करता है, त्यों-ही-त्यों उसमें राग-द्वेषादि कम होते जाते हैं। जो घट ला होता है,

---

* प्रचलित भाषामें किसीकी मृत्युसे मनमें होनेवाली व्यथाके लिये 'शोक' शब्दका प्रयोग किया जाता है; परंतु यहाँ 'शोक' शब्दका तात्पर्य अन्तःकरणके दुःखरूप 'विकार'से है।

वह मिटनेवाला भी होता है। अतः जब साधनावस्थामें ही विकार कम होने लगते हैं, तब सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सिद्धावस्थामें भक्तमें ये विकार नहीं रहते—पूर्णतया मिट जाते हैं।

राग-द्वेषके परिणामस्वरूप ही वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदिके संयोग-वियोग एवं संयोग-वियोगकी आशङ्कासे हर्ष-शोक होते हैं। अतः विकारोंके मूल कारण राग-द्वेष ही हैं, जिनसे जीव संसारमें बँधता है *। इसीलिये गीतामें साधकोंके लिये स्थान-स्थानपर राग-द्वेषके त्यागपर जोर दिया गया है; जैसे—तीसरे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें 'तयोर्न वशमागच्छेत्' पदोंसे राग-द्वेषके वशमें न होनेके लिये और अठारहवें अध्यायके इक्यावनवें श्लोकमें 'रागद्वेषौ व्युदस्य च' पदोंसे राग-द्वेषका त्याग करनेके लिये कहा गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, हर्ष और शोक दोनों राग-द्वेषके ही परिणाम हैं। जिसके प्रति राग होता है, उसके संयोगसे और जिसके प्रति द्वेष होता है, उसके वियोगसे 'हर्ष' होता है। इसके विपरीत जिसके प्रति राग होता है, उसके वियोग या वियोगकी आशङ्कासे और जिसके प्रति द्वेष होता है, उसके संयोग या संयोगकी

---

* इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥

(गीता ७। २७)

'हे भरतवंशी अर्जुन! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञानताको प्राप्त हो रहे हैं।'

आशङ्कासे 'शोक' होता है। सिद्ध भक्तमें राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव होनेसे स्वतः एक साम्यावस्था निरन्तर रहती है। इसलिये वह विकारोंसे सर्वथा रहित होता है।

जैसे रात्रिके समय अन्धकारमें दीपक जलानेकी कामना होती है; दीपक जलानेसे हर्ष होता है; दीपक बुझानेवालेके प्रति द्वेष या क्रोध होता है और पुनः दीपक प्रज्वलित कैसे हो—ऐसी चिन्ता होती है। रात्रि होनेसे ये चारों बातें होती है। इसके विपरीत मध्याह्नका सूर्य तपता हो तो दीपक जलानेकी कामना नहीं होती; दीपक जलानेसे हर्ष नहीं होता; दीपक बुझानेवालेके प्रति द्वेष या क्रोध नहीं होता और (अँधेरा न होनेसे) प्रकाशके अभावकी चिन्ता भी नहीं होती। इसी प्रकार भगवान्‌से विमुख और संसारके सम्मुख होनेसे शरीर-निर्वाह और सुखके लिये अनुकूल पदार्थ, परिस्थिति आदिके मिलनेकी कामना होती है; इनके मिलनेपर हर्ष होता है; इनकी प्राप्तिमें बाधा पहुँचानेवालेके प्रति द्वेष या क्रोध होता है और इनके न मिलनेपर 'कैसे मिलें' ऐसी चिन्ता होती है। परंतु (मध्याह्नके सूर्यकी भाँति, जिसे भगवत्प्राप्ति हो गयी है, उसमें ये विकार कभी नहीं रहते। वह पूर्णकाम हो जाता है। अतः उसे संसारकी कोई आवश्यकता नहीं रहती * ।

---

* दूसरे अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें 'नाभिनन्दति न द्वेष्टि' पद, पाँचवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'न द्वेष्टि न काङ्क्षति' पद तथा अठारहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें 'न द्वेष्टि, नानुषज्जते' पद कर्मयोगीमें राग-द्वेषका अभाव बतलानेके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

चौदहवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें 'न द्वेष्टि, न काङ्क्षति' पद और अठारहवें अध्यायके चौवनवें श्लोकमें 'न शोचति' न काङ्क्षति' पद ज्ञानयोगीमें राग-द्वेषका अभाव दिखलानेके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

(च) यः—और जो ।

शुभाशुभपरित्यागी—शुभ और अशुभ कर्मोंका त्यागी है। जैसा कि इस श्लोकके भावार्थमें कहा गया है, ममता, आसक्ति और फलेच्छारहित होकर ही शुभ कर्म करनेके कारण भक्तके कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं* । इसलिये भक्तको शुभ कर्मोंका भी त्यागी कहा गया है । राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होनेके कारण उससे अशुभ कर्म होते ही नहीं । अशुभ कर्मोंके होनेमें कामना, ममता, आसक्ति ही प्रधान कारण हैं, और भक्तमें इनका अत्यन्ताभाव होता है। इसलिये उसे अशुभ कर्मोंका भी त्यागी कहा गया है ।

शुभ कर्म मुक्ति देनेवाले और अशुभ कर्म बाँधनेवाले होते हैं । भक्त शुभ कर्मोंसे तो राग नहीं करता और अशुभ कर्मोंसे द्वेष नहीं करता । उसके द्वारा स्वाभाविक शास्त्रविहित शुभ-कर्मोंका आचरण और अशुभ (निषिद्ध एवं काम्य) कर्मोंका त्याग होता है, राग-द्वेष-पूर्वक नहीं। राग-द्वेषका सर्वथा त्याग करनेवाला ही सच्चा त्यागी है†

---

* त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥
(गीता ४ । २०)

'समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्य तृप्त है, वह कर्मोंमें भलीभाँति बरतता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ।'

† अठारहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें शुभ और अशुभ कर्मको कुशल और अकुशल कर्मके नामसे कहा गया है—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥
(गीता १८ । १०)

मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते, अपितु कर्मोंमें राग-द्वेष ही उसे बाँधते हैं। भक्तके सम्पूर्ण कर्म राग-द्वेषरहित होते हैं, इसलिये वह शुभाशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका परित्यागी है।

जैसा कि पिछले श्लोकमें **'सर्वारम्भपरित्यागी'** की व्याख्यामें आया है, भक्तके द्वारा होनेवाली समस्त क्रियाएँ भगवदर्पित होती हैं। अपने कर्तृत्वका अभिमान न रहनेसे वह कर्मोंसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है। यहाँ भी **'शुभाशुभपरित्यागी'** पदसे भक्तकी कर्मोंसे सर्वथा निर्लिप्तताका बोध कराया गया है।

'शुभाशुभपरित्यागी' पदका अर्थ शुभ और अशुभ कर्मोंके फलका त्यागी भी किया जा सकता है। परंतु इसी श्लोकके पूर्वार्द्धमें आये **'न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति'** पदोंका सम्बन्ध भी शुभ (अनुकूल) और अशुभ (प्रतिकूल) कर्मफलके त्यागसे ही है। अतः यहाँ **'शुभाशुभपरित्यागी'** पदका अर्थ शुभाशुभ कर्मफलका त्यागी माननेसे पुनरुक्ति-दोष आता है। इसलिये इस पदका अर्थ शुभ एवं अशुभ कर्मोंमें राग-द्वेषका त्यागी ही मानना चाहिये।

सः—वह।

भक्तिमान्—भक्तियुक्त पुरुष।

भक्तकी भगवान्‌में अत्यधिक प्रियता रहती है। उसके द्वारा स्वतः स्वाभाविक भगवान्‌का चिन्तन, स्मरण एवं भजन होता रहता है। ऐसे भक्तको यहाँ 'भक्तिमान्' कहा गया है *।

'जो मनुष्य अकुशल कर्मसे तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है।'

* इसी (बारहवें) अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भी 'भक्तिमान्' पद इसी भावमें प्रयुक्त हुआ है।

मे—मुझे ।

प्रियः—प्रिय है ।

भक्तका भगवान्‌में अनन्य प्रेम होता है, इसलिये वह भगवान्‌को प्रिय होता है ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—

अब दो श्लोकोंमें सिद्ध भक्तके दस लक्षणोंवाला पाँचवाँ और अन्तिम प्रकरण दिया जाता है ।

श्लोक—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

भावार्थ—

भक्तके हृदयमें केवल प्रभुके प्रति अनन्य और प्रतिक्षण वर्द्धमान प्रेम रहनेसे उसके अन्तःकरणमें अनुकूल-प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति आदिमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका कोई स्थान नहीं रह जाता । उसका शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख और निन्दा-स्तुतिमें सदा-सर्वदा समभाव रहता है । उसका भगवान्‌के सिवा और कहीं कोई सम्बन्ध नहीं रहता । उसके द्वारा भगवान्‌के स्वरूपका स्वतः मनन होता रहता है । उसके सामने जो भी परिस्थिति आती है, उसमें महान् आनन्दका अनुभव करता है । रहनेके स्थानमें और शरीरमें भी उसकी ममता-आसक्ति नहीं होती । उसकी बुद्धि निश्चलभावसे परमात्मतत्त्वमें ही स्थिर रहती है । ऐसा भक्तिमान् पुरुष भगवान्‌को प्रिय होता है ।

इन श्लोकोंमें भक्तका सदा-सर्वदा समभावमें स्थित रहनेका वर्णन किया गया है। शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख और निन्दा-स्तुति—इन पाँचो द्वन्द्वोंमें समता होनेसे ही साधक पूर्णतः समभावमें स्थित कहा जा सकता है।

अन्वय—

शत्रौ, च, मित्रे, (समः), तथा, मानापमानयोः, समः, शीतोष्ण-सुखदुःखेषु, समः, च, सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिः, मौनी, येन, केनचित्, संतुष्टः, अनिकेतः, स्थिरमतिः, भक्तिमान्, नरः, मे, प्रियः ॥ १९ ॥

पद व्याख्या—

शत्रौ च मित्रे (समः)—(जो) शत्रु और मित्रमें सम है।

यहाँ भगवान्‌ने भक्तमें व्यक्तियोंके प्रति होनेवाली समताका वर्णन किया है। सर्वत्र भगवद्बुद्धि होने तथा राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण सिद्ध भक्तका किसीके प्रति शत्रु-मित्रका भाव नहीं रहता*। लोग ही उसके व्यवहारमें अपने स्वभावके अनुसार अनुकूलता या प्रतिकूलताको देखकर उसमें मित्रता या शत्रुताका भाव कर लेते हैं। साधारण लोगोंका तो कहना ही क्या है, सावधान रहनेवाले साधकोंका भी उस सिद्ध भक्तके प्रति मित्रता और शत्रुताका भाव हो जाता है। पर भक्त अपने-आपमें सदैव पूर्णतः सम रहता है। उसके हृदयमें कभी किसीके प्रति शत्रु-मित्रका भाव उत्पन्न नहीं होता।

---

* उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥
(मानस ७। ११२ ख)

मान लीजिये, भक्तके प्रति शत्रुता और मित्रताका भाव रखनेवाले दो व्यक्तियोंमें धनके बँटवारेसे सम्बन्धित कोई विवाद हो जाय, और उसका निर्णय करानेके लिये वे भक्तके पास जायँ तो भक्त धनका बँटवारा करते समय शत्रु-भाववाले व्यक्तिको कुछ अधिक और मित्र-भाववाले व्यक्तिको कुछ कम धन देगा। यद्यपि भक्तके इस निर्णय (व्यवहार) में विषमता दीखती है, तथापि शत्रुभाववाले व्यक्तिको इस निर्णयमें समता दिखायी देगी कि इसने पक्षपातरहित बँटवारा किया है। अतएव भक्तके इस निर्णयमें विषमता (पक्षपात) दीखनेपर भी वास्तवमें यह (समताको उत्पन्न करनेवाला होनेसे-) समता ही कहलायेगी।

उपर्युक्त पदोंसे यह भी सिद्ध होता है कि सिद्ध भक्तके साथ भी लोग (अपने भावके अनुसार) शत्रुता-मित्रताका व्यवहार करते हैं और उसके व्यवहारसे अपनेको उसका शत्रु-मित्र मान लेते हैं। इसीलिये उसे यहाँ शत्रु-मित्रसे रहित न कहकर 'शत्रु-मित्रमें सम' कहा गया है*।

तथा—और।

मानापमानयोः समः—मान तथा अपमानमें सम है।

मान-अपमान परकृत क्रिया है, जो शरीरके प्रति होती है। भक्तकी अपने कहलानेवाले शरीरमें न तो अहंता होती है, न

---

*छठे अध्यायके नवें श्लोकमें सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें सिद्ध कर्मयोगीके समभावका वर्णन किया गया है।

चौदहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें 'तुल्यो मित्रारिपक्षयोः' पदोंसे शत्रु-मित्रमें गुणातीत पुरुषके समभावका वर्णन किया गया है।

ममता। इसलिये शरीरका मान-अपमान होनेपर भी भक्तके अन्तः-करणमें कोई विकार (हर्ष-शोक) उत्पन्न नहीं होता। वह नित्य-निरन्तर समतामें स्थित रहता है*।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः—(तथा) सरदी-गरमीमें (अनुकूल-प्रतिकूल विषयोंमें) और सुख-दुःखमें (सुखदायी-दुःखदायी परिस्थितिके आने-जानेमें) सम है। †

इन पदोंमें दो स्थानोंपर सिद्ध भक्तकी समता बतलायी गयी है—

(१) शीतोष्णमें समता अर्थात् इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंसे संयोग होनेपर अन्तःकरणमें कोई विकार न होना।

(२) सुख-दुःखमें समता अर्थात् धनादि पदार्थोंकी प्राप्ति या अप्राप्ति होनेपर अन्तःकरणमें कोई विकार न होना।

'शीतोष्ण' शब्दका अर्थ 'सरदी-गरमी' होता है। सरदी-गरमी त्वगिन्द्रियके विषय हैं। भक्त केवल त्वगिन्द्रियके विषयोंमें ही सम रहता हो, ऐसी बात नहीं है। वह तो समस्त इन्द्रियोंके विषयोंमें सम रहता है। अतः यहाँ 'शीतोष्ण' शब्द समस्त इन्द्रियोंके विषयोंका

---

* छठे अध्यायके सातवें श्लोकमें 'मानापमानयोः प्रशान्तस्य' पद सिद्ध कर्मयोगीकी तथा चौदहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें 'मानापमानयोः तुल्यः' पद गुणातीत पुरुषकी मानापमानमें समताके बोधक हैं।

† गीतामें 'शीतोष्ण' पद जहाँ भी आया है, 'सुख-दुःख' पदके साथ ही आया है; जैसे—'शीतोष्णसुखदुःखदाः' (२। १४) और 'शीतोष्णसुखदुःखेषु (६। ७, १२। १८)।

वाचक है। प्रत्येक इन्द्रियका अपने-अपने विषयके साथ संयोग होनेपर भक्तको उन (अनुकूल या प्रतिकूल) विषयोंका ज्ञान तो होता है, पर उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोकादि विकार नहीं होते। वह सदा सम रहता है।

साधारण मनुष्य धनादि अनुकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें सुख तथा प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें दुःखका अनुभव करते हैं। परंतु उन्हीं पदार्थोंके प्राप्त होने अथवा न होनेपर सिद्ध भक्तके अन्तःकरणमें कभी किञ्चित् भी राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकार नहीं होते। वह प्रत्येक परिस्थितिमें सम रहता है।

'सुख-दुःखमें सम' रहने तथा 'सुख-दुःखसे रहित' होने—दोनोंका गीतामें एक ही अर्थमें प्रयोग हुआ है। सुख-दुःखकी परिस्थिति अवश्यम्भावी है; अतः उससे रहित होना सम्भव नहीं है। इसलिये भक्त सुखदायी तथा दुःखदायी परिस्थितियोंमें सम रहता है। हाँ, सुखदायी तथा दुःखदायी परिस्थितिको लेकर अन्तःकरणमें जो हर्ष-शोक होते हैं, उनसे रहित हुआ जा सकता है। इस दृष्टिसे गीतामें जहाँ 'सुख-दुःखमें सम' होनेकी बात आयी है, वहाँ सुख-दुःखकी परिस्थितिमें सम समझना चाहिये, और जहाँ 'सुख-दुःखसे रहित' होनेकी बात आयी है, वहाँ (सुखदायी तथा दुःखदायी परिस्थितिकी प्राप्तिसे होनेवाले) हर्ष-शोकसे रहित समझना चाहिये।*

* दूसरे अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें 'समदुःखसुखम्' पदसे तथा अड़तीसवें श्लोकमें 'सुखदुःखे समे' पदोंसे साधकको सुख-दुःखकी परिस्थितिमें सम रहनेके लिये कहा गया है।

च—और।

सङ्गविवर्जितः—आसक्तिसे रहित है।

'सङ्ग' शब्दका अर्थ सम्बन्ध (संयोग) तथा आसक्ति दोनों ही होते हैं। मनुष्यके लिये यह सम्भव नहीं है कि वह स्वरूपसे सब पदार्थोंका सङ्ग अर्थात् सम्बन्ध छोड़ सके; क्योंकि जबतक मनुष्य जीवित रहता है, तबतक शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ उसके साथ रहती ही हैं। हाँ, शरीरसे भिन्न कुछ पदार्थोंका त्याग स्वरूपसे अवश्य किया जा सकता है। मान लीजिये, किसी व्यक्तिने स्वरूपसे प्राणी-पदार्थोंका सङ्ग छोड दिया, पर उसके अन्तःकरणमें यदि उनके प्रति किञ्चित् भी आसक्ति बनी हुई है, तो उन प्राणी-पदार्थोंसे दूर होते हुए भी वास्तवमें उसका उनसे सम्बन्ध बना हुआ ही है। दूसरी ओर यदि अन्तःकरणमें प्राणी-पदार्थोंकी किञ्चित् भी आसक्ति नहीं है, तो पास रहते हुए भी वास्तवमें उनसे सम्बन्ध नहीं है। यदि पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग करनेपर ही मुक्ति होती, तो मरनेवाला प्रत्येक व्यक्ति मुक्त हो जाता; क्योंकि

पद्रहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः' पदोंसे सिद्ध पुरुषको सुख-दुःखसे रहित कहा गया है।

दूसरे अध्यायके छप्पनवें श्लोकमें 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' पद छठे अध्यायके सातवें श्लोकमें 'शीतोष्णसुखदुःखेषु' पदोंके द्वारा सिद्ध कर्मयोगीकी; छठे अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें 'समं पश्यति', 'सुखं वा यदि वा दुःखम्' पदोंसे सिद्ध पुरुषकी तथा चौदहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें 'समदुःखसुखः' पदमें गुणातीत पुरुषकी सुखदुःखमें समता बतलायी गयी है।

उसने तो अपने शरीरका भी त्याग कर दिया ! परंतु ऐसी बात है नहीं । अन्तःकरणमें आसक्तिके रहते हुए शरीर-त्याग करनेपर भी संसारका बन्धन बना रहता है । अतः मनुष्यको सांसारिक आसक्ति ही बाँधनेवाली होती है, न कि सांसारिक प्राणी-पदार्थोंका स्वरूपसे सम्बन्ध ।

आसक्तिको मिटानेके लिये पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग करना भी एक साधन हो सकता है; किंतु मूल आवश्यकता आसक्तिका सर्वथा त्याग करनेकी ही है । संसारके प्रति यदि किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति है, तो उसका चिन्तन अवश्य होगा । इस कारण वह आसक्ति साधकको क्रमशः कामना, क्रोध, मूढ़ता आदिको प्राप्त कराती हुई उसे पतनके गर्तमें गिरानेका हेतु बन सकती है * ।

भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके उनसठवें श्लोकमें 'परं दृष्ट्वा निवर्तते' पदोंसे भगवत्प्राप्तिके बाद आसक्तिकी सर्वथा निवृत्ति

---

* ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

(गीता २ । ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामना (में विघ्न पड़ने) से क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न होता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है !'

बतलायी है। भगवत्प्राप्तिसे पूर्व भी आसक्तिकी निवृत्ति हो सकती है, पर भगवत्प्राप्तिके बाद तो आसक्ति सर्वथा निवृत्त हो ही जाती है। भगवत्प्राप्त महापुरुषमें आसक्तिका सर्वथा अभाव होता ही है, परंतु भगवत्प्राप्तिसे पूर्व साधनावस्थामें आसक्तिका सर्वथा अभाव होता ही नहीं—ऐसा नियम नहीं है। साधनावस्थामें भी आसक्तिका सर्वथा अभाव होकर साधकको तत्काल भगवत्प्राप्ति हो सकती है*।

आसक्ति न तो परमात्माके अंश शुद्ध चेतनमें रहती है और न जड़ (प्रकृति) में ही। वह जड़ और चेतनके सम्बन्धरूप 'मैं'पनकी मान्यतामें रहती है। वही आसक्ति बुद्धि, मन, इन्द्रियों

---

* बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥
(गीता ५। २१)

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो (ध्यानजनित सात्त्विक) आनन्द है, उसे प्राप्त होता है। तदनन्तर वह परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(गीता १६। २२)

हे अर्जुन! इन तीनों (काम, क्रोध और लोभरूप) नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है; इससे वह परमगति (परमात्मा) को प्राप्त हो जाता है।'

और विषयों (पदार्थों) में प्रतीत होती है*। अतएव यदि साधकके 'मैं' पनकी मान्यतामें रहनेवाली आसक्ति मिट जाय, तो अन्यत्र प्रतीत होनेवाली आसक्ति स्वतः मिट जायगी। आसक्तिका कारण अविवेक है। अपने विवेकको पूर्ण महत्त्व न देनेसे साधकमें आसक्ति रहती है। भक्तमें अविवेक नहीं रहता। इसलिये वह आसक्तिसे सर्वथा रहित होता है।

अपने अंशी भगवान्‌से विमुख होकर मूलसे संसारको अपना मान लेनेसे संसारमें राग हो जाता है और राग होनेसे संसारमें आसक्ति हो जाती है। संसारसे माना हुआ अपनापन सर्वथा मिट जानेसे बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धिके सम होनेपर स्वयं आसक्ति-रहित हो जाता है।†

* दूसरे अध्यायके उनसठवें श्लोकमें (मैंपन) में रहनेवाली इस आसक्तिको 'अस्य रसः' पदोंसे कहा गया है। तीसरे अध्यायके चालीसवें श्लोकमें इन्द्रियों, मन और बुद्धिको कामका वासस्थान बतलाया गया है। कामके ये स्थान आसक्तिके स्थान भी हैं; क्योंकि काम आसक्तिका ही कार्य है, और जहाँ कार्य रहता है, वहाँ उसका कारण भी रहता ही है। इसी प्रकार तीसरे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ' पदोंसे विषयोंमें आसक्ति रहती है—ऐसा बतलाया गया।

† गीतामें भगवान्‌ने स्थान-स्थानपर साधकके लिये आसक्तिका त्याग करनेपर जोर दिया है। जैसे, तीसरे अध्यायके सातवें तथा उन्नीसवें श्लोकमें 'असक्तः' पदसे; ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें 'सङ्गवर्जितः' पदसे तथा पंद्रहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'असङ्गशस्त्रेण' पदसे आसक्तिके त्यागकी बात आयी है।

तीसरे अध्यायके नवें श्लोकमें 'मुक्तसङ्ग' पदसे, पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'असक्तात्मा' पदसे, आठवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें 'वीतरागाः' पदसे, तेरहवें अध्यायके नवें श्लोकमें 'असक्तिः' पदसे और

मार्मिक बात

वास्तवमें जीवमात्रकी भगवान्‌के प्रति स्वाभाविक अनुरक्ति (प्रेम) है। जबतक संसारके साथ भूलसे माना हुआ अपनेपनका सम्बन्ध है, तबतक वह अनुरक्ति प्रकट नहीं होती, अपितु संसारमें आसक्तिके रूपमें प्रतीत होती है। संसारकी आसक्ति रहते हुए भी वस्तुतः भगवान्‌की अनुरक्ति मिटती नहीं. अनुरक्तिके प्रकट होते ही आसक्ति (सूर्यका उदय होनेपर अन्धकारकी भाँति) सर्वथा निवृत्त हो जाती है। ज्यों-ज्यों संसारसे विरक्ति होती है, त्यों-ही-त्यों भगवान्‌से अनुरक्ति अभिव्यक्त होती है। यह नियम है कि

अठारहवें अध्यायके छठे तथा नवें श्लोकमें 'सङ्गं त्यक्त्वा' पदोंसे छब्बीसवें श्लोकमें 'मुक्तसङ्गः' पदसे तथा उनचासवें श्लोकमें 'असक्तबुद्धिः' पदसे साधकके लिये आसक्तिरहित होनेका महत्त्व बतलाया गया है। अठारहवें अध्यायके ही तेईसवें श्लोकमें 'सङ्गरहितम्' पद अहंकार-रहित होनेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

सिद्ध पुरुष आसक्ति-रहित होता है—इस बातको स्पष्ट करनेके लिये दूसरे अध्यायके छप्पनवें श्लोकमें 'वीतरागभयक्रोधः' पद (जिसमें रागके साथ-साथ भय और क्रोधका भी सर्वथा अभाव बतलाया गया है) तथा सत्तावनवें श्लोकमें 'अनभिस्नेहः' पद, तीसरे अध्यायके पचीसवें श्लोकमें 'असक्तः' पद, चौथे अध्यायके दसवें श्लोकमें पुनः 'वीतरागभयक्रोधाः' पद और तेईसवें श्लोकमें 'गतसङ्गस्य' पद और पंद्रहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'जितसङ्गदोषाः' पद प्रयुक्त हुए हैं।

परमात्माको आसक्तिरहित बतलानेके लिये नवें अध्यायके नवें श्लोकमें तथा तेरहवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'असक्तम्' पदका प्रयोग हुआ है।

आसक्तिको समाप्त करके विरक्ति स्वयं भी उसी प्रकार शान्त हो जाती है, जिस प्रकार लकड़ीको जलाकर अग्नि। इस प्रकार आसक्ति और विरक्तिके न रहनेपर स्वतः स्वाभाविक अनुरक्ति (भगवत्प्रेम) का स्रोत प्रवाहित होने लगता है। इसके लिये किञ्चिन्मात्र भी कोई श्रम नहीं करना पड़ता। फिर भक्त सब प्रकारसे भगवान्‌के पूर्ण समर्पित हो जाता है। उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवान्‌की प्रियताके लिये ही होती हैं। उससे प्रसन्न होकर भगवान् उस भक्तको अपना प्रेम प्रदान करते हैं। भक्त उस प्रेमको भी भगवान्‌के ही प्रति लगा देता है। इससे भगवान् और आनन्दित होते हैं तथा पुनः उसे प्रेम प्रदान करते हैं। भक्त पुनः उसे भगवान्‌के प्रति लगा देता है। इस प्रकार भक्त और भगवान्‌के बीच प्रतिक्षण वर्द्धमान प्रेमके आदान-प्रदानकी यह लीला चलती रहती है।

तुल्यनिन्दास्तुतिः—(जो) निन्दा और स्तुतिको समान समझनेवाला है।

निन्दा-स्तुति मुख्यतः नामकी होती है। यह भी परकृत क्रिया है। लोग अपने स्वभावके अनुसार भक्तकी निन्दा या स्तुति किया करते हैं। भक्तमें अपने कहलानेवाले नाम और शरीरमें लेशमात्र भी अहंता और ममता नहीं होती। इसलिये निन्दा-स्तुतिका उसपर लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता। भक्तका न तो अपनी स्तुति या प्रशंसा करनेवालेके प्रति राग होता है और न निन्दा करनेवालेके प्रति द्वेष ही होता है। उसकी दोनोंमें ही समबुद्धि रहती है।

साधारण मनुष्योंके अन्तःकरणमें अपनी प्रशंसाकी कामना रहा करती है, इसलिये वे अपनी निन्दा सुनकर दुःख एवं स्तुति सुनकर सुखका अनुभव करते हैं। इसके विपरीत (अपनी प्रशंसा न चाहनेवाले) साधक पुरुष निन्दा सुनकर सावधान होते हैं और स्तुति सुनकर लज्जित होते हैं। परन्तु नाममें किञ्चिन्मात्र भी अपनापन न होनेके कारण सिद्ध भक्त इन दोनों भावोंसे रहित होता है अर्थात् निन्दा-स्तुतिमें सम होता है। हाँ, वह भी कभी-कभी लोकसंग्रहके लिये साधककी तरह (निन्दामें सावधान तथा स्तुतिमें लज्जित होनेका) व्यवहार कर सकता है।

भक्तकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि होनेके कारण भी उसका निन्दा-स्तुति करनेवालोंमें भेदभाव नहीं होता। ऐसा भेदभाव न रहनेसे ही यह प्रतीत होता है कि वह निन्दा-स्तुतिमें सम है।

भक्तके द्वारा निन्दित कर्म तो हो ही नहीं सकते और शुभ-कर्मोंके होनेमें वह केवल भगवान्‌को हेतु मानता है। फिर भी उसकी कोई निन्दा या स्तुति करे, तो उसके चित्तमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता।*

मौनी—मननशील है।

---

* चौदहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' पदसे गुणातीत पुरुषके लिये भी कहा गया है कि वह निन्दा-स्तुतिमें सम होता है। गुणातीत पुरुष अपने स्वरूप अर्थात् चिन्मयतामें स्थित होता है। इसलिये जड़ शरीर और नामकी निन्दा-स्तुतिका उसपर किसी प्रकारका प्रभाव पड़नेकी कोई सम्भावना नहीं रहती; क्योंकि आत्मस्वरूपमें एक चेतनके सिवा जड़ताका अत्यन्ताभाव होता है।

सिद्ध भक्तके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक भगवत्स्वरूपका मनन होता रहता है, इसलिये उसे 'मौनी' अर्थात् मननशील कहा गया है। अन्तःकरणमें आनेवाली प्रत्येक वृत्तिमें उसे 'वासुदेवः सर्वम्' (गीता ७ । १९) 'सब कुछ भगवान् ही है'—यही दीखता है। फलतः उसके द्वारा निरन्तर ही भगवान्का मनन होता है।

यहाँ 'मौनी' पदका अर्थ वाणीका मौन रखनेवाला नहीं माना जा सकता; क्योंकि ऐसा माननेसे वाणीके द्वारा भक्तिका प्रचार करनेवाले भक्त पुरुष भक्त ही नहीं कहलायेंगे। इसके अतिरिक्त यदि वाणीका मौन करनेमात्रसे भक्त होना सम्भव होता, तो भक्त होना बहुत ही सहज हो जाता और ऐसे भक्त असंख्य बन जाते; किंतु संसारमें भक्तोंकी संख्या अधिक देखनेमें नहीं आती। इसके सिवा असुर-स्वभाववाला दम्भी व्यक्ति भी हठपूर्वक वाणीका मौन कर सकता है! पर यहाँ भगवत्प्राप्त सिद्ध भक्तके लक्षण बतलाये जा रहे हैं। इसलिये यहाँ 'मौनी' पदका अर्थ 'भगवत्स्वरूपका मनन करने-वाला' ही माना जाना युक्तिसंगत है। *

येन केनचित् संतुष्टः—जिस-किसी प्रकारसे भी (शरीरका निर्वाह होनेमें) संतुष्ट है।

---

* पाँचवें अध्यायके छठे तथा अट्ठाईसवें श्लोकमें 'मुनिः' पदसे साधकको भगवत्स्वरूपका मनन करनेवाला बतलाया गया है।

दूसरे अध्यायके छप्पनवें श्लोकमें 'मुनिः' पदसे सिद्ध कर्मयोगीकी मननशीलताका लक्ष्य कराया गया है।

दसवें अध्यायके अड़तीसवें श्लोकमें 'मौनम्' पद वाणीके मौनका द्योतक है। सत्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'मौनम्' पद (मानसिक तपके अन्तर्गत प्रयुक्त होनेसे) परमात्मस्वरूपका मनन करनेके अर्थमें आया है।

दूसरे लोगोंको भक्त 'येन केनचित् संतुष्टः' अर्थात् प्रारब्धानुसार शरीर-निर्वाहके लिये जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतुष्ट दीखता है; परंतु वास्तवमें भक्तकी संतुष्टिका हेतु कोई सांसारिक पदार्थ, परिस्थिति आदि नहीं होता। एकमात्र भगवान्‌में ही प्रेम होनेके कारण वह नित्य-निरन्तर भगवान्‌में ही संतुष्ट रहता है। इस संतुष्टिके कारण वह संसारकी प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिमें सम रहता है; क्योंकि उसके अनुभवमें प्रत्येक अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भगवान्‌के मङ्गलमय विधानसे ही आती है। इस प्रकार प्रत्येक परिस्थितिमें नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहनेके कारण उसे 'येन केनचित् संतुष्टः' कहा गया है।*

अनिकेतः—रहनेके स्थान और शरीरमें भी ममता-आसक्तिसे रहित है।

जिनका कोई निकेत अर्थात् वासस्थान नहीं है, वे ही 'अनिकेत' हों—ऐसी बात नहीं है। चाहे गृहस्थ हों या साधु-संन्यासी, जिनकी अपने रहनेके स्थानमें ममता-आसक्ति नहीं है, वे सभी 'अनिकेत' हैं। भक्तका रहनेके स्थानमें एवं शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर)-में लेशमात्र भी अपनापन एवं आसक्ति नहीं होती। इसलिये उसे 'अनिकेतः' कहा गया है।

---

* दूसरे अध्यायके पचपनवें श्लोकमें 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' पद, तीसरे अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें 'आत्मतृप्तः' एवं 'आत्मन्येव च संतुष्टः' पद, चौथे अध्यायके बीसवें श्लोकमें 'नित्यतृप्तः' पद, छठे अध्यायके बीसवें श्लोकमें 'आत्मनि तुष्यति' पद और इसी (बारहवें) अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'सततं संतुष्टः' पद इसी प्रकारकी संतुष्टिका बोध करानेके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

स्थिरमतिः—(और) स्थिर बुद्धिवाला है ।

भक्तकी बुद्धिमें भगवत्तत्त्वकी सत्ता और स्वरूपके सम्बन्धमें कोई संशय अथवा विपर्यय (विपरीत ज्ञान) नहीं होता । अतः उसकी बुद्धि भगवत्तत्त्वके ज्ञानसे कभी किसी अवस्थामें विचलित नहीं होती । इसलिये उसे 'स्थिरमतिः' कहा गया है । भगवत्तत्त्वको जाननेके लिये उसे कभी किसी प्रमाण या शास्त्र-विचार, स्वाध्याय आदिकी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि वह स्वाभाविक रूपसे भगवत्तत्त्वमें निमग्न रहता है ।

स्थिरबुद्धि होनेमें कामनाएँ ही बाधक होती हैं * । अतः कामनाओंके त्यागसे ही स्थिरबुद्धि होना सम्भव है † । अन्तःकरणमें सांसारिक (संयोगजन्य) सुखकी कामना रहनेसे संसारमें आसक्ति हो जाती है । यह आसक्ति संसारको असत्य या मिथ्या जान लेनेपर

---

* भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥
(गीता २ । ४४)

'सांसारिक सुखका वर्णन करनेवाली वाणीके द्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, जो भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषोंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती ।'

† प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
(गीता २ । ५५)

'हे अर्जुन ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।'

भी मिटती नहीं, वैसे ही जैसे सिनेमामें दीखनेवाले दृश्य (प्राणी-पदार्थों) को मिथ्या जानते हुए भी उसमें आसक्ति हो जाती है, अथवा जैसे भूतकालकी बातोंको स्मरण करते समय मानसिक दृष्टिके सामने आनेवाले दृश्यको मिथ्या जानते हुए भी उसमें आसक्ति हो जाती है। अतः जबतक अन्तःकरणमें सांसारिक सुखकी कामना है, तबतक संसारको मिथ्या माननेपर भी संसारकी आसक्ति नहीं मिटती। आसक्तिसे संसारकी स्वतन्त्र सत्ता दृढ़ होती है। सांसारिक सुखकी कामना मिटनेपर आसक्ति स्वतः मिट जाती है। आसक्ति मिटनेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव हो जाता है और एक भगवत्तत्त्वमें बुद्धि स्थिर हो जाती है।

भक्तिमान् नरः मे प्रियः—(वह) भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।

'भक्तिमान्' पदमें 'भक्ति' शब्दके साथ नित्ययोगके अर्थमें 'मतुप्' प्रत्यय है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यमें स्वाभाविकरूपसे 'भक्ति' (भगवत्प्रेम) रहती है। मनुष्यसे भूल यही होती है कि वह भगवान्‌को छोड़कर संसारकी भक्ति करने लगता है। इसलिये उसे स्वाभाविक रहनेवाली भगवद्भक्तिका रस नहीं मिल पाता और उसके जीवनमें नीरसता रहती है। सिद्ध भक्त नित्य-निरन्तर भक्ति-रसमें निमग्न रहता है। अतः उसे 'भक्तिमान्' कहा गया है। ऐसा भक्तिमान् पुरुष भगवान्‌को प्रिय होता है।

'नरः' पद देनेका तात्पर्य यही है कि भगवान्‌को प्राप्त करके जिसने अपना मनुष्यजीवन सफल (सार्थक) कर लिया है, वही

वास्तवमें नर (मनुष्य) है। जो मनुष्य-शरीरको पाकर सांसारिक भोग और संग्रहमें ही लगा हुआ है, वह नर (मनुष्य) कहलाने-योग्य नहीं है।

प्रकरण-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान्‌ने पहले प्रकरणके अन्तर्गत तेरहवें-चौदहवें श्लोकोंमें सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करके अन्तमें **'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'** कहा, दूसरे प्रकरणके अन्तर्गत पंद्रहवें श्लोकके अन्तमें **'यः स च मे प्रियः'** कहा, तीसरे प्रकरणके अन्तर्गत सोलहवें श्लोकके अन्तमें **'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'** कहा, चौथे प्रकरणके अन्तर्गत सत्रहवें श्लोकके अन्तमें **'भक्तिमान् यः स मे प्रियः'** कहा और अन्तिम पाँचवें प्रकरणके अन्तर्गत अठारहवें-उन्नीसवें श्लोकोंके अन्तमें **'भक्तिमान् मे प्रियो नरः'** कहा। इस प्रकार भगवान्‌ने पाँच वार पृथक्-पृथक् **'मे प्रियः'** पद देकर सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंके एक ही प्रकरणको पाँच भागोंमें विभक्त किया है। इसलिये सात श्लोकोंमें बतलाये गये सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंको एक ही प्रकरणके अन्तर्गत नहीं समझना चाहिये। इसका प्रधान कारण यह है कि यदि यह एक ही प्रकरण होता, तो एक लक्षणको बार-बार न कहकर एक ही बार कहा जाता, और **'मे प्रियः'** पद भी एक ही बार कहे जाते।

पाँचों प्रकरणोंके अन्तर्गत सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव बतलाया गया है। जैसे पहले प्रकरणमें **'निर्ममः'** पदसे रागका **'अद्वेष्टा'** पदसे द्वेषका और **'समदुःखसुखः'** पदसे हर्ष-शोकका अभाव बतलाया गया है। दूसरे प्रकरणमें

*

'हर्षामर्षभयोद्वेगैः' पदसे राग-द्वेष और हर्ष-शोकके अभावका उल्लेख किया गया है। तीसरे प्रकरणमें 'अनपेक्षः' पदसे रागका, 'उदासीनः' पदसे द्वेषका और 'गतव्यथः' पदसे हर्ष-शोकके अभावका निरूपण किया गया है। चौथे प्रकरणमें 'न काङ्क्षति' पदोंसे रागका, 'न द्वेष्टि' पदोंसे द्वेषका और 'न हृष्यति' तथा 'न शोचति' पदोंसे हर्ष-शोकका अभाव बतलाया गया है। अन्तिम पाँचवें प्रकरणमें 'सङ्गविवर्जितः' पदसे रागका, 'संतुष्टः' पदसे एकमात्र भगवान्‌में ही संतुष्ट रहनेके फलस्वरूप द्वेषका और 'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः' पदोंसे हर्ष-शोकका अभाव निरूपित किया गया है।

यदि सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका निरूपण करनेवाला (सात श्लोकोंका) एक ही प्रकरण होता, तो सिद्ध भक्तमें राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारोंके अभावकी बात कहीं शब्दोंसे और कहीं भावसे बार-बार कहनेकी आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार चौदहवें और उन्नीसवें श्लोकोंमें 'संतुष्टः' पदका तथा तेरहवें श्लोकमें 'समदुःखसुखः' और अठारहवें श्लोकमें 'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः' पदोंका भी सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें दो बार प्रयोग हुआ है, जिससे (सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका एक ही प्रकरण माननेसे) पुनरुक्तिका दोष आता है। भगवान्‌के दिव्य वचनोंमें पुनरुक्तिका दोष आना सम्भव ही नहीं। अतः सातों श्लोकोंके विषयको एक प्रकरण न मानकर अलग-अलग पाँच प्रकरण मानना ही युक्तिसंगत है।

इस प्रकार पाँचों प्रकरण स्वतन्त्र (भिन्न-भिन्न) होनेसे किसी एक प्रकरणके भी सब लक्षण जिसमें पूर्ण हों, वही भगवान्‌का प्रिय

भक्त है । प्रत्येक प्रकरणमें सिद्ध भक्तोंके भिन्न-भिन्न लक्षण बतलानेका कारण यह है कि प्रकृति (स्वभाव), साधन-पद्धति, प्रारब्ध, वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिके भेदसे सब भक्तोंके लक्षणोंमें भी परस्पर थोड़ा-बहुत भेद रहा करता है । हाँ, राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारोंका अत्यन्ताभाव एवं समतामें स्थिति और समस्त प्राणियोंके हितमें रति सबकी समान ही होती है ।

साधकको अपनी रुचि, विश्वास, योग्यता, स्वभाव आदिके अनुसार जो प्रकरण अपने अनुकूल दिखायी दे, उसीको आदर्श मानकर तदनुसार अपना जीवन बनानेमें लग जाना चाहिये । किसी एक प्रकरण-के भी यदि पूरे लक्षण अपनेमें न आयें, तब भी साधकको निराश नहीं होना चाहिये । फिर सफलता अवश्यम्भावी है ॥ १९-२० ॥

सम्बन्ध—

पूर्ववर्ती सात श्लोकोंमें भगवान्‌ने सिद्ध भक्तोंके कुल उन्तालीस लक्षण बतलाये । पहले श्लोकमें अर्जुनने जिन साधकोंके विषयमें प्रश्न किया था, उसीके उत्तरमें भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके साधन एवं सिद्ध भक्तोंके लक्षण कहे । अब प्रेम-पिपासु साधक भक्तोंको अपना अत्यन्त प्रिय बतलाकर उस प्रसङ्गका उपसंहार करते हैं ।

श्लोक—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

भावार्थ—

श्रीभगवान् कहते हैं कि मुझमें अत्यन्त श्रद्धा रखनेवाले और मेरे परायण हुए जो साधक भक्त सिद्ध भक्तोंके लक्षण-समुदायरूप धर्मयुक्त

अमृतमय उपदेशको (जो भगवान्‌ने तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक कहा है) अपने जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करते हैं, वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, क्योंकि मेरा साक्षात् अनुभव हुए बिना भी वे मुझपर प्रत्यक्षकी भाँति पूर्ण श्रद्धा-विश्वास करके मेरे परायण होकर मेरी प्राप्तिके लिये साधन करते हैं। यद्यपि साधक होनेके कारण उनकी दृष्टिमें सांसारिक धन, मान, बड़ाई आदिका कुछ महत्त्व रह सकता है, तथापि वे संसारको महत्त्व न देकर मेरी साङ्गोपाङ्ग उपासनाको ही महत्त्व देते हैं।

अन्वय—

तु, ये, श्रद्दधाना, मत्परमा, यथा, उक्तम्, इदम्, धर्म्यामृतम्, पर्युपासते, ते, भक्ताः, मे, अतीव, प्रियाः ॥ २० ॥

पद-व्याख्या—

तु—और।

'तु' पदका प्रयोग प्रकरणको अलग करनेके लिये किया जाता है। यहाँ सिद्ध भक्तोंके प्रकरणसे साधक भक्तोंके प्रकरणको अलग करनेके लिये 'तु' पदका प्रयोग हुआ है। इस पदसे ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्ध भक्तोंकी अपेक्षा साधक भक्त भगवान्‌को विशेष प्रिय हैं।

ये—जो।

इस पदसे भगवान्‌ने उन साधक भक्तोंका निर्देश किया है, जिनके विषयमें अर्जुनने पहले श्लोकमें प्रश्न करते हुए 'ये' पदका प्रयोग किया था। उसी प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें सगुणकी उपासना करनेवाले साधकोंको अपने मतमें ('ये' और 'ते'

पदोंसे) 'युक्ततमाः' बतलाया था । फिर उसी सगुण-उपासनाके साधन बतलाये । तत्पश्चात् सिद्ध भक्तोंके लक्षण बतलाकर अब उसी प्रसङ्गका उपसंहार करते हैं ।

यहाँ 'ये' पद उन परम श्रद्धालु भगवत्परायण साधकोंके लिये आया है, जो सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंको आदर्श मानकर साधन करते हैं ।

श्रद्दधानाः—श्रद्धायुक्त ।

भगवत्प्राप्ति हो जानेके कारण सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें श्रद्धाकी बात नहीं आयी; क्योंकि जबतक नित्यप्राप्त भगवान्‌का अनुभव नहीं होता, तभीतक श्रद्धाकी आवश्यकता है । अतः इस पदको श्रद्धालु साधक भक्तोंका ही वाचक मानना चाहिये । ऐसे श्रद्धालु भक्त भगवान्‌के पूर्ववर्णित धर्ममय अमृतरूप उपदेशको भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे अपनेमें उतारनेकी चेष्टा किया करते हैं ।

यद्यपि भक्तिके साधनमें श्रद्धा और प्रेमका तथा ज्ञानके साधनमें विवेकका महत्त्व होता है, तथापि इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भक्तिके साधनमें विवेकका और ज्ञानके साधनमें श्रद्धाका महत्त्व ही नहीं है । वस्तुतः श्रद्धा एवं विवेककी सभी साधनोंमें बहुत आवश्यकता है । विवेक होनेसे भक्ति-साधनमें तीव्रता आती है । इसी प्रकार शास्त्रोंमें तथा परमात्मतत्त्वमें श्रद्धा होनेसे ही ज्ञान-साधनका पालन हो सकता है । अतएव भक्ति और ज्ञान दोनों ही साधनोंमें श्रद्धा और विवेक सहायक हैं ।

मत्परमाः—(और) मेरे परायण हुए (साधक भक्त) ।

साधक भक्तोंका सिद्ध भक्तोंमें अत्यन्त पूज्यभाव होता है। उनकी सिद्ध भक्तोंके गुणोंमें श्रेष्ठ बुद्धि होती है। अतः वे उन गुणोंको आदर्श मानकर आदरपूर्वक उनका अनुसरण करनेके लिये भगवान्‌के परायण होते हैं। इस प्रकार भगवान्‌का चिन्तन होने और भगवान्‌पर ही निर्भर रहनेसे वे सब गुण उनमें स्वतः आ जाते हैं।

भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें 'मत्परमः' पदसे और इसी (बारहवें) अध्यायके छठे श्लोकमें 'मत्पराः' पदसे अपने परायण होनेकी बात विशेषरूपसे कहकर अन्तमें पुनः उसी बातको इस श्लोकमें 'मत्परमाः' पदसे कहा है। इससे सिद्ध होता है कि भक्तियोगमें भगवत्परायणता मुख्य है। भगवत्परायण होनेपर भगवत्कृपासे अपने-आप साधन होता है और असाधन (साधनके विघ्नों) का नाश होता है।

यथा उक्तम् इदम् धर्म्यामृतम्—पहले कहे हुए इस धर्ममय अमृतका।

सिद्ध भक्तोंके उन्तालीस लक्षणोंके पाँचों प्रकरण धर्ममय अर्थात् धर्मसे ओतप्रोत हैं। उनमें किञ्चित् भी अधर्मका अंश नहीं है। जिस साधनमें साधन-विरोधी अंश सर्वथा नहीं होता, वह साधन अमृततुल्य होता है। पहले कहे हुए लक्षण-समुदायके धर्ममय होने तथा उसमें साधनविरोधी कोई बात न होनेसे ही उसे 'धर्म्यामृत' संज्ञा दी गयी है।

साधनमें साधन-विरोधी कोई बात न होते हुए भी जैसा पहले कहा गया है, ठीक वैसा-का-वैसा धर्ममय अमृतका सेवन तभी सम्भव है, जब साधकका उद्देश्य आंशिकरूपसे भी धन, मान, बड़ाई,

आदर, सत्कार, संग्रह, सुखभोग आदि न होकर एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही हो।

प्रत्येक प्रकरणके सब लक्षण धर्म्यामृत हैं। पाँचों प्रकरणोंके लक्षण-समुदायका सेवन करना भी उत्तम है; परंतु साधक जिस प्रकरणके लक्षणोंको आदर्श मानकर साधन करता है, उसके लिये वही धर्म्यामृत है।

धर्म्यामृतके जो 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः·····'आदि लक्षण बतलाये गये हैं, वे आंशिकरूपसे साधकमात्रमें रहते हैं और इनके साथ-साथ कुछ दुर्गुण-दुराचार भी रहते हैं। प्रत्येक प्राणीमें गुण-और अवगुण दोनों ही रहते हैं, फिर भी अवगुणोंका तो सर्वथा त्याग हो सकता है, पर गुणोंका सर्वथा त्याग नहीं हो सकता। कारण कि साधन और स्वभावके अनुसार सिद्ध पुरुषमें गुणकी तारतम्यता तो रहती है; परंतु उनमें गुणोंकी कमीरूप अवगुण किञ्चित् भी नहीं रहता। गुणोंमें न्यूनाधिकता रहनेसे उनके पाँच विभाग किये गये हैं; परंतु अवगुण सर्वथा त्याज्य हैं, अतः उनका विभाग हो ही नहीं सकता।

साधक सत्सङ्ग तो करता है, पर साथ-ही-साथ कुसङ्ग भी होता रहता है। वह संयम तो करता है, पर साथ-ही-साथ असंयम भी होता रहता है। वह साधन तो करता है, पर साथ-ही-साथ असाधन भी होता रहता है। जबतक साधनके साथ असाधन अथवा गुणोंके साथ अवगुण रहते हैं, तबतक साधककी साधना पूर्ण नहीं होती; क्योंकि असाधनके साथ साधन अथवा अवगुणोंके साथ गुण उनमें

भी पाये जाते हैं, जो साधक नहीं है । इसके अतिरिक्त जबतक साधनके साथ असाधन अथवा गुणोंके साथ अवगुण रहते हैं, तबतक साधकमें अपने साधन अथवा गुणोंका अभिमान रहता है, जो आसुरी सम्पत्तिका आधार है । इसीलिये धर्म्यामृतका यथोक्त (यथा उक्तम) सेवन करनेके लिये कहा गया है । तात्पर्य यह है कि इसका ठीक वैसा ही पालन होना चाहिये, जैसा वर्णन किया गया है, यदि धर्म्यामृतके सेवनमें दोष (असाधन) भी साथ रहेंगे, तो तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी । अत इस विषयमें साधकको विशेष सावधान रहना चाहिये । यदि साधनमें किसी कारणवश आंशिक-रूपसे कोई दोषमय वृत्ति उत्पन्न हो जाय, तो उसकी अवहेलना न करके तत्परतासे उसे हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये । चेष्टा करनेपर भी न हटे, तो व्याकुलतापूर्वक प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये ।

जितने सद्गुण, सदाचार, सद्भाव आदि हैं, वे सब-के-सब 'सत्' (परमात्मा) के सम्बन्धसे ही होते हैं । इसी प्रकार दुर्गुण, दुराचार, दुर्भाव आदि सब 'असत्'के सम्बन्धसे ही होते ह । दुराचारी-से-दुराचारी पुरुषमें भी सद्गुण-सदाचारका सर्वथा अभाव नहीं होता, क्योंकि 'सत्' (परमात्मा)का अंश होनेके कारण जीवमात्रका 'सत्'से नित्यसिद्ध सम्बन्ध है । परमात्मासे सम्बन्ध रहनेके कारण किसी-न-किसी अंशमें उसमें सद्गुण-सदाचार रहेंगे ही । परमात्माकी प्राप्ति होनेपर असत्से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और दुर्गुण, दुराचार, दुर्भाव आदि सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ।

सद्गुण-सदाचार-सद्भाव भगवान्‌की सम्पत्ति है । इसलिये साधक जितना ही भगवान्‌के सम्मुख अथवा भगवत्परायण होता

जायगा, उतने ही अंशमें उसमें स्वतः सद्गुण-सदाचार-सद्भाव प्रकट होते जायँगे एवं दुर्गुण-दुराचार-दुर्भाव नष्ट होते जायँगे।

राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि अन्तःकरणके विकार हैं, धर्म नहीं*। धर्मीके साथ धर्मका नित्य-सम्बन्ध रहता है। जैसे, सूर्यरूप धर्मीके साथ उष्णतारूप धर्मका नित्य-सम्बन्ध रहता है, जो कभी मिट नहीं सकता। अतः धर्मीके बिना धर्म तथा धर्मके बिना धर्मी नहीं रह सकता। काम-क्रोधादि विकार साधारण मनुष्यमें भी हर समय नहीं रहते, साधन करनेवालेमें कम होते रहते हैं, और सिद्ध पुरुषमें तो सर्वथा ही नहीं रहते। यदि ये विकार अन्तःकरणके धर्म होते, तो हर समय एकरूपसे रहते और अन्तःकरण (धर्मी) के रहते हुए कभी नष्ट नहीं होते। अतः ये अन्तःकरणके धर्म नहीं, अपितु आगन्तुक (आने-जानेवाले) विकार हैं। साधक जैसे-जैसे अपने एकमात्र लक्ष्य भगवान्‌की ओर बढ़ता है, वैसे-ही वैसे राग-द्वेषादि विकार मिटते जाते हैं एवं अपने लक्ष्य भगवान्‌को प्राप्त होनेपर उन विकारोंका अत्यन्ताभाव हो जाता है।

गीतामें स्थान-स्थानपर भगवान्‌ने **'तयोर्न वशमागच्छेत्'** (३ । ३४), **'रागद्वेषवियुक्तैः'** (२ । ६४), **'रागद्वेषौ व्युदस्य'** (१८ । ५१) आदि पदोंसे साधकोंको इन राग-द्वेषादि

---

* तेरहवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'इच्छा द्वेषः' पदोंसे राग-द्वेषादिको क्षेत्रका विकार ही बतलाया गया है—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

(गीता १३ । ६)

विकारोंका सर्वथा त्याग करनेके लिये आदेश दिया है। यदि ये (राग-द्वेषादि) अन्तःकरणके धर्म होते, तो अन्तःकरणके रहते हुए इनका त्याग असम्भव होता और असम्भवको सम्भव बनानेके लिये भगवान् आदेश भी कैसे दे सकते थे।

गीतामें सिद्ध महापुरुषोंको राग-द्वेषादि विकारोंसे सर्वथा मुक्त बतलाया गया है। जैसे, इसी अध्यायके तेरहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक जगह-जगह भगवान्ने सिद्ध भक्तोंको राग-द्वेषादि विकारोंसे सर्वथा मुक्त बतलाया है। इसलिये भी ये विकार ही सिद्ध होते हैं, अन्तःकरणके धर्म नहीं। असत्से सर्वथा विमुख होनेसे उन सिद्ध महापुरुषोंमें ये विकार लेशमात्र भी नहीं रहते। यदि अन्तःकरणमें ये विकार बने रहते, तो फिर वे मुक्त किससे होते?

जिसमें ये विकार लेशमात्र भी नहीं हैं, ऐसे सिद्ध महापुरुषके अन्तःकरणके लक्षणोंको आदर्श मानकर भगवत्प्राप्तिके लिये उनका अनुकरण करनेके लिये भगवान्ने उन लक्षणोंको यहाँ 'धर्म्यामृतम्' के नामसे सम्बोधित किया है*।

---

* दूसरे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें 'धर्म्यात्' पद और तैंतीसवें श्लोकमें 'धर्म्यम्' पद धर्ममय युद्धके लिये प्रयुक्त हुए हैं। नवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'धर्म्यम्' से विज्ञानसहित ज्ञानको 'धर्ममय' बतलाया गया है। अठारहवें अध्यायके सत्तरवें श्लोकमें 'धर्म्यम्' पदसे भगवान् और अर्जुनके संवादरूप गीताशास्त्रको 'धर्ममय' कहा गया है।

नवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें 'अमृतम्' पदसे भगवान्ने अमृतको अपनी विभूति बतलाया है। दसवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें 'अमृतम्' पदमें अर्जुनने भगवान्के वचनोंको अमृततुल्य बतलाया है। तेरहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें और चौदहवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें 'अमृतम्' पद अमरताका वाचक है। चौदहवें अध्यायके ही सत्ताईसवें श्लोकमें 'अमृतस्य' पद भगवत्स्वरूपका वाचक है।

पर्युपासते--भलीभाँति सेवन करते हैं ।

साधक भक्तोंकी दृष्टिमें भगवान्‌के प्रिय सिद्ध भक्त अत्यन्त श्रद्धास्पद होते हैं । भगवान्‌के प्रति स्वाभाविक आकर्षण (प्रियता) होनेके कारण उनमें दैवी-सम्पत्ति अर्थात् सद्गुण (भगवान्‌के होनेसे) स्वाभाविक ही आ जाते हैं । फिर भी साधकोंका उन सिद्ध महापुरुषोंके गुणोंके प्रति स्वाभाविक आदरभाव होता है; और वे उन गुणोंको अपनेमें उतारनेकी चेष्टा करते हैं । यही साधक भक्तोंद्वारा उन गुणोंका भलीभाँति सेवन करना, उन्हें अपनाना है ।

इसी अध्यायके तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक, सात श्लोकोंमें 'धर्म्यामृत'का जिस रूपमें वर्णन किया गया है, उसका ठीक उसी रूपमें श्रद्धापूर्वक भलीभाँति सेवन करनेके अर्थमें यहाँ 'पर्युपासते' पद प्रयुक्त हुआ है । भलीभाँति 'सेवन'का तात्पर्य यही है कि साधकमें किञ्चिन्मात्र भी अवगुण नहीं रहने चाहिये । जैसे, साधकमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति करुणाका भाव पूर्णरूपसे भले ही न हो, फिर भी उसमें किसी प्राणीके प्रति अकरुणा (निर्दयता) का भाव बिल्कुल भी नहीं रहना चाहिये । साधकोंमें ये लक्षण साङ्गोपाङ्ग नहीं होते, इसीलिये उनसे इनका सेवन करनेके लिये कहा गया है । साङ्गोपाङ्ग लक्षण होनेपर वे सिद्धकी कोटिमें आ जायँगे ।

साधकमें भगवत्प्राप्तिकी तीव्र उत्कण्ठा और व्याकुलता होनेपर उसके अवगुण अपने-आप नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि उत्कण्ठा और व्याकुलता अवगुणोंको खा जाती है तथा उसके द्वारा साधन भी अपने-आप होने लगता है । इस कारण उन्हें भगवत्प्राप्ति शीघ्रता और सुगमतासे हो जाती है ।

ते—वे।

भक्ता—भक्त।

भक्तिमार्गपर चलनेवाले प्रेम पिपासु एव भगवदाश्रित साधकोंके लिये यहाँ 'भक्ता' पद प्रयुक्त हुआ है।

भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके तिरपनवे श्लोकमे वेदाध्ययन, तप, दान, यज्ञ आदिसे अपने दर्शनकी दुर्लभता बतलाकर चौवनवें श्लोकमे अनन्यभक्तिसे अपने दर्शनकी सुलभताका वर्णन किया। फिर पचपनवें श्लोकमे अपने भक्तके लक्षणोंके रूपमें अनन्य भक्तिके स्वरूपका वर्णन किया। इसपर अर्जुनने इसी (बारहवे) अध्यायके पहले श्लोकमें यह प्रश्न किया कि सगुण साकारके उपासकों और निर्गुण-निराकारके उपासकोमें श्रेष्ठ कौन है? भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें उक्त प्रश्नके उत्तरमे (सगुण-साकारकी उपासना करनेवाले) उन साधकोको श्रेष्ठ बतलाया, जो भगवान्‌मे मन लगाकर अत्यन्त श्रद्धा-पूर्वक उनकी उपासना करते है। यहाँ उपसहारमें 'भक्ता' पदसे उन्हीं साधकोंका निर्देश किया गया है।

मे अतीव प्रिया—मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

पूर्ववर्णित साधकोंको यहाँ भगवान् अपना अत्यन्त प्रिय बतलाते हैं।

सिद्ध भक्तोंको 'प्रिय' और साधकोंको 'अत्यन्त प्रिय' बतलानेके कारण इस प्रकार हैं—

(१) सिद्ध भक्तोंको तो तत्त्वका अनुभव अर्थात् भगवत्प्राप्ति हो चुकी है, किन्तु साधक भक्त भगवत्प्राप्ति न होनेपर भी श्रद्धापूर्वक

भगवान्‌के परायण होते हैं। इसलिये वे भक्तजनप्रिय भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय होते हैं।

(२) सिद्ध भक्त भगवान्‌के बड़े पुत्रके समान हैं—

'मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।'

परन्तु साधक भक्त भगवान्‌के छोटे, अबोध बालकके समान हैं—

'बालक सुत सम दास अमानी॥'

(मानस ३। ४३। ४)

छोटा बालक स्वतः ही सबको प्रिय लगता है। इसलिये भक्तवत्सल भगवान्‌को भी साधक भक्त अतिशय प्रिय हैं।

(३) सिद्ध भक्तको तो भगवान् अपने प्रत्यक्ष दर्शन देकर अपनेको ऋणमुक्त मान लेते हैं, पर साधक भक्त तो (प्रत्यक्ष दर्शन न होनेपर भी) सरल विश्वासपूर्वक एकमात्र भगवान्‌के आश्रित होकर उनकी भक्ति करते हैं। अतः उन्हें अभीतक अपने प्रत्यक्ष दर्शन न देनेके कारण भक्तभक्तिमान् भगवान् अपनेको उनका ऋणी मानते हैं, और इसीलिये उन्हें अपना अत्यन्त प्रिय कहते हैं॥ २०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्‌रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'भक्तियोग' नामक बारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ १२॥

'ॐ, तत्, सत्'—ये तीनों भगवान्‌के पवित्र नाम हैं*। स्वयं श्रीभगवान्‌के द्वारा गायी जानेके कारण इसका नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। यद्यपि संस्कृत व्याकरणके नियमानुसार इसका नाम 'गीतम्' होना चाहिये था, तथापि उपनिषद् होनेसे स्त्रीलिङ्ग शब्द 'गीता' का प्रयोग किया गया है। इसमें सम्पूर्ण उपनिषदोंका सार-तत्त्व संगृहीत है† और यह स्वयं भी भगवद्वाणी होनेसे उपनिषद् है, इसीलिये इसे 'उपनिषद्' कहा गया है। निर्गुण-निराकार परमात्माके परमतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाली होनेके कारण इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' है, और जिसे 'योग' नामसे कहा गया है, उस कर्मयोग अर्थात् निष्काम भावपूर्ण कर्मके तत्त्वका इसमें उपदेश होनेके कारण यह 'योगशास्त्र' है। यह साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तप्रवर अर्जुनका संवाद है। इस (बारहवें) अध्यायमें अनेक प्रकारके साधनोंसहित भगवद्भक्तिका वर्णन करके भक्तोंके लक्षण बतलाये गये हैं, और इस अध्यायका उपक्रम तथा उपसंहार भी भगवद्भक्तिमें ही हुआ है।

---

* ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

(गीता १७। २३ का पूर्वार्द्ध)

'ॐ, तत्, सत्'—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा गया है।'

† सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

(वैष्णवीयतन्त्रसार)

'सम्पूर्ण उपनिषद् गायें हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उन्हें दुहनेवाले हैं, अर्जुन बछड़ा है, गीतारूप अमृत ही दूध है और श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुष ही उसका पान करनेवाले हैं।'

केवल तीसरे, चौथे और पाँचवें—तीन श्लोकोंमें ज्ञानके साधनका वर्णन है, पर वह भी भक्ति और ज्ञानकी परस्पर तुलना करके भक्तिको श्रेष्ठ बतलानेके लिये ही है। इसीलिये इस अध्यायको 'भक्तियोग' नाम दिया गया है।

बारहवें अध्यायके पद, अक्षर एवं उवाच

(१) इस अध्यायमें श्लोकोंके २४४ पद, पुष्पिकाके १३पद, उवाचके ४ पद और '**अथ द्वादशोऽध्यायः**' के ३ पद हैं। इस प्रकार पदोंका पूर्णयोग २६४ है।

(२) इस अध्यायके श्लोकोंमें ६४० अक्षर, पुष्पिकामें ४५ अक्षर, उवाचमें १३ अक्षर एवं '**अथ द्वादशोऽध्यायः**' में ७ अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग ७०५ है। इस अध्यायके सभी श्लोक ३२ अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें दो उवाच हैं—(क) '**अर्जुन उवाच**' और (ख) '**श्रीभगवानुवाच**'।

बारहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

बारहवें अध्यायके बीस श्लोकोंमेंसे—नवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'भगण' होनेसे 'भ-विपुला' और उन्नीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' होनेसे 'न-विपुला' है। अतः ये दो 'व्यक्तिपक्ष-विपुला' संज्ञावाले श्लोक हैं। बीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' और तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त हुआ है। इसलिये यह एक श्लोक संकीर्ण-विपुला' संज्ञक छन्दका है। शेष सत्रह श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

सम्बन्ध—

श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनके प्रश्न—'सगुण और निर्गुण-उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है ?—के उत्तरमें श्रीभगवान्‌ने सगुण-उपासकोंको अति उत्तम योगी बतलाया। पुनः छठे और सातवें श्लोकोंमें 'अनन्य भक्तियोगसे मेरी (सगुणकी) उपासना करनेवालोंका मैं शीघ्र ही संसार-समुद्रसे उद्धार करता हूँ'—ऐसा कहकर भगवान्‌ने अन्य सभी योगियोंसे भक्तियोगीकी श्रेष्ठताको सिद्ध किया। पाँचवें श्लोकमें सगुण और निर्गुण-उपासनाकी तुलना करते हुए भगवान्‌ने कहा कि देहाभिमानियोंके लिये अव्यक्त अर्थात् निर्गुण-तत्त्वकी उपासना कठिन है। यह देहाभिमान-रूपी बाधा दूर कैसे हो—इस विषयका तथा निर्गुण-तत्त्वका विवेचन भगवान्‌ने तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंमें किया।

चौदहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनने गुणातीत पुरुषोंके लक्षणों और आचरणोंके साथ-ही-साथ गुणातीत होनेका उपाय पूछा। इसके उत्तरमें भगवान्‌ने बाईसवेंसे पचीसवें श्लोक-तक गुणातीत पुरुषके लक्षणों और आचरणोंका वर्णन करके छब्बीसवें श्लोकमें सगुण-उपासकोंके लिये 'अव्यभिचारी भक्तियोग'को गुणातीत होनेका उपाय बतलाया। सत्ताईसवें श्लोकमें सगुण-साकाररूप भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको अविनाशी परब्रह्म, अमृत, नित्यधर्म और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय बतलाया, जिसका आशय

ऐसा प्रतीत होता है कि सगुण और निर्गुण-तत्त्वमें एकता होनेपर भी सगुण-तत्त्वकी अपनी कुछ अधिक विशेषता है] । जिस अनन्य भक्तिको भगवान् अबतक श्रेष्ठ बतलाते आये हैं, उसी अनन्य भक्तिको (भक्तके लिये) गुणातीत होनेका सुगम उपाय बतलाया । तात्पर्य यह है कि भगवान्‌का अनन्य भक्त (भगवान्‌पर ही आश्रित और भगवान्‌को ही अपना माननेके कारण) सुगमतापूर्वक गुणातीत भी हो जाता है ।................. इस (छब्बीसवें) श्लोकमें भगवान्‌ने 'अव्यभिचारेण भक्तियोगेन' पदोंसे व्यभिचारदोष (संसारके आश्रय) से रहित भक्तियोगका, 'यः' पदसे जीवका और 'माम्' पदसे अपना (परमात्माका) सूक्ष्मरूपसे वर्णन किया । इसलिये इन्हीं तीनों विषयोंका अर्थात् संसार, जीव और परमात्माका विस्तृत विवेचन भगवान् इस (पंद्रहवें) अध्यायमें करते हैं ।

जीव स्वरूपतः (परमात्माका अंश होनेसे) गुणातीत होनेपर भी अनादि अज्ञानके कारण गुणोंके प्रभावसे प्रभावित होकर गुणोंके कार्यभूत शरीर (संसार)में तादात्म्य, ममता और कामना करके आबद्ध हुआ है ।......................जबतक वह गुणोंसे अतीत (विलक्षण) तत्त्व परमात्माके प्रभावको नहीं जानता, तबतक वह प्रकृतिजन्य गुणोंके प्रभावसे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता । इसलिये भगवान् (अपनी प्राप्तिके प्रिय साधन 'अव्यभिचारिणी भक्ति' को प्राप्त कराने हेतु) अपना अत्यन्त गोपनीय और विशेष प्रभाव बतलानेके लिये इस (पंद्रहवें) अध्यायका प्रारम्भ करते हैं ।

सम्पूर्ण गीतामें केवल इस (पद्रहवें) अध्यायको ही 'गुह्यतम शास्त्र'की उपाधि मिली है (गीता १५ । २०) इसमें मनुष्य-रूपसे अवतरित भगवान्‌के द्वारा अपने-आपको पुरुषोत्तमरूपसे प्रकट करनेके कारण इसे 'गुह्यतम' तथा अन्य शास्त्रोंकी भाँति ससार, जीवात्मा और परमात्मा—इन तीनोंका वर्णन होनेके कारण इसे 'शास्त्र' कहा गया है ।

इस अध्यायमें बीस श्लोक हैं । इसमें पाँच-पाँच श्लोकोंके चार प्रकरण (विभाग) हे । प्रथम पाँच श्लोकामे 'ससार' का वर्णन है, उसमें भी पहले ढाई श्लोकामें ससार-वृक्षका वर्णन है और आगे ढाई श्लोकोंमें उसका छेदन करके भगवान्‌के शरण होनेका वर्णन है । सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक 'जीवात्मा' का वर्णन है । छठे श्लोकमें तथा बारहवेंसे पद्रहवें श्लोकोंमें 'परमात्मा'के प्रभावका वर्णन है । पुन सोलहवेंसे बीसवें श्लोकतक क्षर, अक्षर एव पुरुषोत्तम-रूपसे क्रमश ससार, जीव एव परमात्माका वर्णन करके प्रसगका उपसहार किया गया है ।

जीव परमात्माका अश है (गीता १५ । ७) । अत इसका एकमात्र सम्बन्ध अपने अशी परमात्मासे ही है किन्तु भूलसे वह अपना सम्बन्ध प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि-से मान लेता है, जिनसे उसका सम्बन्ध वास्तवमें कभी था नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं । परमात्मासे अपने वास्तविक सम्बन्धको भुलाकर शरीरादि विजातीय पदार्थोंको 'मैं' मानना तथा उन्हें अपना व अपने लिये मानना ही व्यभिचार-दोष

है। यह व्यभिचार-दोष ही अनन्य भक्तियोगमें प्रधान बाधा है। इस प्रधान बाधाको दूर करनेके लिये इस (पंद्रहवें) अध्यायके पहले पाँच श्लोकोंके प्रकरणमें भगवान् संसार-वृक्षका वर्णन करके उसका छेदन करनेकी आज्ञा देते हैं।

तेरहवें अध्यायके प्रारम्भिक दो श्लोकोंकी भाँति ही यहाँ इस पंद्रहवें अध्यायके पहले श्लोकमें भी भगवान्ने अध्यायके सम्पूर्ण विषयोंका दिग्दर्शन कराया है और 'ऊर्ध्वमूलम्' पदसे परमात्मा, 'अधःशाखम्' पदसे जीव एवं 'अश्वत्थम्' पदसे संसारकी ओर संकेत करके (संसाररूप अश्वत्थवृक्षके मूल) सर्वशक्तिमान् परमात्माको यथार्थरूपसे जाननेवालेको 'वेदवित्' कहा है।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १ ॥*

भावार्थ—

जो सभी दृष्टियोंसे सर्वोपरि हैं, वे परमात्मा संसाररूप वृक्षके 'ऊर्ध्वमूल' हैं। उन परमात्मासे ही प्रकट होनेवाले ब्रह्मा संसार वृक्षकी मुख्य शाखा (तना) हैं। ब्रह्मासे प्रकट होनेवाले देवता, मनुष्य आदि अनेक स्थावर-जंगम योनियाँ संसार-वृक्षकी अवान्तर छोटी-

* ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्॥
(कठोपनिषद् २। ३। १)

छोटी शाखाएँ हैं। ये सम्पूर्ण शाखाएँ नीचेकी* और फैली हुई हैं। कल दिनतक भी स्थिर न रहनेके कारण अर्थात् क्षणभङ्गुर होनेसे संसार-वृक्षको 'अश्वत्थ' कहते हैं। उस वृक्षके आदि-अन्तका पता न होनेसे तथा प्रवाहरूपसे नित्य रहनेके कारण उसे 'अव्यय' कहते तो हैं, परन्तु वास्तवमें वह अव्यय (नित्य) है नहीं, क्योंकि उसका निरन्तर परिवर्तन प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। वेदोंमें आये हुए सकाम अनुष्ठानोंका वर्णन उस संसारवृक्षके पत्ते कहे गये हैं। ऐसे उस अश्वत्थ-वृक्ष-रूप संसारको यथार्थरूपसे जो कोई जानता है, वही वास्तवमें वेदके यथार्थ तत्त्वको जाननेवाला है।

अन्वय—

ऊर्ध्वमूलम्, अधःशाखम्, अश्वत्थम्, अव्ययम्, प्राहुः, छन्दांसि, यस्य, पर्णानि, तम्, यः, वेद, सः, वेदवित् ॥ १ ॥

पद-व्याख्या—

ऊर्ध्वमूलम्—ऊपरकी ओर मूल (जड) वाला (अर्थात् सबसे श्रेष्ठ)। वृक्षमें मूल ही प्रधान होता है। ऐसे ही संसार-

---

* संसाररूपी वृक्ष यहाँ संसारमें पैदा हुए वृक्षोंसे सर्वथा भिन्न है। यहाँ वृक्षोंकी जड़ें जमीनके निचले भागमें, उसके ऊपर तना एवं उसके ऊपरी भागमें टहनियाँ, पत्ते, फूल, फल आदि होते हैं, किन्तु संसाररूप वृक्षमें सबसे ऊपरी भागमें परमात्मारूपी जड़, उनसे नीचे ब्रह्मारूपी मोटा तना एवं उससे और नीचे देवता, मनुष्य आदि अनेक स्थावर जंगम योनियाँरूप छोटी छोटी टहनियाँ हैं। अतएव संसाररूप वृक्षको तत्त्वसे जाननेके लिये जो सबसे ऊपर जडरूपसे परमात्मा हैं, उन्हें जानना है।

वृक्षमें परमात्मा ही प्रधान हैं। उनसे ब्रह्माजी प्रकट होते हैं, जिनका वर्णन 'अधःशाखम्' पदसे हुआ है।

सबके मूल प्रकाशक और आश्रय परमात्मा ही हैं। देश, काल, भाव, सिद्धान्त, गुण, रूप, विद्या आदि सभी दृष्टियोंसे परमात्मा ही सबसे श्रेष्ठ हैं। उनसे ऊपर अथवा श्रेष्ठकी तो बात ही क्या है, उनके समान भी दूसरा कोई नहीं है*। संसारवृक्षके मूल सर्वोपरि परमात्मा हैं। जैसे 'मूल' वृक्षका आधार होता है, वैसे ही 'परमात्मा' सम्पूर्ण जगत्‌के आधार हैं। इसीलिये उस वृक्षको 'ऊर्ध्वमूलम्' कहा गया है।

'मूल' शब्द कारणका वाचक है। इस संसार-वृक्षकी उत्पत्ति और इसका विस्तार परमात्मासे ही हुआ है, वे परमात्मा नित्य, अनन्त और सबके आधार हैं एवं सगुणरूपसे सबसे ऊपर नित्य-धाममें निवास करते हैं, इसलिये वे 'ऊर्ध्व' नामसे कहे जाते हैं। यह संसारवृक्ष उन्हीं मायापति सर्वशक्तिमान् परमात्मासे उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसको ऊपरकी ओर मूलवाला (ऊर्ध्वमूल) कहते हैं।

वृक्षके मूलसे ही तने, शाखाएँ, कोंपलें निकलती हैं। इसी प्रकार परमात्मासे ही सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, उन्हींसे विस्तृत

---

* न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

(गीता ११ । ४३)

'हे अनुपम प्रभाववाले प्रभो! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है?'

'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६ । ८)

उस (परमात्मा) से बड़ा और उसके समान भी दूसरा नहीं दीखता।

होता है और उन्हींमें स्थित रहता है। उन्हींसे शक्ति पाकर सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करता है।* ऐसे सर्वोपरि परमात्माकी शरण ग्रहण करनेसे मनुष्य सदाके लिये कृतार्थ हो जाता है। (शरण ग्रहण करनेकी बात (इसी अध्यायके) चौथे श्लोकमें 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' पदोंमें कही गयी है)।

अधःशाखम्—नीचेकी ओर शाखावाला।

साधारणतया वृक्षोंका 'मूल' नीचे और 'शाखाएँ' ऊपरकी ओर होती हैं, परंतु यह संसारवृक्ष ऐसा विचित्र वृक्ष है कि इसका 'मूल' ऊपर तथा 'शाखाएँ' नीचेकी ओर हैं।

जहाँ जानेपर मनुष्य लौटकर संसारमें वापस नहीं आता, ऐसा भगवान्‌का परमधाम ही सम्पूर्ण भौतिक संसारसे ऊपर (सर्वोपरि) है, भगवान्‌का परमधाम भगवत्स्वरूप है, भौतिक नहीं है। भौतिक संसारसे विलक्षण चेतन है, इसलिये इस संसारसे सर्वोपरि होनेके कारण ऊर्ध्वमूल है और ब्रह्माजी तथा अन्य जीव उन्हींसे उत्पन्न होनेके कारण नीचेकी ओर शाखावाले हैं। (गीता १५। ६)। संसारवृक्षकी प्रधान शाखा (तना) ब्रह्माजी हैं। क्योंकि संसारवृक्षकी उत्पत्तिके समय सबसे पहले ब्रह्माजीका

* जैसे गीतामें कहा है—'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (७। ६), 'प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्' (९। १८) 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (१०। ८), 'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी' (१५। ४) और 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्' (१८। ४६)।

उद्भव होता है। इस कारण ब्रह्माजी ही इसकी प्रधान शाखा हैं। ब्रह्मलोक भगवद्धामकी अपेक्षा नीचे है। (यहाँ 'अधःशाखम्' पदमें ब्रह्माजीसे लेकर कीट-पर्यन्त आदि सभी जीवोंका समावेश है।) स्थान, गुण, पद, आयु आदि सभी दृष्टियोंसे परमधामकी अपेक्षा निम्न श्रेणीमें होनेके कारण ही उन्हें 'अधः' (नीचेकी ओर) कहा गया है।

सृष्टि-रचनाके लिये ब्रह्माजी प्रकृतिको स्वीकार करते हैं। परंतु वास्तवमें वे (प्रकृतिसे सम्बन्ध-रहित होनेके कारण) मुक्त हैं। ब्रह्माजीके अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण जीव प्रकृति एवं उसके कार्य शरीरादिके साथ अहंता-ममतापूर्वक जितना-जितना अपना सम्बन्ध मानते हैं, उतने-उतने ही वे बन्धनमें पड़े हुए हैं और उनका बार-बार पतन (जन्म-मरण) होता रहता है अर्थात् उतनी ही शाखाएँ नीचेकी ओर फैलती रहती हैं। सात्त्विक, राजस और तामस— ये तीनों गतियाँ 'अधःशाखम्' के ही अन्तर्गत हैं।*

अश्वत्थम्—कल दिनतक भी न रहनेवाले अथवा संसाररूप पीपलके वृक्षको।

---

* ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

(गीता १४ । १८)

'सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं।'

'अश्वत्थम्' शब्दके दो अर्थ हैं—(१) जो कल दिनतक भी न रह सके* और (२) पीपलका वृक्ष ।

पहले अर्थके अनुसार—'अश्वत्थ' पदका तात्पर्य यह है कि संसार एक क्षण† भी स्थिर रहनेवाला नहीं है । केवल परिवर्तनोंके समूहका नाम ही संसार है। परिवर्तनका जो नया रूप सामने आता है, उसे उत्पत्ति कहते हैं; थोड़ा और परिवर्तन होनेपर जो स्थितिरूप-से मान लेते हैं और जब उस स्थितिका स्वरूप भी परिवर्तित हो जाता है, तब उसे समाप्ति (प्रलय) कह देते हैं । वास्तवमें इसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते ही नहीं । इसलिये इसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होनेके कारण यह (संसार) एक क्षण भी स्थिर नहीं है । दृश्यमात्र प्रतिक्षण अदर्शनमें जा रहा है । जिस दिन हमने जन्म लिया, उसी दिनसे हम प्रतिक्षण मर रहे हैं । इसी भावसे इस संसारको 'अश्वत्थम्' कहा गया है ।

दूसरे अर्थके अनुसार—'अश्वत्थ' पदका तात्पर्य संसार पीपलका वृक्ष है । भगवद्भावसे अथवा 'सबको सुख कैसे मिले'—इस भावसे संसारकी सेवा करनेसे मनुष्य बहुत शीघ्र ही इस संसाररूप वृक्षके

---

* 'श्वः पर्यन्तं न तिष्ठतीति अश्वत्थः'—'श्वस्' अव्यय आनेवाले कलका वाचक है । जो कलतक स्थिर रहे, उसे 'श्वत्थ' तथा जो कलतक स्थिर न रहे, उसे 'अश्वत्थ' कहते हैं ।

† 'क्षण' का विवेचन दार्शनिकोंने इस प्रकार किया है—कमलके पत्तेपर सूई मारी जाय तो सूईके दूसरी तरफ निकलनेमें तीन क्षण लगते हैं—पहले क्षणमें स्पर्श, दूसरे क्षणमें छेदन और तीसरे क्षणमें पार निकलना ।

मूलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है। शास्त्रोंमें अश्वत्थ अर्थात् पीपलके वृक्षकी बहुत महिमा है। स्वयं भगवान् भी सब वृक्षोंमें 'अश्वत्थ' को अपनी विभूति कहकर उसे श्रेष्ठ एवं पूज्य बतलाते हैं—**'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्'** (गीता १० । २६) पीपल, आँवला और तुलसी—इनकी भगवद्भावपूर्वक पूजा करनेसे भगवान्की पूजा हो जाती है।

परमात्मासे संसार उत्पन्न होता है। वे ही संसारके अभिन्न-निमित्तोपादान कारण हैं। अतः संसाररूपी पीपलका वृक्ष भी तत्त्वतः परमात्मस्वरूप होनेसे पूजने योग्य है। इस संसाररूप पीपल वृक्षकी पूजा यही है कि—इससे सुख लेनेकी इच्छाको त्यागकर केवल इसकी सेवा करना*। सुखकी इच्छा न रखनेवालेके लिये यह संसार साक्षात् भगवत्स्वरूप है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७ । १९) परंतु संसारसे सुखकी इच्छा रखनेवालोंके लिये भगवान् कहते हैं कि यह संसार उनके लिये दुःखोंका घर ही है **'दुःखालयम्'** (गीता ८ । १५) क्योंकि स्वयं अविनाशी है और यह संसारवृक्ष प्रतिक्षण परिवर्तनशील होनेके कारण नाशवान्, अनित्य और क्षणभंगुर है, अतएव स्वयंकी कभी भी इससे तृप्ति हो ही नहीं सकती, किंतु इससे सुखकी इच्छा करके बार-बार जन्मता-मरता रहता है। अतएव संसारसे यत्किञ्चित् भी स्वार्थका सम्बन्ध न रखकर केवल उसकी सेवा करनेका भाव ही रखना चाहिये।

---

* सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

मानव-जीवनका वास्तविक उद्देश्य भोग है ही नहीं। 'एहि तनु कर फल बिषय न भाई' (रामचरितमानस ७। ४३। १) अपितु संसारकी सेवा करनेके लिये ही भगवान्‌ने मानव-शरीर दिया है। अतएव मानवको परमात्मस्वरूप संसारकी सेवा ही करना है; क्योंकि उसके पास धनादि पदार्थ विद्या, योग्यता, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो कुछ भी है, वह सब-का-सब संसारसे ही मिला हुआ है। उन्हें वह अपने साथमें लाया नहीं, अपने पास इच्छानुसार रख सकता नहीं, उनमें इच्छानुसार परिवर्तन कर सकता नहीं और अपने साथमें तो ले जा सकता ही नहीं अर्थात् संसारकी वस्तुएँ होनेके कारण उनपर उसका अपना अधिकार नहीं चलता, किंतु जब वह संसारकी वस्तुको संसारकी ही सेवामें लगा देता है, तब उसका जन्म-मरणरूपी बन्धन सुगमतापूर्वक छूट जाता है और वह सदाके लिये मुक्त हो जाता है।

अव्ययम् प्राहुः—अव्यय (अविनाशी) कहते हैं।

संसार-वृक्षको अव्यय कहा जाता है (प्राहुः), पर वास्तवमें यह अव्यय है नहीं (यह परमात्माकी तरह नित्य और अव्यय नहीं है) क्षणभंगुर अनित्य* संसारका आदि और अन्त न जान सकनेके कारण, प्रवाहकी निरन्तरता (नित्यता) के कारण तथा इसका मूल सर्वशक्तिमान् परमेश्वर नित्य अविनाशी होनेके कारण ही इसे अव्यय कहते हैं। जिस प्रकार समुद्रका जल सूर्यके तापसे भाप बनकर

---

* गीतामें भगवान्‌ने संसारको अनित्य कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ (गीता ९। ३३)

बादल बनता है, फिर आकाशमें ठण्डक पाकर वही जल बादलसे पुनः जलरूपसे पृथ्वीपर आ जाता है; वही जल नदी-नालाका रूप धारण करके समुद्रमें चला जाता है, पुनः समुद्रका जल बादल बनकर बरसता है। ऐसे घूमते हुए जलके चक्रका कभी भी अन्त नहीं आता, इसी प्रकार इस संसार-चक्रका भी कभी अन्त नहीं आता। यह संसार-चक्र इतनी तेजीसे घूमता (बदलता) है कि चलचित्र (सिनेमा) की भाँति अस्थिर (प्रतिक्षण परिवर्तनशील) होते हुए भी स्थिरकी भाँति प्रतीत होता है।

वास्तवमें यह संसार-वृक्ष अविनाशी नहीं है। यदि यह अव्यय (अविनाशी) होता तो न तो इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें यह कहा जाता कि इस (संसार)का जैसा स्वरूप कहा जाता है, वैसा उपलब्ध नहीं होता; और न इस (संसार-वृक्ष) को वैराग्यरूप दृढ़ शस्त्रके द्वारा छेदन करनेके लिये ही भगवान् प्रेरणा देते हैं।

छन्दांसि यस्य पर्णानि—वेद जिस (संसार-वृक्ष) के पत्ते हैं।

यहाँ वेदोंसे तात्पर्य वेदोंके उस अंशसे है, जिसमें सकाम-कर्मानुष्ठानोंका वर्णन है *। भाव यह है कि जिस वृक्षमें केवल

* गीतामें इस अंशको 'पुष्पितां वाचम्' (२।४२) और 'त्रैगुण्यविषया वेदाः' (२।४५) पदोंमें एवं इसमें रचे-पचे मनुष्योंको 'वेदवादरताः' कहा गया है। वेदोंमें सकाम मन्त्रोंकी संख्या तो अस्सी हजार है, पर मुक्त करनेवाले मन्त्रोंकी संख्या बीस हजार ही है, जिसमें चार हजार मन्त्र ज्ञानकाण्डके एवं सोलह हजार मन्त्र उपासनाकाण्डके हैं।

सुन्दर फल-पत्ते तो हों, किंतु फल नहीं हों तो वह वृक्ष अनुपयोगी है, क्योंकि वास्तवमें तृप्ति तो फलसे ही होती है, फल-पत्तोंकी सजावटसे नहीं। इसी प्रकार इससे सुख-भोग चाहनेवाले (सकामी) पुरुषको भोग ऐश्वर्यरूप फल-पत्तोंसे सम्पन्न यह संसार वृक्ष केवल बाहरसे तो सुन्दर प्रतीत होता है, पर इससे सुख चाहनेके कारण उसे अक्षय सुखरूप तृप्ति अर्थात् महान् आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती।

वेदविहित पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान स्वर्गादि लोकोंकी कामनासे किया जाय, तो वह निषिद्ध कर्मोंको करनेकी अपेक्षा श्रेष्ठ तो है, किंतु उन कर्मोंसे मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि फलभोगके बाद पुण्य कर्म नष्ट हो जाते हैं और उसे पुनः संसारमें आना पड़ता है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।' (गीता ९। २१) उस सकाम उपासनाके फलस्वरूप स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य नष्ट होनेपर मृत्युलोकमें आना पड़ता है।' 'गतागतं कामकामा लभन्ते' (९। २१) भोगोंकी कामनावाले पुरुष बारबार आवागमनको प्राप्त होते हैं।' इस प्रकार सकाम कर्म एवं उसका फल—दोनों ही उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। अतः साधकको इन (दोनों) से सर्वथा असङ्ग होकर एकमात्र परमात्मतत्त्वको ही प्राप्त करना चाहिये। भगवान्‌ने कहा भी है कि परमात्मतत्त्वका 'जिज्ञासु' भी वेदोक्त सकाम कर्मोंके फलको उल्लङ्घन कर जाता है।*

---

* जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ (गीता ६। ४४)

पत्ते वृक्षकी शाखासे उत्पन्न एवं वृक्षकी रक्षा और वृद्धि करनेवाले होते हैं। पत्तोंसे वृक्ष सुन्दर दीखता है तथा दृढ़ होता है (पत्तोंके हिलनेसे वृक्षका मूल तना एवं शाखाएँ दृढ़ होती हैं)। वेद भी इस संसाररूप वृक्षकी मुख्य शाखारूप ब्रह्माजीसे प्रकट हुए हैं और वेदविहित कर्मोंसे ही संसारकी वृद्धि और रक्षा होती है। इसलिये वेदोंको पत्तोंका स्थान दिया गया है। संसारमें सकाम (काम्य) कर्मोंसे स्वर्गादिक देवयोनियाँ प्राप्त होती हैं—यह संसारवृक्षका बढ़ना है। स्वर्गादिकमें नन्दनवन, सुन्दर विमान, (रमणीय अप्सराएँ) आदि हैं—यह संसारवृक्षके सौन्दर्यकी प्रतीति है। सकाम कर्मोंको करते रहनेसे बारंबार आवागमन अर्थात् जन्म-मरण होता रहता है—यह संसार-वृक्षका दृढ़ होना है।

इन पदोंसे भगवान् मानो यह कहना चाहते हैं कि साधकको सकाम भाव वैदिक सकाम-कर्मानुष्ठानरूप पत्तोंमें न फँसकर संसार-वृक्षके मूल—परमात्माका ही आश्रय लेना चाहिये। परमात्माका आश्रय लेनेसे वेदोंका वास्तविक तत्त्व भी जाननेमें आ जाता है। वेदोंका वास्तविक तत्त्व संसार या स्वर्ग नहीं, अपितु परमात्मा ही हैं।*

---

* 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।' (गीता १५। १५)

'सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ।'

'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' (कठोपनिषद् १। २। १५)

'सम्पूर्ण वेद जिस परमपद परमात्माका बारंबार प्रतिपादन करते हैं।'

यस्तं वेद स वेदवित्—उस (संसारवृक्ष) को जो (मनुष्य) जानता है, वह सम्पूर्ण वेदों (के यथार्थ तात्पर्य) को जाननेवाला है।

संसारको क्षणभङ्गुर (अनित्य) जानकर इससे कभी किञ्चिन्मात्र भी सुखकी आशा न रखना—यही संसारको यथार्थरूपसे जानना है। वास्तवमें संसारको क्षणभङ्गुर मान लेनेपर सुखभोग हो ही नहीं सकता। सुखभोगके समय संसार क्षणभङ्गुर नहीं दीखता। जबतक संसारके प्राणी-पदार्थोंको स्थायी मानते रहते हैं, तभीतक सुखभोग, सुखकी आशा और कामना तथा संसारका आश्रय, विश्वास बना रहता है। जिस समय यह अनुभव हो जाता है कि संसार प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, उसी समय उससे सुख लेनेकी इच्छा मिट जाती है और साधक उसके यथार्थ स्वरूपको जानकर (संसारसे विमुख और परमात्माके सम्मुख होकर) परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव कर लेता है। परमात्मासे अभिन्नताका अनुभव होनेमें ही वेदोंका वास्तविक तात्पर्य है। जो मनुष्य संसारसे विमुख होकर परमात्मतत्त्वसे अपनी अभिन्नता (जो वास्तवमें है) का अनुभव कर लेता है, वही वास्तवमें 'वेदवित्' है। वेदोंके अध्ययनमात्रसे मनुष्य वेदोंका विद्वान् तो हो सकता है, पर यथार्थ वेदवेत्ता नहीं। वेदोंका अध्ययन न होनेपर भी जिसे (संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर) परमात्मतत्त्वकी अनुभूति हो गयी है, वही सच्चा वेदवेत्ता (अर्थात् वेदोंके तात्पर्यको अनुभवमें लानेवाला) है।

भगवान्‌ने इसी अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें अपनेको 'वेदवित्' कहा है। यहाँ वे संसारके यथार्थको जाननेवाले पुरुषको 'वेदवित्'

कहकर उससे अपनी एकता प्रकट करते हैं। भाव यह है कि मनुष्य-शरीरमें मिले विवेककी इतनी महिमा है कि उससे जीव संसारके यथार्थ तत्त्वको जानकर भगवान्‌के सदृश वेदवेत्ता बन सकता है।* यह अवसर (मनुष्य-शरीर) बार-बार नहीं मिलता। अतः बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि ऐसे दुर्लभ तथा अमूल्य अवसरको खाली हाथ न जाने दे, अन्यथा पश्चात्तापके सिवा कुछ हाथ नहीं लगेगा। सोलहवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें आये **'माम् अप्राप्य'** पदोंमें भी भगवान् मानो मनुष्यकी अधोगति देखकर तरस खाते हैं कि मैंने अपनी प्राप्तिके लिये उसे ऐसा दुर्लभ अवसर दिया था; किंतु उसे उसने व्यर्थ गँवा दिया और उल्टे नरकोंमें चला गया। इसलिये प्रत्येक साधकको निरन्तर सावधान रहनेकी बहुत आवश्यकता है।

किसी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, देश, जाति आदिका कोई भी मनुष्य (स्त्री या पुरुष, मूर्ख या विद्वान्, रोगी या नीरोग, धनवान् या निर्धन) क्यों न हो, वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर सकता है। पापी हो† अथवा धर्मात्मा, यदि उसका एकमात्र उद्देश्य (जिसके

---

* 'मम साधर्म्यमागताः' (गीता १४ । २) में भी यही बात कही गयी है।

† अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९ । ३०-३१)

लिये मनुष्य-शरीर मिला है) परमात्म-प्राप्तिका हो गया है, तो परमात्मप्राप्तिमें विलम्ब नहीं हो सकता। एकमात्र परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य हो जानेपर उसकी सम्पूर्ण व्यावहारिक और पारमार्थिक क्रियाएँ परमात्मप्राप्तिरूप उद्देश्यकी ओर ले जानेवाली हो जाती है। साधन करनेपर भी परमात्मप्राप्तिमें विलम्ब होनेका मुख्य कारण अपने उद्देश्यकी कमी ही है। वस्तुतः उद्देश्य पहलेसे बना हुआ है और शरीर बादमें मिला है। परंतु मनुष्य सांसारिक भोग एवं संग्रहमें लगकर अपने वास्तविक उद्देश्यको भूल जाता है। अतः साधकको अपने वास्तविक उद्देश्यको पहचानकर यथाशीघ्र परमात्माको प्राप्त कर लेना चाहिये।

परमात्माका ही अंश होनेके कारण जीवका एकमात्र वास्तविक सम्बन्ध परमात्मासे है। संसारसे तो इसने भूलसे अपना सम्बन्ध माना है वास्तवमें है नहीं। विवेकके द्वारा इस भूलको मिटाकर (अर्थात् संसारसे माने हुए सम्बन्धको त्यागकर) एकमात्र अपने अंशी परमात्मासे स्वतःसिद्ध अपनी अभिन्नताका अनुभव करनेवाला ही संसारवृक्षके यथार्थ तत्त्वको जाननेवाला है; और उसीको भगवान् यहाँ 'वेदवित्' कहते हैं ॥ १ ॥

सम्बन्ध—

प्रथम श्लोकमें भगवान्‌ने जिस संसार-वृक्षका दिग्दर्शन कराया, उसी संसारवृक्षका अब अगले श्लोकमें अवयवोंसहित विस्तारसे वर्णन करते हैं—

श्लोक—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुवन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

भावार्थ—

उस संसार-वृक्षकी गुणों (सत्त्व, रज और तम) के द्वारा वढ़ी हुई शाखाएँ नीचे (नरक एवं तिर्यक् योनियाँ), मध्य (मनुष्यलोक) और ऊपर (ब्रह्मलोक)—सर्वत्र फैली हुई हैं। तात्पर्य यह है कि तीनों गुणोंसे सम्बन्ध रखनेके कारण ही इस संसारवृक्षका विस्तार हुआ है।

अन्तःकरण (मन, वुद्धि, चित्त और अहंकार) तथा वाह्यकरण (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ) के द्वारा ग्राह्य विषय ही उस संसार-वृक्षकी शाखाओंकी कोपलें हैं। उन विषयोंका चिन्तन करना ही नयी-नयी कोंपलोंका निकलना है।

तादात्म्य, ममता और कामनारूप शाखाओंके अवान्तर मूल यद्यपि मनुष्ययोनिके अतिरिक्त अन्य योनियोंमें भी पाये जाते हैं, तथापि उन्हें वे वाँधनेवाले नहीं होते। कारण यह है कि सुख-दुःखरूप परिस्थिति-के रूपमें पुराने कर्मोंका नाश तो सभी योनियोंमें होता है पर नये कर्म मनुष्ययोनिमें ही होते हैं। इसलिये बन्धन और मुक्तिका प्रश्न मनुष्ययोनिमें ही है, अन्य योनियोंमें नहीं। अतः साधनयोनि होनेके कारण मनुष्ययोनिमें ही बन्धनसे छूटनेका अवसर है। ये मूल मनुष्योंको ही आसक्तिके कारण वाँधनेवाले होते हैं; क्योंकि विधि-

*

निषेधपूर्वक नये कर्म करनेका अधिकार केवल मनुष्ययोनिमें ही है। अन्य योनियाँ तो केवल (मनुष्ययोनिमें किये हुए) पाप-पुण्योंके फलोंको भोगनेमात्रके लिये हैं।

अन्वय—

तस्य, गुणप्रवृद्धाः, शाखाः विषयप्रवालाः, अधः, च, ऊर्ध्वम्, प्रसृताः, मनुष्यलोके, कर्मानुबन्धीनि, मूलानि (अपि), अधः, च, (ऊर्ध्वम्), अनुसंततानि ॥ २ ॥

पद-व्याख्या—

तस्य—(जिस संसार-वृक्षका पहले श्लोकमें वर्णन हुआ है) उस संसारवृक्षकी।

गुणप्रवृद्धाः शाखाः—गुणोंके द्वारा बढ़ी हुई शाखाएँ।

संसारवृक्षकी मुख्य शाखा ब्रह्मा है। ब्रह्मासे सम्पूर्ण देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि योनियोंकी उत्पत्ति और विस्तार हुआ है। इसलिये ब्रह्मलोकसे पातालतक जितने भी लोक तथा उनमें रहनेवाले देव, मनुष्य, कीट आदि प्राणी हैं, वे सभी संसार-वृक्षकी शाखाएँ हैं। जिस प्रकार जल सींचनेसे वृक्षकी शाखाएँ बढ़ती हैं, उसी प्रकार गुणरूप जलके सङ्गसे इस संसारवृक्षकी शाखाएँ बढ़ती हैं। इसीलिये भगवान्‌ने जीवात्माके ऊँच, मध्य और नीच योनियोंमें जन्म लेनेके कारण गुणोंका सङ्ग ही बतलाया है*। सम्पूर्ण सृष्टिमें ऐसा कोई देश,

---

* पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
(गीता १३ । २१)

वस्तु, व्यक्ति नहीं जो प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुणोंसे रहित हो*। अतः गुणोंके सम्बन्धसे ही संसारकी स्थिति है। गुणोंकी अनुभूति गुणोंसे उत्पन्न वृत्तियों तथा पदार्थोंके द्वारा होती है। अतः वृत्तियों तथा पदार्थोंसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करानेके लिये ही **'गुणप्रवृद्धाः'** पद देकर भगवान्‌ने यहाँ मानो यह बतलाया है कि जबतक गुणोंसे यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध है, तबतक संसारवृक्षकी शाखाएँ बढ़ती ही रहेंगी। अतः संसारवृक्षका छेदन करनेके लिये गुणोंका सङ्ग किञ्चिन्मात्र भी नहीं रखना चाहिये; क्योंकि गुणोंका सङ्ग रहते हुए संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता।

गुणोंकी वृत्तियोंके सम्बन्धमें विशेष बात

एक तो वृत्तियोंका 'होना' होता है और एक वृत्तियोंको 'करना' (अर्थात् उन्हें स्वीकार करना—उनसे राग-द्वेष करना)। 'होने' और 'करने' में बहुत बड़ा अन्तर है। 'होना' समष्टिगत होता है और 'करना' व्यक्तिगत। संसारमें जो 'होता' है, उसकी जिम्मेवारी हमपर

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
(गीता १४। १८)

गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीताका ज्ञानयोग' पुस्तकमें चौदहवें अध्यायके १४, १५ एवं १८ वें श्लोकोंकी व्याख्याके अन्तर्गत गुणोंका विस्तृत विवेचन देखा जा सकता है।

* न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥
(गीता १८। ४०)

नहीं होती । जो हम 'करते' हैं, उसीकी जिम्मेवारी हमपर होती है ।

जिस समष्टि शक्तिसे संसारमात्रका संचालन होता है, उसी शक्तिसे हमारे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि (जो संसारके ही अंश हैं) का भी संचालन होता है । जब संसारमें होनेवाली क्रियाओंके गुण-दोष हमें नहीं लगते, तब शरीरादिमें होनेवाली क्रियाओंके गुण-दोष हमें लग ही कैसे सकते हैं ! परंतु जब स्वतः होनेवाली क्रियाओंमें कुछ क्रियाओंसे हम राग-द्वेषपूर्वक अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं अर्थात् उनके कर्ता बन जाते हैं,* तब उनका फल हमें ही भोगना पड़ता है । अतएव अन्तःकरणमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे होनेवाली अच्छी-बुरी वृत्तियोंसे साधकको राग-द्वेष नहीं करना चाहिये अर्थात् उनसे अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये ।

वृत्तियाँ एक समान किसीकी भी नहीं रहतीं । तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ तो गुणातीत महापुरुषके अन्तःकरणमें भी होती हैं, परंतु तत्त्वज्ञ होनेके कारण उनका उनसे राग-द्वेष नहीं होता । भगवान्‌ने गुणातीतके लक्षणोंमें बतलाया है—

---

* प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥
(गीता ३ । २७)

'सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं, तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी—मैं कर्ता हूँ—ऐसा मानता है ।'

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥
(गीता १४ । २२)

'हे अर्जुन ! गुणातीत महापुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको भी न तो प्रवृत्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होनेपर उनकी इच्छा करता है।'

वृत्तियाँ अपने-आप आती और चली जाती हैं। गुणातीत महापुरुषकी दृष्टि उधर जाती ही नहीं; क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक परमात्मतत्त्वके सिवा अन्य कुछ तत्त्व ही नहीं।

देखना और दीखना—दोनोंमें बहुत अन्तर है। 'देखना' करनेके अन्तर्गत होता है और 'दीखना' होनेके। दोष 'देखने'में होता है, 'दीखने'में नहीं। अतः साधकको यदि अन्तःकरणमें बुरी-से-बुरी वृत्ति दीख जाय, तो भी उसे घबराना या निराश नहीं होना चाहिये। अपने-आप दीखनेवाली वृत्तियोंसे राग-द्वेष करना अर्थात् उनके अनुसार अपनी स्थिति मानना ही उन्हें देखना है। साधकसे भूल यही होती है कि वह दीखनेवाली वस्तुको देखने लग जाता है; फलतः फँस जाता है। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥
(मानस ७ । ४१)

साधकको गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये कि वृत्तियाँ तो उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं, पर स्वयं (अपना स्वरूप) उत्पन्न

और नष्ट नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि हम (स्वरूपतः) वृत्तियों-से अलग हैं। वृत्तियोंमें होनेवाले परिवर्तनको देखनेवाला 'स्वयं' परिवर्तन-रहित है; क्योंकि परिवर्तनको परिवर्तन नहीं देख सकता। परिवर्तनरहित ही परिवर्तनको देख सकता है। वृत्तियाँ दृश्य (जड) हैं और 'स्वयं' उनका द्रष्टा (चेतन) है। द्रष्टा दृश्यसे अलग होता है—यह नियम है। परिवर्तनशील गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेसे ही गुणोंमें होनेवाली वृत्तियाँ हमें अपनेमें प्रतीत होती हैं। भगवान् कहते हैं—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
(गीता १४। २३)

'गुणातीत महापुरुष साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं—ऐसा समझता हुआ अपने स्वरूपमें स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता।'

अतएव साधकको आने-जानेवाली वृत्तियोंके साथ मिलकर अपने वास्तविक स्वरूपसे विचलित नहीं होना चाहिये। चाहे जैसी वृत्तियाँ आयें, साधकको उनसे प्रभावित अर्थात् राजी-नाराज नहीं होना चाहिये; उनसे अपनी एकता नहीं माननी चाहिये। सदा एकरस रहनेवाले, गुणोंसे सर्वथा निर्लिप्त, निर्विकार एवं अविनाशी आत्मतत्त्व अपने स्वरूप (स्वयं) को न देखकर परिवर्तनशील विकारी एवं विनाशी वृत्तियोंको देखना साधकके लिये अनुचित भी है और हानिकारक भी।

विषयप्रवालाः—(अन्तःकरण तथा बाह्यकरणके द्वारा ग्राह्य) विषय (ही जिस संसारवृक्षकी शाखाओंकी) कोंपलें हैं ।

जिस प्रकार शाखासे निकलनेवाली नयी कोंपल पत्तीके डंठलसे लेकर पत्तीके अग्रभागतकको प्रवाल (कोंपल) कहा जाता है, उसी प्रकार गुणोंकी वृत्तियोंसे लेकर दृश्य पदार्थमात्रको यहाँ 'विषयप्रवालाः' कहा गया है ।

वृक्षके मूलसे तना (मुख्य शाखा), तनेसे शाखाएँ और शाखाओंसे कोंपलें फूटती हैं और कोंपलोंसे शाखाएँ आगे बढ़ती हैं । इस संसारवृक्षमें विषय-चिन्तन ही कोंपलें हैं । विषय-चिन्तन तीनों गुणोंसे होता है । जिस प्रकार गुणरूप जलसे संसार-वृक्षकी शाखाएँ बढ़ती हैं, उसी प्रकार गुणरूप जलसे विषयरूप कोंपलें भी बढ़ती हैं । जैसे कोंपलें दीखती हैं, उनमें व्याप्त जल नहीं दीखता, वैसे ही शब्दादि विषय तो दीखते हैं, पर उनमें गुण नहीं दीखते । अतः विषयोंसे ही गुण जाने जाते हैं ।

'विषयप्रवालाः' पदका भाव यह प्रतीत होता है कि विषय-चिन्तन करते हुए मनुष्यका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता* । अन्तकालमें मनुष्य जिस-जिस भावका चिन्तन करते हुए शरीरका त्याग करता है, उस-उस भावको ही प्राप्त होता है†—यही विषयरूप कोंपलोंका फूटना है ।

---

* सेवत विषय विवर्ध जिमि नित नित नूतन मार ॥
(मानस ६ । ९२)

† यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ (गीता ८ । ६)

कोंपलोंकी तरह विषय भी बहुत सुन्दर प्रतीत होते हैं, जिससे मनुष्य उनमें आकर्षित हो जाता है। साधक अपने विवेकसे परिणामपर विचार करते हुए इन्हें क्षणभङ्गुर, नाशवान् और दुःखरूप जानकर इन विषयोंका सुगमतापूर्वक त्याग कर सकता है*। विषयोंमें सौन्दर्य और आकर्षण अपने रागके कारण ही दीखता है, वास्तवमें वे सुन्दर एवं आकर्षक हैं नहीं। इसलिये विषयोंमें रागका त्याग ही वास्तविक त्याग है। जैसे कोमल कोंपलोंको नष्ट करनेमें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, वैसे ही इन विषयोंके त्यागमें भी साधकको कठिनता नहीं माननी चाहिये। मनसे आदर देनेपर ही ये विषयरूप कोंपलें सुन्दर और आकर्षक दीखती हैं, वास्तवमें तो ये विषयुक्त लड्डूके समान ही हैं†। इसलिये इस संसारवृक्षका छेदन करनेके

---

* ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे (यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी) निःसन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

† दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि।
विषं निहन्ति भोक्तारं द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम्॥
(विवेकचूडामणि ७९)

'दोषमें विषय काले सर्पके विषसे भी अधिक तीव्र है, क्योंकि विष तो खानेवालेको ही मारता है, परन्तु विषय तो आँखसे देखनेवालेको भी नहीं छोड़ते।'

लिये, भोगबुद्धि-पूर्वक विषयचिन्तन एवं विषयसेवनका सर्वथा त्याग करना आवश्यक है ।*

अधः च ऊर्ध्वम् प्रसृताः—नीचे, मध्य और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं।

यहाँ 'च' पदको मध्यलोक अर्थात् मनुष्यलोक (इसी श्लोकके 'मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि' पद) का वाचक समझना चाहिये । 'ऊर्ध्वम्' पदका तात्पर्य ब्रह्मलोक आदिसे है, जिसमें जानेके दो मार्ग हैं—देवयान और पितृयान (जिसका वर्णन आठवें अध्यायके चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें शुक्ल और कृष्ण-मार्गके नामसे हुआ

---

* मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति
त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा ।
(विवेक० ८४)

'यदि तुझे मोक्षकी इच्छा है तो विषयोंको विषके समान दूरहीसे त्याग दे ।'

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(गीता २ । ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न होता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है ।'

है)। 'अधः' पदका तात्पर्य नरकोंसे है, जिसके भी दो भेद हैं—योनिविशेष नरक और स्थानविशेष नरक।

इन पदोंसे यह कहा गया है कि ऊर्ध्वमूल परमात्मासे नीचे, संसारवृक्षकी शाखाएँ नीचे, मध्य और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं। इसमें मनुष्ययोनिरूप शाखा ही मूल शाखा है; क्योंकि मनुष्ययोनिमें नवीन कर्मोंको करनेका अधिकार है। अन्य शाखाएँ भोगयोनियाँ हैं, जिनमें केवल पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगनेका ही अधिकार है। इस मनुष्ययोनिरूप मूल शाखासे मनुष्य नीचे (अधोलोक) तथा ऊपर (ऊर्ध्वलोक)—दोनों ओर जा सकता है; और संसारवृक्षका छेदन करके सबसे ऊर्ध्व (परमात्मा) तक भी जा सकता है। मनुष्य-शरीरमें ऐसा विवेक है, जिसका अवलम्बन करके जीव परमधामतक पहुँच सकता है और अविवेकपूर्वक विषयोंका सेवन करके नरकोंमें भी जा सकता है। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी।
ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥
(मानस ७। १२०। ५)

मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि मूलानि (अपि)—मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाले (तादात्म्य, ममता और कामनारूप शाखाओंके) मूल भी।

मनुष्यके अतिरिक्त अन्य सभी भोगयोनियाँ हैं। मनुष्ययोनिमें किये हुए पाप-पुण्योंका फल भोगनेके लिये ही मनुष्यको अन्य

योनियोंमें जाना पड़ता है। नये पाप-पुण्य करने अथवा पाप-पुण्यसे रहित होकर मुक्त होनेका अधिकार और अवसर मनुष्य-शरीरमें ही है।

यहाँ 'मूलानि' पदका तात्पर्य तादात्म्य, ममता और कामनारूप शाखाओंके मूलसे है, वास्तविक ऊर्ध्वमूल परमात्मासे नहीं। 'मैं शरीर हूँ'—ऐसा मानना 'तादात्म्य' है। शरीरादि पदार्थोंको अपना मानना 'ममता' है। पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा—ये तीन प्रकारकी मुख्य कामनाएँ हैं। पुत्र-परिवारकी कामना 'पुत्रैषणा' और धन-सम्पत्तिकी कामना 'वित्तैषणा' है। 'संसारमें मेरा मान-आदर हो जाय,' 'मैं बना रहूँ', 'शरीर नीरोग रहे', 'मैं शास्त्रोंका पण्डित बन जाऊँ' आदि अनेक कामनाएँ 'लोकैषणा'के अन्तर्गत हैं। इतना ही नहीं, कीर्तिकी कामना मरनेके बाद भी इस रूपमें रहती है कि लोग मेरी प्रशंसा करते रहें; मेरा स्मारक बन जाय; मेरी स्मृतिमें पुस्तकें बन जायँ; लोग मुझे याद करें आदि। यद्यपि कामनाएँ प्रायः सभी योनियोंमें न्यूनाधिकरूपसे रहती हैं, तथापि वे मनुष्ययोनिमें ही बाँधनेवाली होती हैं*। जब कामनाओंसे

---

* ये तीन इच्छाएँ (बाँधनेवाली न होनेके कारण) 'कामना' नहीं कहलातीं—(१) भगवद्दर्शन या भगवत्प्रेमकी कामना, (२) स्वरूप-बोधकी कामना और (३) सेवा करनेकी कामना-स्वरूप-बोध या परमात्मा (भगवद्दर्शन या भगवत्प्रेम) की इच्छा 'कामना' नहीं है; क्योंकि स्वरूप और परमात्मा दोनों ही 'नित्यप्राप्त' तथा 'अपने' हैं। जैसे अपनी जेबसे पैसे निकालना चोरी नहीं कहलाता, वैसे ही स्वरूप या परमात्मा (जो अपने तथा अपनेमें हैं) की इच्छा करना 'कामना' नहीं कहलाती।

प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता है, तब उन कर्मोंके संस्कार उसके अन्तःकरणमें संचित होकर भावी जन्म-मरणके कारण बन जाते हैं। मनुष्ययोनिमें किये हुए कर्मोंका फल इस जन्ममें तथा मरनेके बाद भी अवश्यमेव भोगना पड़ता है*। अतः तादात्म्य, ममता और कामनाके रहते हुए कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं छूट सकता।

यह नियम है कि जहाँसे बन्धन होता है, वहींसे छुटकारा होता है (जैसे, रस्सीकी गाँठ जहाँ लगी है, वहींसे वह खुलती है)। मनुष्ययोनिमें ही जीव शुभाशुभ कर्मोंसे बँधता है; अतः मनुष्ययोनिमें ही वह मुक्त हो सकता है।

संसारकी वस्तुको संसारकी ही सेवामें लगा देनेकी इच्छा भी 'कामना' नहीं अपितु त्याग है, क्योंकि 'कामना' लेनेकी होती है, देनेकी नहीं। संक्षेपमें जो वस्तु अपनी तथा अविनाशी है उसकी इच्छा करना 'आवश्यकता' (माँग या भूख) है, और जो वस्तु दूसरेकी तथा नाशवान् है, उसे दूसरेको देनेकी इच्छा करना 'त्याग' है। जैसे शरीरकी भूख मिटानेके लिये भोजनकी इच्छा करना एक प्रकारसे 'कामना' नहीं होती, वैसे ही 'स्वयं' की भूख मिटानेके लिये परमात्मतत्त्वकी इच्छा करना 'कामना' नहीं होती।

* अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥

(गीता १८। १२)

'कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा-बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है, किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता।'

प्रथम श्लोकमें आये **'ऊर्ध्वमूलम्'** पदका तात्पर्य है—परमात्मा, जो संसारके रचयिता तथा उसके मूल आधार हैं; और यहाँ 'मूलानि' पदका तात्पर्य है—तादात्म्य, ममता और कामनारूप शाखाओंके मूल, जो संसारमें मनुष्यको बाँधते हैं। साधकको इन (तादात्म्य, ममता और कामनारूप शाखाओंके) मूलोंका तो छेदन करना है और ऊर्ध्वमूल परमात्माका आश्रय लेना है; जिसका उल्लेख **'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये'** पदसे इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें हुआ है।

अधः च (ऊर्ध्वम्) अनुसंततानि—नीचे और ऊपर (सभी लोकोंमें) व्याप्त हो रहे हैं।

मनुष्यलोकमें कर्मानुसार बाँधनेवाले तादात्म्य, ममता और कामनारूप शाखाओंके मूल नीचे और ऊपर सभी लोकों, योनियोंमें व्याप्त हो रहे हैं। पशु-पक्षियोंका भी अपने शरीरसे 'तादात्म्य' रहता है, अपनी सन्तानमें 'ममता' होती है और भूख लगनेपर खानेके लिये अच्छे पदार्थोंकी 'कामना' होती है। ऐसे ही देवताओंमें भी अपने दिव्य शरीरसे 'तादात्म्य' प्राप्त पदार्थोंमें 'ममता' और अप्राप्त भोगोंकी 'कामना' रहती है। इस प्रकार तादात्म्य, ममता और कामनारूप दोष किसी-न-किसी रूपमें ऊँच-नीच सभी योनियोंमें रहते हैं। परन्तु (मनुष्ययोनिके अतिरिक्त) अन्य योनियोंमें ये बाँधनेवाले नहीं होते। यद्यपि मनुष्ययोनिके सिवा देवादि अन्य योनियोंमें भी विवेक रहता है, पर भोगोंकी अधिकता होने तथा भोग भोगनेके लिये ही उन योनियोंमें जानेके कारण उनमें विवेकका उपयोग नहीं हो पाता। अतएव उन योनियोंमें उपर्युक्त दोषोंसे 'स्वयं'को (विवेकके

द्वारा) अलग देखना सम्भव नहीं है। मनुष्ययोनि ही ऐसी है जिसमें (विवेकके कारण) मनुष्य ऐसा अनुभव कर सकता है कि मैं (स्वरूपतः) तादात्म्य, ममता और कामनारूप दोषोंसे सर्वथा रहित हूँ।

भोगोंके परिणामपर दृष्टि रखनेकी योग्यता भी मनुष्य-शरीरमें ही है। परिणामपर दृष्टि न रखकर भोग भोगनेवाले मनुष्यको पशु कहना भी मानो पशुयोनिकी निन्दा ही करना है; क्योंकि पशु तो अपने कर्मफल भोगकर मनुष्ययोनिकी तरफ आ रहा है, पर वह मनुष्य तो (निषिद्ध भोग भोगकर) पशुयोनिकी तरफ ही जा रहा है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—

प्रतिक्षण परिवर्तनशील संसारके साथ भूलसे माने हुए सम्बन्धके कारण ही साधकको संसारवृक्षका छेदन करना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। अतः भगवान् अब यह बतलाते हैं कि संसारसे सम्बन्ध बनाये रखनेपर (संसार) जैसा प्रतीत होता है, उससे सम्बन्धका त्याग कर देनेपर वह वैसा प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार संसारकी वास्तविकता बतलाकर भगवान् प्रतिक्षण अपने-आप नष्ट होनेवाले संसारवृक्षका सर्वथा छेदन (अपना सम्बन्ध बिल्कुल न मानना) करनेके लिये कहते हैं।

श्लोक—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

भावार्थ—

संसारका जैसा सत्य एवं सुन्दर रूप लोगोंके सुनने तथा देखनेमें आता है, विवेकपूर्वक इससे अलग अर्थात् असङ्ग होनेपर इसका वैसा रूप मिलता नहीं ! क्योंकि इस संसारका आदि, अन्त तथा स्थिति ही नहीं है । संसारके भोगोंको भोगते या न भोगते हुए भी यह प्रतिक्षण विनाश (महाप्रलय) की ओर ही जा रहा है ।

पहले, दूसरे तथा इस श्लोकके पूर्वार्द्धके (कुल ढाई) श्लोकोंमें संसारवृक्षका वर्णन करनेके बाद अब भगवान् इस श्लोकके उत्तरार्द्धमें कहते हैं कि इस संसारवृक्षके तादात्म्य, ममता और कामनारूप शाखाओंके मूल बड़े दृढ़ हैं, जिन्हें तीव्र वैराग्य या उपरतिरूप शस्त्रके द्वारा ही काटा जा सकता है ।

निःस्वार्थभावसे यानी हमें कुछ भी मिल जाय ऐसा भाव न रखते हुए संसारकी सेवा करना ही वास्तविक 'असङ्गशस्त्र' है । निःस्वार्थभावसे सेवा करनेपर संसारसे तादात्म्य, ममता और कामनापूर्वक माना हुआ सम्बन्ध सुगमतापूर्वक मिट जाता है । यही संसारवृक्षका छेदन है ।

अन्वय—

अस्य, रूपम्, तथा, इह, न, उपलभ्यते, (यतः) न, आदिः, च, न, अन्तः, च, न, सम्प्रतिष्ठा, (अतः) सुविरूढमूलम्, एनम्, अश्वत्थम्, दृढेन, असङ्गशस्त्रेण, छित्त्वा ॥ ३ ॥

पद-व्याख्या—

अस्य रूपम् तथा इह न उपलभ्यते—इस (संसारवृक्ष) का (जैसा) रूप (देखा गया है) वैसा यहाँ (गहराईसे विचार करनेपर) नहीं पाया जाता ।

इसी अध्यायके पहले श्लोकमें संसारवृक्षके विषयमें कहा गया है कि लोग इसे अव्यय (अविनाशी) कहते हैं; और शास्त्रोंमें भी वर्णन आता है कि सकाम-अनुष्ठान करनेसे लोक-परलोकमें विशाल भोग प्राप्त होते हैं। ऐसी बातें सुनकर मनुष्यलोक तथा स्वर्गलोकमें सुख, रमणीयता और स्थायित्वकी प्रतीति होती है। इसी कारण अज्ञानी मनुष्य काम और भोगके परायण होते हैं और 'इससे बढ़कर कोई सुख नहीं है'—ऐसा उनका निश्चय हो जाता है।* जबतक संसारसे तादात्म्य, ममता और कामनाका सम्बन्ध है, तबतक ऐसा ही प्रतीत होता है। परन्तु भगवान् कहते हैं कि विवेकवती बुद्धिसे संसारसे अलग होकर (अर्थात् संसारसे आन्तरिक सम्बन्ध विच्छेद करके) देखनेसे उसका जैसा रूप हमने अभी मान रखा है वैसा उपलब्ध नहीं होता अर्थात् यह नाशवान् और क्षणभङ्गुर असत् प्रतीत होता है।

(यतः) न आदिः च न अन्तः च न सम्प्रतिष्ठा—क्योंकि न तो इस (संसारवृक्ष) का आदि है और न अन्त है तथा न स्थिति ही है।

मनुष्य किसी विस्तृत प्रदर्शनीमें भाँति-भाँतिकी वस्तुओंको देखकर मुग्ध हुआ घूमता रहे, तो वह प्रदर्शनीका आदि-अन्त नहीं जान सकता। उस प्रदर्शनीसे बाहर निकलनेपर ही वह उस

* कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ (गीता १६ । ११)
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ (गीता २ । ४२)

आदि-अन्तको जान सकता है। इसी प्रकार संसारसे सम्बन्ध मानकर भोगोंकी ओर वृत्ति रखते हुए इस संसारका आदि-अन्त कभी जाननेमें नहीं आ सकता।

मनुष्यके पास संसारके आदि-अन्तका पता लगानेके लिये जो साधन (इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि) हैं, वे सब संसारके ही अंश हैं। यह नियम है कि कार्य अपने कारणमें विलीन तो हो सकता है, पर उसे जान नहीं सकता। जैसे मिट्टीका घड़ा पृथ्वीको अपने भीतर नहीं ला सकता, वैसे ही व्यष्टि इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि समष्टि-संसार और उसके कार्यको अपनी जानकारीमें नहीं ला सकते। अतः संसारसे (मन, बुद्धि, इन्द्रियोंसे भी) अलग होनेपर ही संसारका स्वरूप ('स्वयं'के द्वारा) ठीक-ठीक जाना जा सकता है।

वास्तवमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता (स्थिति) है ही नहीं। केवल उत्पत्ति और विनाशका क्रममात्र है। संसारका यह उत्पत्ति-विनाशका प्रवाह ही 'स्थिति'-रूपसे प्रतीत होता है। गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो उत्पत्ति भी नहीं है, केवल नाश-ही-नाश है। जिसका स्वरूप एक क्षण भी स्थायी न रहता हो, ऐसे संसारकी प्रतिष्ठा (स्थिति) कैसी ? संसारसे अपना माना हुआ सम्बन्ध त्यागते ही उसका अपने लिये अन्त हो जाता है और अपने वास्तविक स्वरूप अथवा परमात्मामें स्थिति हो जाती है।

किसी वस्तुके आदि, मध्य और अन्तका ज्ञान दो प्रकारका होता है—देशकृत और कालकृत। इस संसारका कहाँसे आरम्भ है ?

कहाँ मध्य है ? और कहाँ इसका अन्त होता है ?—इस प्रकारसे संसारके 'देशकृत' आदि, मध्य, अन्तका पता नहीं और कबसे इसका आरम्भ हुआ है ? कबतक यह रहेगा ? और कब इसका अन्त होगा ?—इस प्रकारसे संसारके 'कालकृत' आदि, मध्य, अन्तका भी पता नहीं।

विशेष बात

इस संसारके आदि, मध्य और अन्तका पता आजतक कोई वैज्ञानिक नहीं लगा सका और नहीं लगा सकता है। संसारसे सम्बन्ध रखते हुए अर्थात् सांसारिक भोगोंका सेवन करते हुए संसारके आदि, मध्य और अन्तको ढूँढ़ना चाहें, तो कोल्हूके बैलकी भाँति आजीवन घूमते रहनेपर भी कुछ हाथ आनेका नहीं।

वास्तवमें इस संसारके आदि, मध्य और अन्तका पता लगानेकी आवश्यकता भी नहीं है। आवश्यकता संसारसे अपना माना हुआ सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी ही है।

संसार अनादि-सान्त है या अनादि-अनन्त है अथवा प्रतीतिमात्र है इत्यादि विषयोंपर दार्शनिकोंमें अनेक मतभेद हैं; परंतु संसारके साथ हमारा सम्बन्ध असत् है, जिसका विच्छेद करना आवश्यक है—इस विषयपर सभी दार्शनिक एकमत हैं।

संसारसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करनेका सुगम उपाय है—संसारसे प्राप्त (मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, धन, सम्पत्ति आदि) सम्पूर्ण सामग्रीको 'अपनी' और 'अपने लिये' न मानते हुए उसे संसारकी ही सेवामें लगा देना।

सांसारिक स्त्री, पुत्र, मान, बड़ाई, धन, सम्पत्ति, आयु, नीरोगता आदि कितने ही प्राप्त हो जायँ; यहाँतक कि संसारके समस्त भोग एक ही मनुष्यको मिल जायँ तो भी उनसे मनुष्यको तृप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि जीव स्वयं अविनाशी है और सांसारिक भोग नाशवान् हैं। अतः नाशवान्‌से अविनाशी कैसे तृप्त हो सकता है।

(अतः) सुविरूढमूलम् एनम् अश्वत्थम्—इसलिये (तादात्म्य, ममता और कामनारूप शाखाओंके) दृढ मूलोंवाले इस संसाररूप पीपलके वृक्षको।

संसारको 'सुविरूढमूलम्' कहनेका तात्पर्य यह है कि तादात्म्य, ममता और कामनाके कारण यह संसार (प्रतिष्ठारहित होनेपर भी) दृढ़ मूलोंवाला प्रतीत हो रहा है।

व्यक्ति, पदार्थ और क्रियामें राग, ममता होनेसे सांसारिक बन्धन अधिकाधिक दृढ होता चला जाता है। जिन पदार्थों, व्यक्तियोंमें राग, ममताका घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है, उन्हें मनुष्य अपना स्वरूप ही मानने लग जाता है। जैसे, धनमें ममता होनेसे उसकी प्राप्तिमें मनुष्यको अत्यन्त प्रसन्नता होती है और 'मैं बड़ा धनवान् हूँ'—ऐसा अभिमान हो जाता है। धनके नाशसे वह अपना नाश मानने लग जाता है। लोभ बढ़नेसे धनकी प्राप्तिके लिये वह अन्यान्य, पाप आदि न करने योग्य कर्म भी कर बैठता है। फिर इतना लोभ बढ़ जाता है कि उसके अन्तःकरणमें यह दृढ निश्चय हो जाता है कि झूठ, कपट, बेईमानी आदिके बिना धन कमाया ही नहीं जा सकता। उसे यह विचार ही नहीं होता कि 'पापसे

धन कमाकर मैं यहाँ कितने दिन ठहरूँगा ? पापसे कमाया धन तो शरीरके साथ यहीं छूट जायगा; किंतु धनके लिये किये गये झूठ, कपट, बेईमानी, चोरी आदि पाप तो मेरे साथ जायँगे*, जिससे परलोकमें मेरी कितनी दुर्गति होगी !' इत्यादि । इतना ही नहीं, वह दूसरोंको भी प्रेरणा देने लग जाता है कि 'धन कमानेके लिये पाप करनेमें कोई आपत्ति नहीं; यह तो व्यापार है, इसमें झूठ बोलना, ठगना आदि सब उचित है' इत्यादि । इस दुर्भावका होना ही तादात्म्य, ममता और कामनारूप शाखाओंके मूलोंका दृढ़ होना है । इस प्रकारके दूषित भावोंके दृढ मूल होनेसे मनुष्य वैसा ही बन जाता है† ।

ये तादात्म्य, ममता और कामनारूप शाखाओंके मूल अन्तः करणमें इतनी दृढ़तासे जमे हुए हैं कि पढ़ने, सुनने तथा विचार

---

* धनानि भूमौ पशवो हि गोष्ठे नारी गृहद्वारि सखा श्मशाने ।
देहश्चितायां परलोकमार्गे धर्मानुगो गच्छति जीव एकः ॥

'शरीरको छोड़ते समय धन तिजोरीमें पड़ा रह जाता है; पशु जहाँ तहाँ बँधे रह जाते हैं; स्त्री घरके दरवाजेतक ही साथ देती है; मि श्मशानतक साथ देते हैं तथा शरीर चितातक ही साथ रहता है उसके बाद परलोकके मार्गमें केवल धर्म ही जीवके साथ जाता है ।'

† सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

(गीता १७ । ३

'हे भारत ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरू होती है । यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला वह स्वयं भी वही है ।'

विवेचन करनेपर भी सर्वथा नष्ट नहीं होते। साधक प्रायः कहा करते हैं कि सत्सङ्ग-चर्चा सुनते समय तो इन दोषोंके त्यागकी बात अच्छी और सुगम लगती है, परंतु व्यवहारमें आनेपर ऐसा होता नहीं। इन्हें छोड़ना तो चाहते हैं, पर ये छूटते नहीं। इन दोषोंके न छूटनेमें प्रधान कारण है—सांसारिक सुख लेनेकी इच्छा। साधकसे भूल यह होती है कि वह सांसारिक सुख भी लेना चाहता है और साथ ही दोषोंसे भी बचना चाहता है। जैसे लोभी व्यक्ति विषयुक्त लड्डुओंकी मिठासको भी लेना चाहे और साथ ही विषसे बचना भी चाहे! ऐसा कभी सम्भव नहीं है। संसारसे कभी किञ्चिन्मात्र भी सुखकी आशा न रखनेपर इसका दृढ़मूल स्वतः नष्ट हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि 'तादात्म्य, ममता और कामनाका मिटना बहुत कठिन है'—साधककी यह मान्यता ही इन दोषोंको मिटने नहीं देती। वास्तवमें तो ये स्वतः मिट रहे हैं। किसी भी मनुष्यमें ये दोष सदा नहीं रहते; उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं; किंतु अपनी मान्यताके कारण वे स्थायी दीखते हैं। अतः साधकको चाहिये कि वह इन दोषोंके मिटनेको कभी कठिन न माने।

दृढेन असङ्गशस्त्रेण छित्त्वा—दृढ असङ्गतारूप शस्त्रके द्वारा काटकर।

भगवान् कहते हैं कि यद्यपि इस संसारवृक्षके अवान्तर मूल बहुत दृढ हैं, फिर भी इन्हें दृढ असङ्गतारूप शस्त्रके द्वारा काटा जा

सकता है। किसी भी स्थान, व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति आदिके प्रति मनमें आकर्षण, सुख-बुद्धिका होना और उनके सम्बन्धसे अपने आपको बड़ा तथा सुखी मानना; पदार्थादिके प्राप्त होने अथवा संग्रह होनेपर प्रसन्न होना—यही 'सङ्ग' कहलाता है। इसका न होना ही असङ्गता अथवा वैराग्य है। वैराग्यके दो प्रकार हैं—(१) साधारण वैराग्य और (२) दृढ़ वैराग्य। दृढ़ वैराग्यको उपरति अथवा 'पर वैराग्य' भी कहते हैं।

वैराग्यसम्बन्धी विशेष बात

वैराग्यके अनेक रूप हैं, जो इस प्रकार हैं—

पहला वैराग्य धन, मकान, जमीन आदि पदार्थोंसे होता है। इन पदार्थोंको स्वरूपसे त्याग देनेपर भी यदि मनमें उनका महत्त्व बना हुआ है और 'मैं त्यागी हूँ'—ऐसा अभिमान है, तो वास्तवमें यह वैराग्य नहीं है। अन्तःकरणमें जड़-पदार्थोंका किञ्चिन्मात्र भी महत्त्व और आकर्षण न रहे—यही वास्तविक वैराग्य है।

दूसरा वैराग्य अपने कहलानेवाले माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र आदि (परिवार) से होता है। सेवा करने या उन्हें सुख पहुँचानेके लिये ही उनसे अपना सम्बन्ध मानना चाहिये। अपने सुखके लिये उनसे किञ्चिन्मात्र भी अपना सम्बन्ध न मानना ही बन्धु-बान्धवोंसे वैराग्य है।

तीसरा और वास्तविक वैराग्य अपने शरीरसे होता है। यदि शरीरसे सम्बन्ध बना हुआ है तो सम्पूर्ण संसारसे सम्बन्ध बना हुआ है; क्योंकि शरीर संसारका ही बीज अथवा अंश है। शरीरसे तादात्म्य (ममता और कामनाका) न रहना ही शरीरसे वैराग्य है।

तादात्म्य (शरीरके साथ मानी हुई एकता अर्थात् अहंता) का नाश करनेके लिये साधकको पहले मान, प्रतिष्ठा, पूजा, धन आदिकी कामनाका त्याग करना चाहिये। इनकी कामनाका त्याग करनेपर भी (शरीरके) 'नाम'में ममता रहनेके कारण यश, कीर्ति, बड़ाई आदिकी कामना रह जाती है। इसके कारण मरनेके बाद भी अपने नामकी कीर्ति, अपना स्मारक बननेकी चाह आदि सूक्ष्म कामनाएँ रह जाती हैं। इन सब कामनाओंका नाश करना अत्यावश्यक है। कहीं-कहीं साधकके हृदयमें दूसरोंकी प्रशंसा सुनकर, दूसरेकी बड़ाई देखकर ईर्ष्याका भाव जाग्रत् हो जाता है। अतः इसका भी नाश करना अत्यावश्यक है।

उपर्युक्त कामनाओंका नाश करनेके बाद शरीरमें ममता रह जाती है। यह ममताका सम्बन्ध मृत्युके बाद भी बना रहता है। इसी कारण मृत शरीरको जला देनेके बाद भी हड्डियोंको गङ्गाजीमें प्रवाहित करनेसे जीव (जिसने शरीरमें ममता की है) की आगे गति होती है। 'विवेक' (जड़-चेतन, प्रकृति-पुरुष अथवा शरीर-शरीरीकी भिन्नताका ज्ञान) जाग्रत् होनेपर ममताका नाश हो जाता है। कामना और ममता दोनोंका नाश होनेके बाद तादात्म्य (अहंता) नष्टप्राय हो जाता है अर्थात् बहुत सूक्ष्म रह जाता है। तादात्म्यका अत्यन्ताभाव परमात्मामें 'प्रेम' की प्राप्ति होनेपर होता है।

जब मनुष्य स्वयं यह वास्तविक अनुभव कर लेता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ; शरीर मेरा नहीं है' तो कामना, ममता और तादात्म्य तीनों मिट जाते हैं। यही वास्तविक वैराग्य है।

जिसके भीतर दृढ वैराग्य है, उसके अन्तःकरणसे सम्पूर्ण वासनाओंका नाश हो जाता है। अपने स्वरूपसे विजातीय (जड) पदार्थ—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे किञ्चिन्मात्र भी अपना सम्बन्ध न मानकर—'सबका कल्याण हो, सब सुखी हों, सब नीरोग हों; कभी भी किसीको किञ्चिन्मात्र दुःख न हो*'—इस भावका रहना ही दृढ वैराग्यका लक्षण है।†

'यह' (इदम्)—रूपसे जाननेमें आनेवाले स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरसहित सम्पूर्ण संसारको जाननेवाला 'मैं' (अहम्) कहलाता है‡। 'यह' (जाननेमें आनेवाला दृश्य) और 'मैं' (जाननेवाला द्रष्टा) कभी एक नहीं हो सकते—यह नियम है।§

---

* सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

† मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीरादि सब पदार्थ संसारके हैं और संसारसे ही मिले हैं। अतः उन पदार्थोंका उपयोग अपने कल्याणके लिये करना भी न्याययुक्त नहीं है। वास्तवमें संसारका कल्याण चाहनेमें ही अपना कल्याण स्वाभाविकरूपसे निहित है।

‡ इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

(गीता १३। १)

'हे कुन्तीनन्दन! यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है; और इसको जो जानता है, उसे तत्त्वज्ञ महापुरुष क्षेत्रज्ञके नामसे कहते हैं।'

§ 'मैं'पन दो प्रकारका होता है—१—वास्तविक (आधाररूप) 'मैं'-पन, जैसे 'मैं हूँ' (अपनी सत्तामात्र) और २—माना हुआ 'मैं'-पन, जैसे 'मैं शरीर हूँ'। वास्तविक 'मैं' पन स्वाभाविक एवं नित्य और

इस प्रकार संसार और शरीर नष्ट होनेवाले हैं और मैं (स्वयं) अविनाशी है—इस विवेकका आदर करते हुए अपने-आपको संसार और शरीरसे सर्वथा अलग अनुभव करना ही असङ्ग-शस्त्रके द्वारा संसारवृक्षका छेदन करना है। इस विवेकका आदर न करनेके कारण ही संसार दृढ़ मूलोंवाला प्रतीत होता है।

सांसारिक वस्तुओंका अत्यन्ताभाव अर्थात् सर्वथा नाश तो नहीं हो सकता, पर उनमें रागका सर्वथा अभाव हो सकता है। अतः 'छेदन'का तात्पर्य सांसारिक वस्तुओंका नाश करना नहीं, अपितु उनसे अपना राग हटा लेना है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर संसारका अपने लिये सर्वथा अभाव हो जाता है, जिसे 'आत्यन्तिक प्रलय' भी कहते हैं। जो हमारा स्वरूप नहीं है तथा जिसके साथ हमारा वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, उसीका त्याग (छेदन) होता है। हम स्वरूपतः चेतन और अविनाशी हैं एवं संसार जड़ और विनाशी है; अतः संसारसे हमारा सम्बन्ध अवास्तविक और भूलसे माना हुआ है। स्वरूपसे हम संसारसे असङ्ग ही हैं। पहलेसे ही

माना हुआ 'मैं'-पन अस्वाभाविक एवं अनित्य होता है। अतः वास्तविक 'मैं'-पन विस्मृत हो सकता है, पर मिट नहीं सकता, और माना हुआ 'मैं'-पन प्रतीत हो सकता है, पर टिक नहीं सकता।

[यहाँ केवल समझनेकी दृष्टिसे 'वास्तविक 'मैं'-पन' नाम दिया गया है। वास्तवमें यह 'मैं'-पन नहीं, अपितु वह आधार है; जिससे 'मैं'-पन उत्पन्न होता है।]

माना हुआ 'मैं'-पन प्रकृतिका अंश है, जिससे परिच्छिन्नता उत्पन्न होती है। अतएव इस माने हुए 'मैं'-पनका ही त्याग करना है।

जो असङ्ग है, वही असङ्ग होता है—यह नियम है । अत. ससारसे हमारी असङ्गता स्वत सिद्ध है—इस वास्तविकताको दृढ़तासे मान लेना चाहिये । ससार कितना ही सुविरूढमूल क्यों न हो, उसके साथ अपना सम्बन्ध न माननेसे वह स्वत. कट जाता है, क्योंकि ससारके साथ अपना सम्बन्ध है नहीं, केवल माना हुआ है ।

अत ससारके साथ अपना सम्बन्ध न माननेसे उसका छेदन हो जाता है—इसमें साधकको सन्देह नहीं करना चाहिये, चाहे (आरम्भमें) व्यवहारमें ऐसा दिखायी दे या न दे ।

पहले श्लोकमें 'ऊर्ध्वमूलम्' नामसे कहे गये परमात्माकी दो प्रकृतियाँ हैं—परा और अपरा*; जिन्हें इसी अध्यायके सोलहवें, श्लोकमें 'क्षर और अक्षर' नामसे कहा गया है । जीव (परा प्रकृति) भूलसे अपना सम्बन्ध शरीर या ससार (अपरा-प्रकृति)के साथ मानकर जन्मता-मरता रहता है ।

जीवने ही अपनी भूलसे शरीर (ससार)से सम्बन्ध माना था । इसलिये इसका छेदन करनेकी जिम्मेवारी भी जीवपर है । अतएव भगवान् इसे ही छेदन करनेके लिये कह रहे हैं ।

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदके कुछ सुगम उपाय

(१) कुछ भी लेनेकी इच्छा न रखकर ससारसे प्राप्त सामग्रीको ससारकी सेवामें ही लगा देना ।

---

* भूमिरापोऽनलो वायु खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहकार इतीय मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्या प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूता महाबाहो ययेद धार्यते जगत् ॥
(गीता ७ । ४-५)

(२) सांसारिक सुख (भोग और संग्रह)की कामनाका सर्वथा त्याग करना।

(३) संसारके आश्रयका सर्वथा त्याग करना।

(४) संसारसे 'मैं' और 'मेरा'-पनको बिल्कुल हटा लेना।

(५) मैं भगवान्‌का हूँ; भगवान् मेरे हैं—इस वास्तविकता-पर दृढ़तासे डटे रहना।

(६) मुझे एक परमात्माकी तरफ ही चलना है—ऐसे दृढ़ निश्चय (व्यवसायात्मिका बुद्धि)का होना।

(७) शास्त्रविहित अपने-अपने कर्तव्य-कर्मों (स्वधर्म)का तत्परतापूर्वक पालन करना*।

(८) बचपनमें शरीर, पदार्थ, परिस्थिति, विद्या, सामर्थ्य आदि जैसे थे, वैसे अब नहीं हैं अर्थात् वे सब-के-सब बदल गये हैं, पर मैं 'स्वयं' वही हूँ, बदला नहीं—अपने इस अनुभवका आदर करना।

(९) संसारसे माने हुए सम्बन्धका सद्भाव (सत्ता-भाव) मिटाना।

---

* स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
(गीता १८ । ४५)

'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना।
ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
(मानस ३ । १५ । १)

मार्मिक बात—

एक 'स्वयं' (सत् या चेतन)की स्वतःसिद्ध (नित्य रहनेवाली) सत्ता है और दूसरी संसार (असत् या जड़) की विकारी (उत्पन्न और नष्ट होनेवाली) सत्ता है। इन दोनोंके सम्बन्धसे एक तीसरी सत्ता उत्पन्न होती है, जो 'सम्बन्धकी सत्ता' कहलाती है।

उदाहरणार्थ—एक गुरुकी सत्ता है और दूसरी शिष्यकी सत्ता है। गुरु और शिष्यके सम्बन्धसे एक तीसरी सत्ता (जैसे—मेरा शिष्य, मेरा गुरु) उत्पन्न होती है।* गुरु और शिष्यमें तो दोनोंकी अलग-अलग सत्ता है, और दोनों एक-दूसरेसे सम्बन्ध मानते हैं। परन्तु 'स्वयं' (चेतन) और संसार (जड़)में केवल एक 'स्वयं'की ही वास्तविक सत्ता है, और वही (भूलसे) संसारसे अपना सम्बन्ध मानता है।

सम्बन्धकी यह सत्ता केवल मानी हुई है; वास्तवमें है नहीं। जीव भूलसे इस माने हुए सम्बन्धको सत्य मान लेता है अर्थात् इसमें सद्भाव कर लेता है और बँध जाता है। इस प्रकार जीव संसारसे नहीं, अपितु संसारसे माने हुए सम्बन्धसे ही बँधता है। इस माने हुए सम्बन्धको न माननेसे यह मिट जाता है। यही माने हुए सम्बन्धका सद्भाव मिटाना है।

---

* गुरु-शिष्यके सम्बन्धमें गुरुका काम केवल शिष्यका हित करना है और शिष्यका काम केवल गुरुकी सेवा करना है। इस प्रकार संसारमें माने हुए जितने भी सम्बन्ध हैं, सब केवल एक-दूसरेका हित या सेवा करनेके लिये ही हैं, अपने लेनेके लिये नहीं।

संसार (असत्)के साथ माना हुआ सम्बन्ध अनित्य और अवास्तविक है। संसारसे हम ही (सुखासक्तिपूर्वक) सम्बन्ध जोड़ते हैं। संसार हमसे सम्बन्ध नहीं जोड़ता। संसार प्रतिक्षण बदल रहा है—नष्ट हो रहा है;* अतः उससे माना हुआ सम्बन्ध भी प्रतिक्षण स्वतः नष्ट हो रहा है †। ऐसा होते हुए भी जबतक संसारमें सुख प्रतीत होता है, तबतक उससे माना हुआ सम्बन्ध स्थायी प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि संसारसे माना हुआ सम्बन्ध सुखासक्तिपर ही निर्भर है।

परमात्मा (सत्)के साथ हमारा सम्बन्ध नित्य और वास्तविक है। परमात्मा सदैव ज्यों-के-त्यों रहते हैं; अतः उनसे हमारा सम्बन्ध भी सदा रहनेवाला और अटूट है, चाहे हम मानें या न मानें, जानें या न जानें। संसारसे माने हुए सम्बन्धके कारण ही परमात्माके वास्तविक सम्बन्धका अनुभव नहीं हो रहा है।

संसारसे सुखासक्तिपूर्वक माने हुए सम्बन्धके कारण ही संसार अप्राप्त होनेपर भी प्राप्त और परमात्मा प्राप्त होनेपर भी अप्राप्त प्रतीत हो रहे हैं। संसारसे माना हुआ सम्बन्ध टूटते ही परमात्माके वास्तविक सम्बन्ध (अथवा संसारकी अप्राप्ति और परमात्माकी प्राप्ति) का अनुभव हो जाता है।

---

* 'नासतो विद्यते भावः' (गीता २। १६)

'असत्‌की सत्ता नहीं है।'

† संसारको असत् मानें या न मानें, पर संसारसे माना हुआ सम्बन्ध असत् (रहनेवाला नहीं) है, इसे तो मानना ही पड़ेगा।

जिन पदार्थोंमें हमें सुख प्रतीत होता है, उन्हें निष्कामभाव-पूर्वक दूसरोंकी सेवामें (स्वरूपसे संसारकी सेवाके लिये और भावसे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये) लगा देनेपर उन पदार्थोंसे हमारी सुगमतापूर्वक सुखासक्ति मिटकर सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अतः संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये संसारके सुखकी आशा, कामना और भोगका त्याग करके, प्राप्त सामग्रीके द्वारा दूसरोंको सुख पहुँचानेकी इच्छा और चेष्टा करना अत्यावश्यक है। सुख 'देने'से संसारसे माना हुआ सम्बन्ध टूटता है और सुख 'लेने' से संसारसे सम्बन्ध जुड़ता है। वर्तमानमें सुख न लेनेसे नयी सुखासक्ति और दूसरोंको सुख देनेसे पुरानी सुखासक्ति मिट जाती है ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—

संसार-वृक्षका छेदन करनेके बाद साधकको क्या करना चाहिये—इसका विवेचन भगवान् अगले श्लोकमें करते हैं।

श्लोक—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

भावार्थ—

संसार-वृक्षका छेदन अर्थात् संसारसे अपने माने हुए सम्बन्ध-का सर्वथा विच्छेद करनेके बाद उस परमपदरूप परमात्माकी खोज करनी चाहिये, जिसे प्राप्त हुए महापुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते। जिस परमात्मासे अनादिकालसे चली आनेवाली यह सृष्टि (संसार) विस्तारको प्राप्त हुई है—उस आदिपुरुष परमात्माकी ही

मैं शरण हूँ। इस प्रकार साधकको एकमात्र परमात्माका ही आश्रय लेना चाहिये।

अन्वय—

ततः, तत्, पदम्, परिमार्गितव्यम्, यस्मिन्, गताः, भूयः, न, निवर्तन्ति, च, यतः, पुराणी, प्रवृत्तिः, प्रसृता, तम्, एव, आद्यम्, पुरुषम्, प्रपद्ये ॥ ४ ॥

पद-व्याख्या—

ततः—उसके पश्चात्।

यहाँ 'ततः' पद तीसरे तथा चौथे श्लोकमें सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये आया है। पिछले श्लोकमें आये 'छित्त्वा' पदका भाव संसारके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग करना है; और इस श्लोकमें आये 'ततः' पदका भाव केवल परमात्माकी तरफ चलनेका दृढ़ निश्चय करना है।

मनुष्य-शरीरका एकमात्र उद्देश्य परमात्मप्राप्ति ही है। संसारकी प्राप्ति आजतक किसीको नहीं हुई, न होगी और न हो ही सकती है। क्योंकि संसार जड़ और प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला है तथा 'स्वयं' (जीवात्मा) चेतन और अविनाशी है। भगवान् पहले जीवका उद्देश्य निश्चित करते हैं, फिर उस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मनुष्य-शरीर प्रदान करते हैं*। अतः मनुष्यको कोई नया उद्देश्य बनानेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है केवल पूर्वनिश्चित उद्देश्यको पहचाननेकी।

* कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥
(मानस ७ । ४३ । ३)

वास्तविक उद्देश्यकी पूर्तिका दृढ निश्चय होनेपर अहंता सुगमतासे बदल जाती है और अहंताके बदलनेपर विधिका पालन एवं निषेधका त्याग सुगमतासे हो जाता है। इसलिये 'तत.' पदका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि संसारके साथ माने हुए सम्बन्धको धीरे-धीरे त्यागकर फिर भगवान्‌की तरफ चलना है। उद्देश्य एकमात्र परमात्माका ही रहे, तो संसारका त्याग स्वतः होता है।

तत् पदम् परिमार्गितव्यम्—उस परमपद (परमात्मा) की भलीभाँति खोज करनी चाहिये।

जीव परमात्माका ही अंश है। संसारसे सम्बन्ध मान लेनेके कारण ही वह अपने अंशी (परमात्मा) के नित्य सम्बन्धको भूल गया है। अतः भूल मिटनेपर 'मैं भगवान्‌का ही हूँ'—इस वास्तविकताकी स्मृति प्राप्त हो जाती है। इस बातपर भगवान् कहते हैं कि उस परमपद (परमात्मा) से नित्य-सम्बन्ध पहलेसे ही विद्यमान है। केवल उसकी खोज करनी है, उसे नया नहीं बनाना है।

संसारको अपना माननेसे नित्यप्राप्त परमात्मा (अपरोक्ष) अप्राप्त (परोक्ष) दीखने लग जाता है, और अप्राप्त संसार प्राप्त दीखने लग जाता है। इसलिये परमपद (परमात्मा) को 'तत्' पदसे लक्ष्य कराके भगवान् कहते हैं कि जो परमात्मा नित्यप्राप्त है, उसीकी पूरी तरह खोज करनी है।

खोज उसीकी होती है, जिसका अस्तित्व पहलेसे ही होता है। परमात्मा अनादि और सर्वत्र परिपूर्ण हैं। अतः यहाँ खोज

करनेका तात्पर्य यह नहीं है कि किसी साधन-विशेषके द्वारा उस परमात्माको ढूँढ़ना है। जो संसार (शरीर, परिवार, धनादि) कभी अपना था नहीं, है नहीं, होगा नहीं, उसका आश्रय न लेकर जो परमात्मा सदासे ही अपने हैं, अपनेमें हैं और अभी हैं, उनका आश्रय लेना ही उसकी खोज करना है।

साधकको साधन-भजन करना तो बहुत आवश्यक है; क्योंकि इसके समान कोई उत्तम काम नहीं है, किंतु 'परमात्मतत्त्वको साधन-भजनके द्वारा प्राप्त कर लेंगे'—ऐसा मानना उचित नहीं; क्योंकि ऐसा माननेसे अभिमान बढ़ता है, जो परमात्मप्राप्तिमें बाधक है। परमात्मा कृपासे मिलते हैं। उन्हें किसी साधनसे खरीदा नहीं जा सकता। साधनसे केवल असाधन (संसारसे तादात्म्य, ममता और कामनाका सम्बन्ध) अथवा परमात्मासे विमुखताका नाश होता है, जो अपने द्वारा ही किया हुआ है। अतः साधनका महत्त्व असाधनको मिटानेमें ही समझना चाहिये। असाधनको मिटानेकी सच्ची लगन हो, तो असाधनको मिटानेका बल भी परमात्माकी कृपासे मिलता है।

साधकोंके अन्तःकरणमें प्रायः एक दृढ़ धारणा बनी हुई है कि जैसे उद्योग करनेसे संसारके पदार्थ प्राप्त होते हैं, वैसे ही साधन करते-करते (अन्तःकरण शुद्ध होनेपर) ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। इस धारणाकी पुष्टिके लिये इतिहास आदिका प्रमाण भी मिल जाता है कि कठोर तपस्यासे पार्वतीको भगवान् शंकरकी प्राप्ति हुई; ध्रुवको भी तपस्यासे भगवद्दर्शन हुए इत्यादि। पर वास्तविकता

※

यह नहीं है; क्योंकि परमात्मप्राप्ति किसी भी कर्म (साधन, तपस्यादि) का फल नहीं है, चाहे वह कर्म कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो* । कारण कि श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कर्मका भी आरम्भ और अन्त होता है, इसलिये उस कर्मका फल नित्य कैसे होगा ? अतः कर्मका फल भी आदि और अन्तवाला होता है । इसलिये नित्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति किसी कर्मसे नहीं होती । वास्तवमें त्याग, तपस्या आदिसे जडता (संसार व शरीर) से सम्बन्ध-विच्छेद ही होता है, जो भूलसे माना हुआ है । सम्बन्ध-विच्छेद होते ही जो तत्त्व सर्वत्र है, सदा है, नित्यप्राप्त है, उसकी अनुभूति हो जाती है—उसकी स्मृति जाग्रत् हो जाती है ।

गीताके प्रधान श्रोता अर्जुन भी सम्पूर्ण उपदेश सुननेके पश्चात् अन्तमें कहते हैं—'स्मृतिर्लब्धा' (१८ । ७३) 'मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है' । यद्यपि विस्मृति भी अनादि है, तथापि वह शान्त (अन्त होनेवाली) है । संसारकी स्मृति और परमात्माकी स्मृतिमें बहुत अन्तर है । संसारकी स्मृतिके बाद विस्मृतिका होना सम्भव है; जैसे—पक्षाघात (लकवा) होनेपर पढ़ी हुई विद्याकी विस्मृति होना सम्भव है । इसके विपरीत परमात्माकी स्मृति एक

---

* नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
(गीता ११ । ५३)

'जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है, इस प्रकार रूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ ।'

वार हो जानेपर फिर कभी विस्मृति नहीं होती;* जैसे—पक्षाघात होनेपर अपनी सत्ता ('मैं हूँ') की विस्मृति नहीं होती। कारण यह है कि संसारके साथ कभी सम्बन्ध होता नहीं और परमात्मासे सम्बन्ध कभी छूटता नहीं।

शरीर, संसारसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है—इस तत्त्वका अनुभव करना ही संसारवृक्षका छेदन करना है और मैं परमात्माका अंश हूँ—इस वास्तविकतामें निरन्तर स्थित रहना ही परमात्माकी खोज करना है। वास्तवमें संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्य-प्राप्त परमात्मतत्त्वकी अनुभूति हो जाती है।

यस्मिन् गताः भूयः न निवर्तन्ति—जिसे प्राप्त हुए (महा-पुरुष) फिर लौटकर (संसारमें) नहीं आते।

जिसे पहले श्लोकमें 'ऊर्ध्वमूलम्' पदसे तथा इस श्लोकमें 'आद्यम् पुरुषम्' पदोंसे कहा गया है; और आगे छठे श्लोकमें जिसका विस्तारसे वर्णन हुआ है, उसी परमात्मतत्त्वका निर्देश यहाँ 'यस्मिन्' पदसे किया गया है।

जैसे जलकी बूँद समुद्रमें मिल जानेके बाद पुनः समुद्रसे अलग नहीं हो सकती, वैसे ही परमात्माका अंश (जीवात्मा) परमात्माको प्राप्त हो जानेके बाद परमात्मासे अलग नहीं हो सकता अर्थात् पुनः लौटकर संसारमें नहीं आ सकता।

---

* यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। (गीता ४। ३५)
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
(गीता २। ७२)

ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेके कारण प्रकृति अथवा उसके कार्य गुणोंका सङ्ग ही है* । अतः जब साधक असङ्ग-शस्त्रके द्वारा गुणोंके सङ्गका सर्वथा छेदन (असत्‌के सम्बन्धका सर्वथा त्याग) कर देता है, तब उसका पुनः कहीं जन्म लेनेका प्रश्न ही नहीं उठता ।†

च—और ।

यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता—जिस (परमात्मा) से अनादि-कालसे (यह) सृष्टि फैली है ।

---

* पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
(गीता १३ । २१)

'प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है; और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है ।'

† मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
(गीता ८ । १५)

'परमसिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते ।'

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ (गीता ८ । १६)

'हे कुन्तीपुत्र ! मुझे प्राप्त होकर (मनुष्यका) पुनर्जन्म नहीं होता ।'

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ (गीता १४ । २)

'(मुझे प्राप्त हुए पुरुष) सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते ।'

सम्पूर्ण सृष्टिके रचयिता एक परमात्मा ही हैं । वे ही इस संसारके आश्रय और प्रकाशक हैं । मनुष्य भ्रमवश सांसारिक पदार्थोंमें सुखोंको देखकर संसारकी तरफ आकर्षित हो जाता है और संसारके रचयिता (परमात्मा)को भूल जाता है । अतः उपर्युक्त पदोंसे भगवान् मानो यह कहते हैं कि परमात्माका रचा हुआ संसार भी जब इतना प्रिय लगता है, तब (संसारके रचयिता) परमात्मा कितने प्रिय लगने चाहिये ! यद्यपि रची हुई वस्तुमें आकर्षणका होना एक प्रकारसे रचयिताका ही आकर्षण है*, तथापि मनुष्य अज्ञानवश उस आकर्षणमें परमात्माको कारण न मानकर संसारको ही कारण मान लेता है और उसीमें फँस जाता है ।

प्राणिमात्रका स्वभाव है कि वह उसीका आश्रय लेना चाहता है और उसीकी प्राप्तिमें जीवन लगा देना चाहता है, जिसे वह सर्वोपरि मानता है अथवा जिससे उसे कुछ प्राप्त होनेकी आशा रहती है । जैसे संसारमें लोग रुपयोंको प्राप्त करने और उनका संग्रह करनेमें बड़ी तत्परतासे लगते हैं; क्योंकि उनको रुपयोंसे सम्पूर्ण मनचाही वस्तुओंके मिलनेकी आशा रहती है । वे सोचते हैं— 'शरीरके निर्वाहकी वस्तुएँ तो धनसे मिलती ही हैं, अनेक तरहके भोग,

---

* यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥

(गीता १० । ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान ।'

आमोद प्रमोदके साधन भी इसी धनसे प्राप्त होते हैं। इसलिये धन प्राप्त होनेपर मैं सुखी हो जाऊँगा तथा लोग मुझे धनी मानकर मेरा बहुत मान-आदर करेंगे।' इस प्रकार रुपयोंको सर्वोपरि मान लेनेपर वे लोभके कारण अन्याय, पापकी भी परवाह नहीं करते। यहाँतक कि वे शरीरके आरामकी भी उपेक्षा करके रुपये कमाने तथा संग्रह करनेमें ही तत्पर रहते हैं। उनकी दृष्टिमें धनसे बढ़कर कुछ नहीं रहता। इसी प्रकार जब साधकको यह ज्ञात हो जाता है कि परमात्मासे बढ़कर कुछ भी नहीं है और उनकी प्राप्तिमें ऐसा आनन्द है, जहाँ संसारके सब सुख फीके पड़ जाते हैं,* तब वह परमात्माको ही प्राप्त करनेके लिये तत्परतासे लग जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने आगे उन्नीसवें श्लोकमें कहा है कि जो मुझे सर्वोत्तम जान लेता है, वह फिर सब प्रकारसे मुझे ही भजता है।

तम् एव आद्यम्† पुरुषम् प्रपद्ये—(जिसका कोई आदि नहीं है, किंतु जो सबका आदि है) उस आदिपुरुष परमात्माकी ही मैं शरण हूँ।

---

* यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
(गीता ६ । २२)

'परमात्मप्राप्ति-रूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और (परमात्मप्राप्ति-रूप) जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता।'

† 'आदौ भवम् आद्यम्'—सब कुछ बदलता है, पर वह जैसा है वैसा ही रहता है।

जीवात्मा परमात्माका ही अंश है। अतः उसे परमात्माका ही आश्रय (सहारा) लेना चाहिये। परमात्माके अतिरिक्त अन्य कोई भी आश्रय टिकनेवाला नहीं है। अन्यका आश्रय वास्तवमें आश्रय ही नहीं है; अपितु वह आश्रय लेनेवालेका ही नाश अर्थात् पतन करनेवाला है; जैसे—समुद्रमें डूबते हुए व्यक्तिके लिये मगरमच्छका आश्रय! इस मृत्यु-संसार-सागरके सभी आश्रय मगरमच्छके आश्रयकी तरह ही हैं। अतः मनुष्यको विनाशी संसारका आश्रय न लेकर अविनाशी परमात्माका ही आश्रय लेना चाहिये।

जब साधक अपना पूरा बल लगानेपर भी दोषोंको दूर करनेमें सफल नहीं होता, तब वह अपने बलसे स्वतः निराश हो जाता है। ठीक ऐसे समयपर यदि वह (अपने बलसे सर्वथा निराश होकर) एकमात्र भगवान्‌का आश्रय ले लेता है, तो भगवान्‌की कृपाशक्तिसे उसके दोष निश्चितरूपसे नष्ट हो जाते हैं और भगवत्प्राप्ति हो जाती है*। इसलिये साधकको भगवत्प्राप्तिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये। भगवान्‌की शरण लेकर निर्भय और निश्चिन्त हो जाना चाहिये।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥
(गीता १० । २)

'मेरी उत्पत्ति अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवता जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं; क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ।'

* जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्यो नहिं काम।
निरबल है बल राम पुकार्यो, आये आधे नाम॥
सुने री मैंने निरबल के बल राम।

भगवान्‌की शरण होनेपर उनकी कृपासे विघ्नोंका नाश और भगवत्प्राप्ति दोनोंकी सिद्धि हो जाती है। भगवान् कहते भी हैं—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
(गीता १८। ५८)

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८। ६२)

साधकको जैसे संसारके सङ्गका त्याग करना है, वैसे ही 'असङ्गता'के सङ्गका भी त्याग करना है। कारण यह कि असङ्ग होनेके बाद साधकमें 'मैं असङ्ग हूँ'—ऐसा अति सूक्ष्म अहंभाव (परिच्छिन्नता) रह सकता है, जो परमात्माकी शरण होनेपर ही सुगमतापूर्वक मिट सकता है। परमात्माकी शरण होनेका तात्पर्य है—अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहं (मैं-पन), धन, परिवार, मकान आदि सब-के-सब पदार्थोंको परमात्माके समर्पित कर देना अर्थात् उन पदार्थोंसे 'अपनापन' सर्वथा हटा लेना।

शरणागत भक्तमें दो भाव रहते हैं—'मैं भगवान्‌का हूँ' और 'भगवान् मेरे हैं'। इन दोनोंमें भी 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान्‌के लिये हूँ'—यह भाव अति उत्तम है। 'भगवान् मेरे हैं और मेरे लिये हैं'—इस भावमें अपने लिये भगवान्‌से कुछ चाह रहती है। अतः साधक भगवान्‌से अपनी मनचाही कराना चाहेगा। पर 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान्‌के लिये हूँ'—इस भावमें केवल भगवान्‌की मनचाही होगी। इस प्रकार साधकमें अपने लिये कुछ भी करने और पानेका भाव न रहना ही वास्तवमें अनन्य शरणागति है। इस अनन्य शरणागतिसे उसका भगवान्‌के प्रति वह

अनिर्वचनीय और अलौकिक प्रेम जाग्रत् हो जाता है जो क्षति, पूर्ति और निवृत्तिसे रहित है; जिसमें अपने प्रियके मिलनेपर भी तृप्ति नहीं होती और वियोगमें भी अभाव नहीं होता; जो प्रतिक्षण बढ़ता रहता है; जिसमें असीम-अपार आनन्द है, जिससे आनन्ददाता भगवान्‌को भी आनन्द मिलता है। ज्ञानोत्तरकालमें जो प्रेम प्राप्त होता है, वही प्रेम अनन्य शरणागतिसे भी प्राप्त हो जाता है।

'एव' पदका तात्पर्य है कि (दूसरे सब आश्रय त्यागकर) एकमात्र भगवान्‌का आश्रय ले। यही भाव गीतामें अन्यत्र **'मामेव ये प्रपद्यन्ते'** (७। १४), **'तमेव शरणं गच्छ'** (१८। ६२) और **'मामेकं शरणं व्रज'** (१८। ६६) पदोंमें आया है।

'प्रपद्ये' का तात्पर्य है—'मैं शरण हूँ'। यहाँ शङ्का हो सकती है कि भगवान् कैसे कहते हैं कि 'मैं शरण हूँ'। क्या भगवान् भी किसीके शरण होते हैं? यदि शरण होते हैं तो किसकी शरण होते हैं? इसका समाधान यह है कि भगवान् किसीकी शरण नहीं होते; क्योंकि वे सर्वोपरि हैं। केवल लोकशिक्षाके लिये भगवान् साधककी भाषामें बोलकर साधकको यह बतलाते हैं कि वह 'मैं शरण हूँ' ऐसी भावना करे।

'परमात्मा है' और 'मैं (स्वयं) हूँ'—इन दोनोंमें 'है' के रूपमें एक ही परमात्मसत्ता विद्यमान है। 'मैं' के साथ होनेसे ही 'है' का 'हूँ' में परिवर्तन हुआ है। यदि इस 'मैं' रूप

एकदेशीय स्थितिको सर्वदेशीय 'है' में विलीन कर दें, तो 'है' ही रह जायगा, 'हूँ' नहीं रहेगा। जबतक 'स्वयं'के साथ बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, शरीरादिका सम्बन्ध मानते हुए 'हूँ' बना हुआ है, तबतक व्यभिचार-दोष होनेके कारण अनन्य शरणागति नहीं है।

परमात्माका अंश होनेके कारण जीव वस्तुतः सदैव परमात्माके ही आश्रित रहता है, परंतु परमात्मासे विमुख होनेके बाद भी (आश्रय लेनेका स्वभाव न छूटनेके कारण) वह भूलसे नाशवान् संसारका आश्रय लेने लगता है जो कभी टिकता नहीं। अतः वह दुःख पाता रहता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह परमात्मासे अपने वास्तविक सम्बन्धको पहचानकर एकमात्र परमात्माकी शरण हो जाय।

शरणागति-विषयक मार्मिक बात

वास्तविक शरणागति वही है जिसमें 'शरण्य' भी एक हो और 'शरणागत' भी एक हो*। एक भगवान्‌की शरण होनेका क्या तात्पर्य है—पहले इसपर विचार करें।

गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, महिमा, नाम, रूप, लीला, धाम, ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य आदि जितनी भी भगवान्‌की विभूतियाँ हैं, उनकी ओर बिल्कुल न देखते हुए केवल भगवान् मेरे हैं, मैं

* 'मामेकं शरणं व्रज' (गीता १८। ६६)
'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' (गीता १५। ४)
'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत' (गीता १५। १९)
'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत' (गीता १८। ६२)

भगवान्‌का हूँ' ऐसा भाव रखना ही एक भगवान्‌की शरण होना है। जो विभूतियोंकी ओर देखकर भगवान्‌की शरण लेता है, वह वस्तुतः उन विभूतियोंकी ही शरण लेता है, भगवान्‌की नहीं। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि भगवान्‌की विभूतियोंको न मानकर उन्हें छोड़ देना है। भगवान्‌में वे सब विभूतियाँ हैं ही, पर उनकी ओर ध्यान नहीं देना है।

भगवान् ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं अथवा ऐश्वर्यसे सर्वथा रहित; वे दयालु हैं अथवा निष्ठुर (कठोर); उनका बहुत प्रभाव है अथवा कोई प्रभाव नहीं; इत्यादि किसी भी बातकी हमें कोई परवाह नहीं करनी है। भगवान् जैसे भी हैं, हमारे हैं।* यही वास्तविक शरणागति है।

भगवान्‌के किसी गुणको देखकर उनका आदर किया जाय, तो वह उनके गुणका आदर है, स्वयं उनका आदर नहीं; जैसे—किसी धनवान् व्यक्तिका आदर किया जाय, तो वह उसके धनका

---

* असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

'मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण असुन्दर हों या सुन्दर-शिरोमणि हों, गुणहीन हों या गुणियोंमें श्रेष्ठ हों, मेरे प्रति द्वेष रखते हों या करुणासिन्धुरूपसे कृपा करते हों, वे चाहे जैसे हों, मेरी तो वे ही एकमात्र गति हैं।

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

'वे चाहे मुझे हृदयसे लगा लें या चरणोंमें लिपटे हुए मुझे पैरोंतले रौंद डालें अथवा दर्शन न देकर मर्माहत ही करें। वे परम स्वतन्त्र श्रीकृष्ण जैसे चाहें वैसे करें; मेरे तो वे ही प्राणनाथ हैं, दूसरा कोई नहीं।'

ही आदर है, स्वयं उस व्यक्तिका नहीं, किसी मन्त्री (मिनिस्टर)-का आदर किया जाय तो वह मन्त्रीपदका आदर है, स्वयं उस व्यक्तिका नहीं; किसी बलवान् व्यक्तिका आदर किया जाय, तो वह उसके बलका आदर है, स्वयं उस व्यक्तिका नहीं, परंतु केवल व्यक्तिका आदर करनेसे उसका धन, मन्त्रीपद या बल चला जायगा, ऐसी बात भी नहीं है। इसी प्रकार केवल भगवान्‌की शरण लेनेसे उनके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य आदि चले जायँगे, ऐसी बात नहीं है। पर शरणागत भक्तकी दृष्टि केवल भगवान्‌पर ही रहनी चाहिये, उनके गुण आदिपर नहीं। भगवान् हमारे हैं, इसीलिये उनकी शरण होना है। हम भगवान्‌के अंश हैं, गुणोंके नहीं।

सप्तर्षियोंने जब पार्वतीजीके सामने शिवजीके अनेक अवगुणों तथा विष्णुके अनेक सद्गुणोंका वर्णन करते हुए उन्हें शिवजीका त्याग करनेके लिये प्रेरित किया, तो पार्वतीजीने उनसे यही कहा—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

(मानस १।८०)

ऐसी ही बात गोपियोंने भी कही थी—

ऊधौ ! मन माने की बात।
दाख छोहारा छाड़ि अमृतफल, बिषकीरा बिष खात॥
जो चकोर को दै कपूर कोउ, तजि अँगार अघात।
मधुप करत घर कोरे काठमें, बँधत कमलके पात॥
ज्यों पतंग हित जान आपनो, दीपक सों लपटात।
'सूरदास' जाको मन जासों, ताको सोइ सुहात॥

जैसे एक भगवान्‌की शरण लेनी है, वैसे ही हमें भी एक होकर (सर्वभावसे) भगवान्‌की शरण लेनी है। हमारा शरीर नीरोग है; हमारी इन्द्रियाँ वशमें हैं; हमारा मन निर्मल है, हमारी बुद्धि तीक्ष्ण है—इस प्रकार 'हम भी कुछ हैं' ऐसा मानते हुए भगवान्‌की शरण होना एक होकर शरण होना नहीं है।

भगवान्‌की शरण हो जानेके बाद हमें ऐसा विचार भी नहीं करना है कि 'हमारा शरीर ऐसा होना चाहिये; हमारी बुद्धि ऐसी होनी चाहिये; हमारा मन ऐसा होना चाहिये; हमसे ऐसा ध्यान लगना चाहिये; हमारी वृत्तियाँ ऐसी होनी चाहिये; हमारे जीवनमें ऐसा परिवर्तन आना चाहिये; हममें ऐसा प्रेम होना चाहिये कि कथा-कीर्तन सुननेपर आँसू बहने लगें और कण्ठ गद्गद हो जाय' आदि-आदि। ये बातें शरणागतिकी कसौटी नहीं हैं। यदि हम इन बातोंपर विचार करते हैं, तो वस्तुतः हम भगवान्‌की अनन्य शरण हुए ही नहीं। यदि हम इन बातोंकी ओर देखेंगे तो अभिमान ही बढ़ेगा कि हम भगवान्‌के शरणागत भक्त हैं, अथवा निराश होना पड़ेगा कि 'हम भगवान्‌की शरण तो हो गये, पर भक्तोंके गुण (गीता १२। १३—१९) तो हममें आये ही नहीं!' तात्पर्य यह है कि यदि अपनेमें भक्तोंके गुण दिखायी देंगे तो उनका अभिमान हो जायगा और यदि नहीं दिखायी देंगे, तो निराशा हो जायगी। इसलिये अच्छा यही है कि भगवान्‌की शरण होनेपर इन गुणोंकी ओर देखा ही न जाय कि ये अपनेमें हैं या नहीं। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि भगवान्‌की शरण होनेवाले भक्तमें ये

गुण होते नहीं। ये सब गुण तो स्वतः उसमें आयेंगे ही, पर इनके आने या न आनेसे उसे कोई प्रयोजन नहीं रखना चाहिये। जैसे हमें भगवान्‌के गुणोंकी ओर नहीं देखना है, वैसे ही हमें अपने गुणों और दोषोंकी ओर भी नहीं देखना है। कारण कि गुण भगवान्‌के और दोष अपने बनाये हुए है। हम जैसे भी हैं, भगवान्‌के हैं। यही सर्वभावसे भगवान्‌की शरण होनेका रहस्य है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—

जो महापुरुष आदिपुरुष परमात्माके शरण होकर परमपदको प्राप्त होते है, उनके लक्षणोंका वर्णन भगवान् अगले श्लोकमें करते हैं।

श्लोक—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

भावार्थ—

मोहके कारण ही मनुष्य संसार तथा परमात्माको यथार्थरूपसे नहीं जान पाता। मोह होनेसे ही मनुष्यमें 'मान'का भाव होता है। सिद्ध महापुरुष मान और मोहसे सर्वथा रहित होते हैं। सङ्ग अर्थात आसक्ति न रहनेके कारण उनमें ममता, कामना, वासना, स्पृहा आदि दोष नहीं होते। उनकी परमात्मतत्त्वमें ही नित्य-निरन्तर स्वाभाविक स्थिति रहती है। संसारकी सम्पूर्ण कामनाओंका उनमें सर्वथा अभाव होता है। सुख-दुःखरूप द्वन्द्वोंसे वे पूर्णतः मुक्त होते है। ऐसे मोहरहित महापुरुष उस अविनाशी पदको प्राप्त होते हैं, जिसे प्राप्त होकर पुनः संसारमें लौटना नहीं पड़ता।

सिद्ध महापुरुषोंके लक्षण ही साधकोंके लिये आदर्श होते हैं। अतएव साधकोंको भी उपर्युक्त दोषोंसे रहित होना चाहिये। इसी उद्देश्यसे यहाँ इन दोषोंके अभावका (भिन्न-भिन्न) वर्णन किया गया है।

इसी अध्यायके पिछले श्लोकोंमें जिस संसार-वृक्षका वर्णन हुआ है, उसके छेदनके अर्थमें यहाँ 'निर्मानमोहाः', 'अमूढाः' आदि पद और छेदन करनेके बाद परमात्माकी शरण होनेके अर्थमें 'अध्यात्म-नित्याः' पद समझने चाहिये।

अन्वय—

निर्मानमोहाः, जितसङ्गदोषाः, अध्यात्मनित्याः, विनिवृत्तकामाः, सुखदुःखसंज्ञैः, द्वन्द्वैः, विमुक्ताः, अमूढाः, तत्, अव्ययम्, पदम्, गच्छन्ति ॥ ५ ॥

पद-व्याख्या—

निर्मानमोहाः—जो मान और मोहसे रहित हो गये हैं।

शरीरको 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' न मानना ही मोहरहित होना है। जो मोहरहित होता है; वह मानरहित होता ही है; क्योंकि शरीरमें मोह होनेसे ही मानकी इच्छा होती है। जिन महापुरुषोंका एकमात्र भगवान्‌में अपनापन है, उनका (अपने कहे जानेवाले) शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिमें 'मैं-पन' तथा 'मेरा-पन' नहीं रहता। यद्यपि मान स्थूल शरीरका होता है और वह भी किसी गुण, योग्यता आदिसे होता है। शरीरसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण ही हम शरीरके मान-आदरको भूलसे 'स्वयं'का मान-आदर मान लेते हैं और फँस जाते हैं। महापुरुषका शरीरके

साथ 'मैं-मेरापन' न होनेसे उन्हें मान-सम्मानसे प्रसन्नता नहीं होती। एकमात्र भगवान्‌की शरण होनेपर तीनों (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) शरीरोंसे सर्वथा 'मैं-मेरेपन'का सम्बन्धरूप मोह मिट जाता है, फिर मान-सम्मानकी चाह उनमें हो ही कैसे सकती है।

'मैं शरीर नहीं हूँ, क्योंकि जन्मसे लेकर अबतक मेरा शरीर सर्वथा बदल चुका है, पर मैं वही हूँ'—ऐसा जानते हुए भी उसे न मानना ही मोह (मूढ़ता) है। यह मोह सम्पूर्ण दुःखों और पापोंका मूल है—'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला' (मानस ७। १२०। १५)। इसलिये इस मोहका सर्वथा नाश करना चाहिये। मोहका पूर्ण नाश भगवान्‌का आश्रय लेनेपर भगवत्कृपासे होता है।

जितसङ्गदोषाः—जिन्होंने सङ्ग (आसक्ति)-जनित दोषोंपर विजय प्राप्त कर ली है।

ममता, स्पृहा, वासना, आशा आदि दोष आसक्तिके कारण ही होते हैं और आसक्ति अविवेकके कारण होती है। उन महापुरुषोंका आसक्तिरूप आकर्षण कहीं हो ही नहीं सकता; क्योंकि आसक्ति प्रकृतिके अंश 'मैं'-पनमें ही है, अपने स्वरूपमें नहीं—ऐसा विवेक होनेसे उन्हें यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि ये सब प्रकृतिजन्य नाशवान् पदार्थ हमारे साथी हैं ही नहीं। अतः उन महापुरुषोंमें आसक्तिके कार्य, वासना, स्पृहा, तृष्णा, लोभ आदि विकारोंका सर्वथा अभाव हो जाता है।

कितनी ही पुरानी आसक्ति क्यों न हो, है तो मिटनेवाली ही। जैसे कितना ही पुराना और घना अन्धकार हो प्रकाश आते ही मिट जाता है। ऐसे ही परमात्मासे अपना सम्बन्ध मानते ही संसारकी आसक्ति हवा हो जाती है। साधारण लोगोंका भी यह अनुभव है कि आसक्ति सदा एक जगह और एकरूप नहीं रहती, अपितु बदलती (उत्पन्न और नष्ट होती) रहती है। जो वस्तु बदलती है, घटती-बढ़ती है, वह मिटनेवाली ही होती है—यह नियम है। अतः साधकको अपने अनुभवका आदर करते हुए इस आसक्तिरूप दोषसे रहित हो जाना चाहिये।

'आसक्ति' प्राप्त (प्रत्यक्ष) और अप्राप्त (अप्रत्यक्ष)—दोनों ही अवस्थाओंमें होती है; किंतु 'कामना' अप्राप्तकी ही होती है। इसलिये इस श्लोकमें 'विनिवृत्तकामाः' पद पृथक् रूपसे आया है।

प्रकृतिजन्य सम्पूर्ण पदार्थों, व्यक्तियों आदिमें आसक्ति होनेपर भी जीव उनसे अलग ही रहता है, पर भगवान्‌में प्रेम होनेपर जीव भगवान्‌से एक हो जाता है। भगवान्‌में आकर्षण होना 'प्रेम' और संसारमें आकर्षण होना 'आसक्ति' कहलाती है। प्रेममें देना-ही-देना होता है। आसक्तिमें अपने लिये लेनेका भाव रहता है।

अध्यात्मनित्याः—जो नित्य-निरन्तर परमात्मतत्त्वमें ही स्थित रहते हैं।

परमात्मा चेतन और स्वयंप्रकाश है। जो दूसरोंको जाननेवाला है, पर जिसे जाननेवाला कोई हो ही नहीं सकता, उस तत्त्वको 'चेतन' कहते हैं, और अपने-आपके द्वारा (करण-निरपेक्ष)

ज्ञान होनेपर उसे 'स्वयंप्रकाश' कहते हैं ।* उसके प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला समस्त दृश्य 'जड़' कहलाता है (जड़ शब्दसे विषय, पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं अहं (मैं-पन)—ये सभी समझने चाहिये) । उस सर्वप्रकाशक चेतन-तत्त्वको ही यहाँ 'अध्यात्म' पदसे कहा गया है । उस तत्त्वमें अपनी नित्य-निरन्तर स्थितिका अनुभव ही 'अध्यात्मनित्याः' पदसे कहा गया है । तात्पर्य यह है कि उन महापुरुषोंकी निरन्तर परमात्मतत्त्वमें ही स्थिति रहती है ।† इसलिये अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थिति, व्यक्ति, पदार्थ आदिके संयोग-वियोगका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । परमात्मतत्त्व (समता)में उनकी सहज, स्वाभाविक स्थिति होती है । किसी भी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिके आनेपर जिनके मनपर उसका प्रभाव पड़ता है; (जिसे वे अभ्यास, विचारके द्वारा दूर करते हैं) उनकी परमात्मतत्त्वमें स्वाभाविक स्थिति नहीं है, वे साधक हैं; जो परमात्म-तत्त्वमें स्थित होना चाहते हैं; वे अभ्यास, विचार आदिके द्वारा

---

* स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम । (गीता १० । १५)
'हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं ।'

† यद्यपि सम्पूर्ण प्राणियोंकी निरन्तर स्थिति उसी सर्वव्यापक, सर्व-प्रकाशक, सर्वेश्वर परमात्मतत्त्वमें ही रहती है, तथापि भूलसे वे अपनी स्थिति (परमात्मामें न मानकर) संसारमें मान लेते हैं । जैसे मैं अमुक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, नाम, जाति, शरीर आदिका हूँ । अपनी इस विपरीत मान्यताके कारण ही वे बँध जाते हैं और बार-बार जन्मते-मरते हैं ।

उनमें अपनी स्थितिका अनुभव करनेका प्रयास करते हैं। उन्हें अभीतक ऐसा अनुभव नहीं है कि परमात्मतत्त्वमें हमारी स्वतः-स्वाभाविक स्थिति है।

जिन महापुरुषोंकी परमात्मतत्त्वमें नित्य-निरन्तर स्थिति है, उन्हें अपने स्वरूप या अपनी स्थितिके विषयमें कभी विकल्प या भ्रम नहीं होता। महान्-से-महान् दुःख भी उन्हें विचलित नहीं कर सकता।* वस्तुतः ऐसे महापुरुषके समीप दुःख पहुँच ही नहीं सकता। उस महापुरुषके शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिसे शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म तो होते हैं, पर शरीरादिसे तथा उनके द्वारा किये गये कर्मोंसे उसका किञ्चिन्मात्र भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता। 'परमात्मामें हमारी स्थिति है'—इस बातका उन्हें आभास भी नहीं होता। जबतक साधक परमात्मामें अपनी स्थिति मानता है, तबतक सूक्ष्म अहंकारके साथ सम्बन्ध होनेके कारण उसका परमात्मतत्त्वसे सूक्ष्म भेद बना हुआ ही है; जिसपर साधकोंका ध्यान प्रायः नहीं जाता। अतः साधकको चाहिये कि जबतक सहजावस्था (परमात्मतत्त्वमें स्वतः-स्वाभाविक, सहज स्थिति)का अनुभव नहीं हो जाता, तबतक परमात्माका आश्रय लेकर विवेक, विचार आदिको तेजीसे बढ़ाता रहे।

परमात्माकी सर्वथा शरण हो जानेके बाद भक्त आठों पहर

---

* यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(गीता ६ । २२)

सब प्रकारसे भगवान्‌में ही लगा रहता है*, इसलिये उस शरणागत भक्तको भी यहाँ 'अध्यात्मनित्याः' पदसे कहा गया है।

विशेष बात

भगवान्‌ने पिछले श्लोकमें शरण होनेकी बात (तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये) कहकर यहाँ शरणागत भक्तके लक्षणोंमें 'अध्यात्मनित्याः' पद कहा है, जो स्पष्टतः ज्ञानयोगीका विशेषण है†। ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान्‌ने यहाँ भक्तियोगसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके भावको प्रकट किया है।

भक्तियोगसे तत्त्वज्ञानकी सिद्धि यानी गुणातीत अवस्था स्वतः हो जाती है—यह बात गीताके अनेक स्थलोंपर आयी है। जैसे—दसवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भगवान्‌को प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति बतलायी है। तेरहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भगवान्‌ने ज्ञानके साधनोंमें अव्यभिचारिणी भक्तिको भी एक स्वतन्त्र साधन माना है; और अठारहवें श्लोकमें क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयको जाननेवालेको अपना भक्त बतलाकर उसे अपने भावको प्राप्त होनेकी बात कही। चौदहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें अव्यभिचारिणी भक्तिके द्वारा गुणातीत होकर ब्रह्मको प्राप्त होनेकी बात कही गयी है। अठारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें ज्ञानयोगकी पूर्णता भी भक्तियोगसे ही बतलायी है।

---

* स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥　(गीता १५। १९)

† गीतामें अन्यत्र भी ज्ञानयोगीके लिये 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं' (१३। ११) आया है।

जबतक संसारसे सम्बन्ध है, तबतक ज्ञानयोग और भक्तियोग अलग-अलग (स्वतन्त्र) साधन हैं, पर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर (फलमें) दोनों एक हो जाते हैं अर्थात् एककी पूर्णता होनेसे दूसरेकी पूर्णता स्वतः हो जाती है ।

विनिवृत्तकामाः—जो सम्पूर्ण कामनाओंसे पूर्णतया निवृत्त हो गये हैं ।

परमात्मतत्त्व अथवा अपने स्वरूपमें निरन्तर स्थितिका अनुभव होनेसे कामनाओंकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है । इसीलिये 'अध्यात्म-नित्याः'के बाद 'विनिवृत्तकामाः' पद दिया गया है ।

कामनाओंकी उत्पत्ति कब होती है ?—जब हम परमात्मा (जिनसे हमारा वास्तविक सम्बन्ध है)से विमुख हो जाते हैं एवं जिन नाशवान् शरीरादि पदार्थोंके साथ हमारी जातीय तथा स्वरूप-गत एकता नहीं है, उनसे (सुखासक्तिपूर्वक) अपना सम्बन्ध मान लेते हैं । यदि शरीरादिसे अपनी भिन्नताका अनुभव कर लिया जाय (जो वास्तवमें है) तो सम्पूर्ण कामनाएँ स्वतः निवृत्त हो जाती हैं ।

वास्तवमें शरीरादिका वियोग तो प्रतिक्षण हो ही रहा है । साधकको प्रतिक्षण होनेवाले इस वियोगको स्वीकारमात्र करना है । इन वियुक्त होनेवाले पदार्थोंसे संयोग माननेसे ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं । जन्मसे लेकर आजतक निरन्तर हमारी प्राणशक्ति क्षीण हो रही है और शरीरसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है, हम शरीरको स्थिर मान लेते हैं । जब एक दिन शरीर मर जाता है, तब लोग कहते हैं कि आज वह मर गया । वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो शरीर

आज नहीं मरा है, अपितु प्रतिक्षण मरनेवाले शरीरका मरना आज समाप्त हुआ है ! अतएव कामनाओंसे निवृत्त होनेके लिये साधकको चाहिये कि वह प्रतिक्षण वियुक्त होनेवाले शरीरादि पदार्थोंको स्थिर मानकर उनसे कभी अपना सम्बन्ध न माने ।

वास्तवमें कामनाओंकी पूर्ति कभी होती नहीं । जबतक एक कामना पूरी होती हुई प्रतीत होती है, तबतक दूसरी अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं । उन कामनाओंमेंसे जब किसी एक कामनाकी पूर्ति होनेपर हमें सुख प्रतीत होता है, तब अन्य कामनाओंकी पूर्तिके लिये निरन्तर चेष्टा करते रहते हैं, परंतु यह नियम है कि चाहे कितने ही भोग-पदार्थ हमें मिल जायँ, पर कामनाओंकी पूर्ति कभी हो ही नहीं सकती । कामनाओंकी पूर्तिके सुख-भोगसे नयी-नयी कामनाएँ पैदा होती रहती हैं—'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई' । संसारके सम्पूर्ण व्यक्ति, पदार्थ एक साथ मिलकर एक व्यक्तिकी भी कामनाओंकी पूर्ति नहीं कर सकते, फिर सीमित पदार्थोंकी कामना करके सुखकी आशा रखना महान् भूल ही है । कामनाओंके रहते हुए कभी शान्ति नहीं मिल सकती—'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी' (गीता २ । ७०) । अतः कामनाओंकी निवृत्ति ही परमशान्तिका उपाय है । अतएव कामनाओंकी निवृत्ति ही करनी चाहिये, न कि पूर्तिकी चेष्टा ।

सांसारिक भोग-पदार्थोंके मिलनेसे सुख होता है—यह मान्यता कर लेनेसे ही कामना पैदा होती है । यह कामना जितनी तेज होगी उस पदार्थके मिलनेमें उतना ही सुख होगा । वास्तवमें कामनाकी पूर्तिसे सुख नहीं होता । जब हम किसी पदार्थके अभावका दुःख

मानकर कामना करके उस पदार्थका मनसे सम्बन्ध कर लेते हैं, तब उस पदार्थके मिलनेपर अर्थात् उस पदार्थका मनसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर (अभावकी मान्यताका दुःख मिट जानेपर) हमें उसके मिलनेका सुख प्रतीत होता है। यदि पहलेसे ही कामना न करें तो पदार्थोंके मिलनेपर सुख तथा न मिलनेपर दुःख होगा ही नहीं।

अपने अविवेकके कारण (अर्थात् शरीर आदिसे अपनी अभिन्नता माननेसे) ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। अब यह विचार करना है कि यह अविवेक कैसे मिटे ? अविवेक मिटता है विवेकको महत्त्व देनेसे। विवेकको महत्त्व तभी दिया जा सकता है, जब हम प्राप्त सुख-सामग्रीसे दुःखियोंकी निःस्वार्थभावसे सेवा करनेका उद्देश्य रखते हैं। उन पदार्थोंको व्यक्तिगत न मानकर (क्योंकि वास्तवमें वे सार्वजनिक ही हैं) संसारका ही मानते हुए उन्हें संसारकी सेवामें लगाते रहनेसे अपने सुख-भोगकी रुचि स्वतः मिट जाती है और कामनाओंकी निवृत्ति हो जाती है।

मूलमें कामनाका अस्तित्व ही नहीं है; क्योंकि जब काम्यपदार्थका ही स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, तब उसकी कामना कैसे स्थिर रह सकती है। इसलिये सभी साधक कामनारहित होनेमें समर्थ हैं।

विनिवृत्तकाम महापुरुषका यह अनुभव होता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं अहं (मैं-पन)—सभी भगवान्‌के ही हैं। भगवान्‌के अतिरिक्त उनका अपना कुछ होता ही नहीं। ऐसे महापुरुषकी सम्पूर्ण कामनाएँ विशेष और निःशेष-रूपसे नष्ट हो जाती हैं, इसलिये उन्हें यहाँ 'विनिवृत्तकामाः' कहा गया है।

विशेष बात—

साधकके लिये सब प्रकारकी सांसारिक इच्छाओंका त्याग करना आवश्यक है। इच्छाओंके चार भेद हैं—

(१) निर्वाहमात्रकी इच्छा (जो आवश्यकता है उस)को पूरा कर दे*।

(२) जो इच्छा व्यक्तिगत एवं न्याययुक्त हो और जिसे पूरा करना अपने सामर्थ्यसे बाहर हो, उसे भगवान्‌के अर्पण करके मिटा दे†।

(३) दूसरोंकी वह इच्छा पूरी कर दे, जो न्याययुक्त एवं हितकारी हो और जिसे पूरा करनेका सामर्थ्य हममें हो। इस प्रकार दूसरोंकी इच्छा पूरी करनेपर हममें इच्छा-त्यागकी सामर्थ्य आती है।

(४) उपर्युक्त तीनों प्रकारकी इच्छाओंके अतिरिक्त अन्य सब इच्छाओंको विचारके द्वारा मिटा दे।

सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः अमूढाः—सुख-दुःखात्मक द्वन्द्वोंसे जो सर्वथा रहित हो गये हैं, ऐसे ज्ञानीजन।

---

* ऐसी इच्छामें चार बातोंका होना आवश्यक है—

(१) उसका सम्बन्ध वर्तमानसे हो।

(२) उसकी पूर्ति किये बिना रहा न जाय।

(३) उसकी पूर्तिके आवश्यक साधन वर्तमानमें प्राप्त हों।

(४) उसकी पूर्तिसे अपना और दूसरेका अहित न होता हो।

† उदाहरणार्थ, 'संसारमें अन्याय-अत्याचार न हो'—ऐसी तीव्र व्यक्तिगत इच्छा न्याययुक्त और अपने सामर्थ्यसे बाहर है। अतः ऐसी इच्छाको भगवान्‌के अर्पण करके निश्चिन्त हो जाय। ऐसी भगवदर्पित इच्छा भविष्यमें (भगवान् चाहें तो) पूरी हो जाती है।

किसी प्रकारकी कामना होने (अथवा नाशवान् पदार्थोंके साथ सम्बन्ध जोड़ने)से ही सुख-दुःख होते हैं। प्रायः सबका अनुभव है कि जिन पदार्थ, परिस्थिति आदिके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है, उनके सुधरने अथवा बिगड़नेसे हमपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

चौदहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें (गुणातीतके लक्षणोंमें) भगवान्‌ने सुख-दुःखमें 'सम' रहनेकी बात कही है अर्थात् वहाँ सुख-दुःखकी सत्ताको स्वीकार किया गया है, जब कि यहाँ (इस श्लोकमें) सुख-दुःखसे 'रहित' होनेकी बात कही गयी है अर्थात् यहाँ सुख-दुःखके अभावको स्वीकार किया गया है। इन दोनों बातोंमें परस्पर विरोध दिखायी देनेपर भी वास्तवमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि बाहरके सुख-दुःखकी परिस्थितिमें सम रहना और बाहरके सुख-दुःखका अन्तःकरणपर प्रभाव न पड़ना एक ही बात है।

प्रायः लोग अपनी धारणासे सुख-दुःखकी दो प्रकारसे परिभाषा करते हैं। जिनके पास अन्न, धन, मकान, वस्त्र, स्त्री, पुत्र, परिवार आदि बाहरी सामग्रीकी अधिकता है, उन्हें लोग कहते हैं कि 'ये बहुत सुखी हैं' और जिनके पास इनका अभाव है उन्हें लोग कहते हैं कि 'ये बड़े दुःखी हैं'। इसी प्रकार हृदयमें हलचल (चिन्ता, शोक आदि) है, उन्हें लोग दुःखी मानते हैं, और जिनके हृदयमें शान्ति (प्रसन्नता आदि) है, उन्हें लोग सुखी मानते हैं। वस्तुतः बाहरी परिस्थितिसे सुखी-दुःखी मानना सुख

दुःखकी यथार्थ परिभाषा नहीं है। बाहरी परिस्थिति चाहे जैसी हो, उसका अन्तःकरणपर कोई प्रभाव (सुख या दुःख) न पड़ना ही सुख-दुःखकी यथार्थ परिभाषा है, जिसका यहाँ वर्णन हुआ है। यह सभीका अनुभव है कि सुख या दुःख किसी भी परिस्थितिके आनेपर हम स्वयं तो वही रहते हैं, पर सुख-दुःख आते और चले जाते हैं। इस अनुभवका आदर करते हुए हमें केवल यह सावधानी रखनी चाहिये कि आने-जानेवाले सुख-दुःखके साथ हम मिलें नहीं। यदि भूलसे सुख-दुःखके साथ एक होनेकी मान्यता हो भी जाय, तो भी निराश न होकर 'वास्तवमें तो हम उनसे अलग ही हैं'—ऐसा विचार करके उसे तुरंत छोड़ दे।

प्रतिक्षण बदलनेवाले संसारका संयोगजन्य सुख, अभिमान-जन्य सुख तथा अकर्तव्य, प्रमाद और आलस्यजन्य सुखका सर्वथा त्याग होनेके बाद जो सुख शेष रहता है, वही नित्य सुख है। इस नित्य सुखके सभी अधिकारी हैं। आने-जानेवाले सुख-दुःखमें राजी-नाराज होनेसे ही इस नित्य सुखकी अनुभूति नहीं होती।

हर्ष-शोक, सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिके भावोंसे सर्वथा रहित होना ही द्वन्द्वोंसे रहित होना है। जो कुछ होता है, वह हमारे प्यारे प्रभुका मङ्गलमय विधान है—ऐसा भाव होनेसे द्वन्द्व सुगमतापूर्वक मिट सकते हैं। कारण यह कि अंशी (परमात्मा) सबका सुहृद् है—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गीता ५। २९)। उसके द्वारा अपने अंश (जीवात्मा)का कभी अहित हो ही नहीं सकता। अतः भगवान्‌के मङ्गलमय विधानसे जो भी परिस्थिति हमारे सामने आती है, वह हमारे परमहितके लिये ही होती है।

आने-जानेवाले पदार्थोंको प्राप्त करनेकी इच्छा या चेष्टा करना तथा उनसे सुखी-दुःखी होना 'मूढ़ता' है। वास्तवमें संसार निरन्तर परिवर्तनशील है और परमात्मा नित्य रहनेवाला 'है'। परमात्माकी सत्तासे ही संसारकी सत्ता दीखती है। पर अविनाशी परमात्मा और विनाशी संसारकी सत्ताको मिलाकर 'संसार है' ऐसा मान लेना 'मूढ़ता' कहलाती है।

जिस प्रकार मूढ़ (अज्ञानी) पुरुषोंको 'संसार है' ऐसा स्पष्ट दिखायी देता है, उसी प्रकार अमूढ़ (ज्ञानी) महापुरुषोंको 'परमात्मा है (संसार तो प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है)' ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है। संसार जैसा दिखायी देता है, वैसा ही है—इस प्रकार संसारको स्थायी मान लेना 'मूढ़ता' (मोह) है। जिनकी यह मूढ़ता चली गयी, उन महापुरुषोंको यहाँ 'अमूढाः' कहा गया है। मूढ़ता चले जानेके बाद सुख-दुःखका प्रभाव नहीं पड़ता। जिसपर सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंका असर नहीं पड़ता, वह मुक्तिका पात्र होता है*। इसीलिये प्रस्तुत श्लोकमें भगवान्‌ने दो बार मूढ़ताके त्यागकी बात ('**निर्मानमोहाः**' और '**अमूढाः**') कहकर मूढ़ताके त्यागपर विशेष बल दिया है।

विशेष बात—

द्वन्द्व (राग-द्वेषादि) ही विषमता है, जिससे सब प्रकारके पाप उत्पन्न होते हैं। अतः विषमताका त्याग करनेके लिये साधकको

---

* यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥
(गीता २। १५)

नाशवान् पदार्थोंके माने हुए महत्त्वको अन्तःकरणसे निकाल देना चाहिये। द्वन्द्वके दो भेद हैं—

(१) स्थूल (व्यावहारिक) द्वन्द्व—सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि स्थूल द्वन्द्व हैं। प्राणी सुख, अनुकूलता आदिकी इच्छा तो करते हैं, पर दुःख, प्रतिकूलता आदिकी इच्छा नहीं करते। यह स्थूल द्वन्द्व मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि सभीमें देखनेमें आता है।

(२) सूक्ष्म (आध्यात्मिक) द्वन्द्व—यद्यपि अपनी उपासना और उपास्यको सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे आदर (महत्त्व) देना आवश्यक एवं लाभप्रद है, तथापि दूसरोंकी उपासना और उपास्यको हेय (नीचा) बतलाकर उनका खण्डन, निन्दा आदि करना 'सूक्ष्मद्वन्द्व' है, जो साधकके लिये हानिप्रद है।

वास्तवमें सभी उपासनाओंका एकमात्र उद्देश्य संसार (जड़ता)-से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करना है। साधकोंकी श्रद्धा, विश्वास, रुचि और योग्यताके अनुसार उपासनाओंमें भिन्नता होती है, जिसका होना उचित भी है। अतः साधकको उपासनाओंकी भिन्नतापर दृष्टि न रखकर 'उद्देश्य'की अभिन्नतापर ही दृष्टि रखनी चाहिये। दूसरेकी उपासनाको न देखकर अपनी उपासनामें तत्परतापूर्वक लगे रहनेसे उपासना-सम्बन्धी 'सूक्ष्म-द्वन्द्व' स्वतः मिट जाता है।

गीतामें 'स्थूलद्वन्द्व'को 'मोहकलिलम्' (२।५२) और 'सूक्ष्मद्वन्द्व'को 'श्रुतिविप्रतिपन्ना'* (२।५३) पदोंसे कहा गया

---

* 'श्रुतिविप्रतिपन्ना'का अर्थ है—शास्त्रोंमें ज्ञान, कर्म और भक्ति; द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि सिद्धान्त; विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, गणेश आदि उपास्यदेव; सकाम और निष्काम भाव इत्यादि भिन्न-

है। साधकके अन्तःकरणमें जबतक संसार (जड़ता)का सम्बन्ध या महत्त्व रहता है, तभीतक ये द्वन्द्व रहते हैं। 'स्थूल-द्वन्द्व' संसारको विशेषरूपसे सत्ता एवं महत्ता देता है। अतएव 'स्थूल-द्वन्द्व'को मिटाना अत्यावश्यक है।

इन द्वन्द्वोंसे सर्वथा रहित होनेके लिये चार प्रकारकी सहिष्णुताओंका होना आवश्यक है—

(१) परोत्कर्ष-सहिष्णुता—दूसरेकी उन्नति देखकर प्रसन्न होना।

(२) परमत-सहिष्णुता—दूसरेके मत, उपासना, सिद्धान्त आदिसे द्वेष, विरोध, ईर्ष्या आदि न करना।

(३) वेग-सहिष्णुता—काम, क्रोध आदिके वेगको सहना।

(४) द्वन्द्व-सहिष्णुता—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिकी अनुकूलता और प्रतिकूलताको सहना अर्थात् उनसे सुखी या दुःखी न होना।

जबतक मूढ़ता रहती है, तभीतक द्वन्द्व रहते हैं। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो अपनेमें द्वन्द्व मानना ही मूढ़ता है। राग-द्वेष, सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्व अन्तःकरणमें होते हैं, 'स्वयं' (अपने स्वरूप)में नहीं। अन्तःकरण जड़ है, और 'स्वयं' चेतन एवं जड़का प्रकाशक है। अतएव अन्तःकरणसे 'स्वयं'का वास्तविक सम्बन्ध है ही नहीं। केवल मान्यतासे यह सम्बन्ध प्रतीत होता है।

भिन्न विचारोंको देखकर किसी एक विचारपर अपना निश्चय या निर्णय नहीं हो पाना अर्थात् किंकर्तव्यविमूढ हो जाना।

यह सभीका अनुभव है कि सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंके आनेपर हम तो वही रहते हैं। ऐसा नहीं होता कि सुख आनेपर हम और होते हैं, एवं दुःख आनेपर और। परंतु मूढतावश इन सुख-दुःखादिसे मिलकर सुखी और दुःखी होने लगते हैं। यदि हम इन (आने-जानेवालों)से न मिलकर अपने स्वरूपमें स्थित (स्वस्थ) रहें, तो सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे स्वतः रहित हो जायँगे। अतएव साधकको बदलने-वाली अर्थात् आने-जानेवाली अवस्थाओं (सुख-दुःख, हर्ष-शोकादि) पर दृष्टि न रखकर कभी न बदलनेवाले अपने 'स्वरूप'पर ही दृष्टि रखनी चाहिये, जो सब अवस्थाओंसे अतीत है।

गीतामें भगवान्‌ने राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त होनेका बहुत सुगम उपाय बतलाया है कि अनुकूलता-प्रतिकूलतामें राग-द्वेष छिपे हुए हैं। उनसे बचनेके लिये साधकको केवल इतनी सावधानी रखनी है कि वह इनके वशमें न हो*। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष प्रतीत होनेपर भी साधक इनके वशीभूत होकर तदनुसार क्रिया न करे; क्योंकि तदनुसार क्रिया करनेसे ये पुष्ट होते हैं।

तत् अव्ययम् पदम् गच्छन्ति—उस अविनाशी परमपद (परमात्मा)को प्राप्त होते हैं।

---

* इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(गीता ३। ३४)

'इन्द्रिय इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।'

जिस परमात्माको इसी अध्यायके पहले श्लोकमें 'ऊर्ध्वमूलम्' पदसे कहा गया तथा जिस परमपदरूप परमात्माको खोजनेके लिये चौथे श्लोकमें प्रेरणा दी गयी और आगे छठे श्लोकमें जिसकी महिमाका वर्णन किया गया है, उसी परमात्मस्वरूप परमपदकी प्राप्तिका यहाँ वर्णन है। भाव यह है कि जो महापुरुष मान, मोह आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हैं, वे उस अविनाशी परम पदको अवश्य प्राप्त होते हैं, जिसे प्राप्त कर लेनेपर प्राणी लौटकर नाशवान् संसारमें नहीं आता।

वास्तवमें तो मनुष्यमात्र उस पदको स्वतः प्राप्त ही है; पर उधर दृष्टि न रहनेसे उन्हें वैसा प्रतीत नहीं होता। इसे एक उदाहरणसे समझना चाहिये। मानो हम रेलगाड़ीसे यात्रा कर रहे हैं। हमारी गाड़ी एक स्टेशनपर रुक जाती है। हमारी गाड़ीके पास (दूसरी पटरीपर) खड़ी हुई दूसरी गाड़ी सहसा चलने लगती है। उस समय (उस चलती हुई गाड़ीपर दृष्टि रहनेसे) भ्रमसे हमें अपनी गाड़ी चलती हुई दीखने लगती है। परंतु जब हम वहाँसे अपनी दृष्टि हटाकर स्टेशनकी तरफ देखते हैं, तब (भ्रम दूर होनेपर) पता लगता है कि हमारी गाड़ी तो ज्यों-की-त्यों (अपने स्थानपर) खड़ी हुई है। ठीक इसी प्रकार संसारसे सम्बन्ध होनेपर हम अपनेको संसारकी भाँति क्रियाशील (आने-जानेवाला) देखने लगते हैं। पर जब हम संसारसे दृष्टि हटाकर अपने 'स्वरूप'को देखते हैं, तब हमें पता लगता है कि हम स्वयं तो ज्यों-के-त्यों (अचल) ही हैं ॥ ५ ॥*

* नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ (गीता २। २४)
'यह आत्मा नित्य, सर्व-व्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है।'

सम्बन्ध—

छठा श्लोक पाँचवें और सातवें श्लोकोंको जोड़नेवाली कड़ी है। इन श्लोकोंमें भगवान् यह बतलाते हैं कि वह अविनाशी-पद मेरा ही धाम है, जो मुझसे अभिन्न है और जीव भी मेरा अंश होनेके कारण मुझसे अभिन्न है। अतः जीवकी भी उस धाम (अविनाशी-पद) से अभिन्नता है अर्थात् वह उस धामको नित्यप्राप्त है।

यद्यपि इस छठे श्लोकका बारहवें श्लोकसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, परंतु पाँचवें और सातवें श्लोकोंको जोड़नेके लिये ही इसे यहाँ दिया गया है।

पिछले श्लोकमें वर्णित जिस अविनाशी-पदको ज्ञानी महापुरुष प्राप्त होते हैं, वह अविनाशी-पद कैसा है?—इसका भगवान् विवेचन करते हैं।

श्लोक—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

भावार्थ—

भगवान् कहते हैं कि मेरा परमधाम स्वयंप्रकाश है। मुझसे ही सूर्य, चन्द्र और अग्नि प्रकाशित होते हैं। अतः ये तीनों मेरे परमधामको प्रकाशित करनेमें असमर्थ हैं। यद्यपि सूर्य, चन्द्र और अग्नि समष्टि भौतिक पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं; परंतु व्यष्टि पदार्थोंका ज्ञान नेत्र, मन और वाणीसे होता है। उस स्वयंप्रकाश परमधामको ये इन्द्रियाँ भी प्रकाशित नहीं कर सकतीं।

भगवान् कहते हैं कि मेरे इस अविनाशी स्वयंप्रकाशस्वरूप धामको जो पुरुष प्राप्त हो जाते हैं, वे कभी भी पुनः लौटकर इस संसारमें नहीं आते; क्योंकि अंशीको प्राप्त कर लेनेके बाद अंश उससे अभिन्न हो जाता है।

इस श्लोकमें भगवान्ने दो मुख्य बातें बतलायी हैं—(१) उस धामको सूर्यादि प्रकाशित नहीं कर सकते (जिसका कारणरूपसे विवेचन भगवान्ने इसी अध्यायके बारहवें श्लोकमें किया है)। (२) उस धामको प्राप्त हुए प्राणी पुनः लौटकर संसारमें नहीं आते (जिसका कारणरूपसे विवेचन भगवान्ने इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें किया है)।

अन्वय—

तत्, न, सूर्यः, भासयते, न, शशाङ्कः, न, पावकः, यत्, गत्वा, न, निवर्तन्ते, तत्, मम, परमम्, धाम ॥ ६ ॥

पद-व्याख्या—

तत् न सूर्यः भासयते न शशाङ्कः न पावकः—उस (परमपद) को न सूर्य, न चन्द्र और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकते हैं।

दृश्य जगत्में सूर्यके समान तेजस्वी, प्रकाशस्वरूप कोई पदार्थ नहीं है। वह सूर्य भी उस परमधामको प्रकाशित करनेमें असमर्थ है; फिर सूर्यसे प्रकाशित होनेवाले चन्द्र और अग्नि उसे प्रकाशित कर ही कैसे सकते हैं! इसी अध्यायके बारहवें श्लोकमें भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि सूर्य, चन्द्र और अग्निमें मेरा ही तेज है।* मुझसे ही प्रकाश पाकर ये भौतिक जगत्को प्रकाशित करते हैं।

* यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

*

अतः जो उस परमात्मतत्त्वसे प्रकाश पाते हैं, उनके द्वारा परमात्मस्वरूप परमधाम कैसे प्रकाशित हो सकता है* ? तात्पर्य यह है कि परमात्मतत्त्व चेतन है और सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि जड (भौतिक) हैं। ये सूर्य, चन्द्र और अग्नि क्रमशः नेत्र, मन और वाणीको प्रकाशित करते हैं। ये तीनों (नेत्र, मन और वाणी) भी जड ही हैं। अतएव नेत्रोंसे उस परमात्मतत्त्वको देखा नहीं जा सकता, मनसे उसका चिन्तन नहीं किया जा सकता और वाणीसे उसका वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि जडतत्त्वसे चेतन परमात्मतत्त्वकी अनुभूति नहीं हो सकती। वह चेतन (प्रकाशक) तत्त्व इन सभी प्रकाशित पदार्थोंमें सदा परिपूर्ण है। उस तत्त्वमें अपनी प्रकाशकताका अभिमान नहीं है।

चेतन जीवात्मा भी परमात्माका ही अंश होनेके कारण 'स्वयंप्रकाशस्वरूप' है, अतः उसे भी जड पदार्थ (मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि) प्रकाशित नहीं कर सकते। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि जड-पदार्थोंका उपयोग (इनके द्वारा लोगोंकी सेवा करके) केवल जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें ही है।

---

* न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठोपनिषद् २।२।१५)

'उस परमात्माको सूर्य प्रकाशित नहीं करता, चन्द्र और तारे प्रकाशित नहीं करते, विद्युत् भी प्रकाशित नहीं करती, फिर यह अग्नि उसे कैसे प्रकाशित करेगी ! यह सम्पूर्ण जगत् उस परमात्माके प्रकाशसे ही प्रकाशित होता है।'

'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।' (मानस १।११६।४)

यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिये कि 'सूर्यको 'भगवान्' या 'देव'की दृष्टिसे न देखकर केवल प्रकाश करनेवाले पदार्थोंकी दृष्टिसे देखा गया है। तात्पर्य यह है कि सूर्य तैजस-तत्त्वोंमें श्रेष्ठ है। अतः यहाँ केवल सूर्यकी बात नहीं, अपितु चन्द्र आदि अन्य सभी तैजस-तत्त्वोंकी बात चल रही है। जैसे, दसवें अध्यायके सैंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि 'वृष्णिवंशियोंमें मैं वासुदेव हूँ' (गीता १० । ३७), तो यहाँ 'वासुदेव'का भगवान्‌के रूपसे वर्णन नहीं अपितु वृष्णिवंशके श्रेष्ठ पुरुषके रूपमें वर्णन है।

यत् गत्वा न निवर्तन्ते तत् मम परमम् धाम—जिस धामको प्राप्त होकर प्राणी नही लौटते, वही मेरा परमधाम है।*

जीव परमात्माका अंश है। वह जबतक अपने अंशी परमात्माको प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक उसका आवागमन नहीं मिट सकता। जैसे नदियोंके जलको अपने अंशी समुद्रसे मिलनेपर ही स्थिरता मिलती है, वैसे ही जीवको अपने अंशी परमात्मासे मिलनेपर ही वास्तविक, स्थायी शान्ति मिलती है। वास्तवमें जीव परमात्मासे अभिन्न ही है, पर संसारके (माने हुए) सङ्गके कारण उसे ऊँच-नीच योनियोंमें जाना पड़ता है।

---

* आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥
(गीता ८ । १६)

'हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं, परंतु हे कुन्ती-पुत्र ! मुझे प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता।'

यहाँ 'परमम्-धाम' पद परमात्माका धाम और परमात्मा—दोनों-का ही वाचक है। यह परमधाम प्रकाशस्वरूप है। जैसे सूर्य अपने स्थान-विशेषपर भी स्थित है और प्रकाशरूपसे सब जगह भी स्थित है अर्थात् सूर्य और उसका प्रकाश परस्पर अभिन्न हैं, वैसे ही परमधाम और सर्वव्यापी परमात्मा भी परस्पर अभिन्न हैं।

भक्तोंकी भिन्न-भिन्न मान्यताओंके कारण ब्रह्मलोक, साकेत धाम, गोलोक धाम, देवीद्वीप, शिवलोक आदि सब एक ही परमधामके भिन्न-भिन्न नाम हैं। यह परमधाम चेतन, ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप और परमात्मस्वरूप है।

यह अविनाशी परमपद आत्मरूपसे सबमें समानरूपसे अनुस्यूत है। अतः स्वरूपसे हम उस परमपदमें स्थित हैं ही, पर जड़ता (शरीर आदि)से तादात्म्य, ममता और कामनाके कारण हमें उसकी प्राप्ति अथवा उसमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव नहीं हो रहा है॥ ६॥

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने अपने परमधामका वर्णन करते हुए यह बतलाया कि उसे प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते। उसके विवेचनके रूपमें अपने अंश जीवात्माको भी (परम-धामकी ही तरह) अपनेसे अभिन्न बतलाते हुए, जीवसे क्या भूल हो रही है कि जिससे उसे नित्यप्राप्त परमात्मस्वरूप परमधामका अनुभव नहीं हो रहा है—इसका हेतुसहित वर्णन अगले श्लोकमें करते हैं।

श्लोक—

मममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

भावार्थ—

भगवान् कहते हैं कि शरीरमें जीवरूपसे रहनेवाला आत्मा मेरा ही सनातन अंश है। प्रकृतिके अंश एवं प्रकृतिमें स्थित मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियोंको यह जीवात्मा भूलसे अपनी तरफ आकर्षित करता है—उन्हें अपना मान लेता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि जीव मेरा ही अंश होनेसे नित्य-निरन्तर मुझमें ही स्थित है, तथापि मुझसे विमुख होकर प्रकृतिके कार्य मन और इन्द्रियोंको भूलसे अपना मान लेनेके कारण वह उनमें ही अपनी स्थिति मान लेता है, मुझमें नहीं।

अन्वय—

जीवलोके, जीवभूतः, मम, एव, सनातनः, अंशः, प्रकृतिस्थानि, मनःषष्ठानि, इन्द्रियाणि, कर्षति ॥ ७ ॥

पद-व्याख्या—

जीवलोके—इस (मनुष्य) शरीरमें।

जिनके साथ जीवकी जातीय अथवा स्वरूपकी एकता नहीं है; ऐसे प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्यमात्रका नाम 'लोक' है। तीन लोक, चौदह भुवनोंमें जीव जितनी योनियोंमें शरीर धारण करता है, उन सम्पूर्ण लोकों तथा योनियोंका वर्णन 'जीवलोके' पदके अन्तर्गत है।

यद्यपि 'जीवलोके' पद सम्पूर्ण योनियोंके शरीरोंका वाचक है, तथापि 'मैं शरीर नहीं हूँ, अपितु अविनाशी परमात्माका ही चेतन

अंश हूँ'—ऐसे विश्वास और अनुभवकी योग्यता तथा अधिकार मनुष्य-शरीरमें ही है। मनुष्य-शरीरमें विवेक ही मनुष्यत्व है। पशु, पक्षी आदि अन्य योनियोंमें इस विवेकको प्रकाशित करनेकी योग्यता नहीं है। कारण यह कि उन योनियोंमें यह विवेक सुषुप्त रहता है। देवयोनिमें भी भोगोंकी बहुलताके कारण विचारका अवकाश नहीं है और अधिकार भी नहीं है। इसलिये यहाँ 'जीवलोके'पद विशेषरूपसे मनुष्य शरीरका ही वाचक समझना चाहिये।

जीवभूत'—(असत्‌के सम्बन्धसे) जीव बना हुआ (आत्मा)।

आत्मा परमात्माका अंश है परन्तु प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन आदिके साथ अपनी एकता मानकर वह 'जीव' हो गया है। उसका यह जीवत्व कृत्रिम है, वास्तविक नहीं। नाटकमें कोई पात्र बननेकी तरह ही यह आत्मा जीवलोकमें 'जीव' बनता है।

भगवान्‌ने गीतामें अन्यत्र कहा है कि इस सम्पूर्ण जगत्‌को मेरी 'जीवभूता' परा प्रकृतिने धारण कर रखा है।* अर्थात् अपरा प्रकृति (संसार) से वास्तविक सम्बन्ध न होनेपर भी जीवने उससे अपना सम्बन्ध मान रखा है।

मम एव—मेरा ही।

भगवान् जीवके प्रति इतनी आत्मीयता रखते हैं कि उसे अपना ही मानते हैं। मानते ही नहीं अपितु जानते भी हैं। उनकी

* अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (गीता ७। ५)

यह आत्मीयता महान् हितकारी, अखण्ड रहनेवाली और स्वतः सिद्ध है।

यहाँ भगवान् यह वास्तविकता प्रकट करते हैं कि जीव केवल मेरा अंश है; इससे प्रकृतिका किसी अंशमें मिश्रण नहीं है। जैसे सिंहका बच्चा भेड़ोंमें मिलकर अपनेको भेड़ मान ले, वैसे ही जीव शरीरादि जड़ पदार्थोंके साथ मिलकर अपने वास्तविक चेतन स्वरूपको भूल जाता है। अतएव इस भूलको मिटाकर उसे अपनेको सदा-सर्वथा चेतनस्वरूप ही अनुभव करना चाहिये। सिंहका बच्चा भेड़ोंके साथ मिलकर भी भेड़ नहीं हो जाता। जैसे कोई दूसरा सिंह आकर उसे बोध करा दे कि 'देख! तेरी और मेरी आकृति, स्वभाव, जाति, गर्जना आदि सब एक समान हैं; अतः निश्चितरूपसे तू भेड़ नहीं अपितु मेरे ही-जैसा सिंह है।' ऐसे ही भगवान् यहाँ 'मम एव' पदोंसे मानो जीवको बोध कराते हैं कि हे जीव! तू मेरा ही अंश है। प्रकृतिके साथ तुम्हारा सम्बन्ध कभी हुआ नहीं, है नहीं, हो सकता नहीं।

भगवत्प्राप्तिके सभी साधनोंमें 'अहंता' (मैं-पन) और 'ममता' (मेरा-पन) का परिवर्तन-रूप साधन बहुत सुगम और श्रेष्ठ है। अहंता और ममता—दोनोंमें साधककी जैसी मान्यता होती है, उसके अनुसार भाव तथा क्रिया भी स्वतः होती है। साधककी 'अहंता' यह होनी चाहिये कि 'मैं भगवान्‌का ही हूँ' और 'ममता' यह होनी चाहिये कि 'भगवान् ही मेरे हैं।'

यह हमारा अनुभव है कि हम अपनेको जिस वर्ण, आश्रम सम्प्रदाय आदिका मानते हैं, उसीके अनुसार हमारा जीवन बनता

है । पर यह मान्यता (जैसे, मैं ब्राह्मण हूँ; मैं साधु हूँ आदि) केवल (नाटकमें स्वाँगकी तरह) कर्तव्य-पालनके लिये है; क्योंकि यह सदा रहनेवाली नहीं है । परन्तु 'मैं भगवान्‌का हूँ' यह वास्तविकता सदा रहनेवाली है । 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं साधु हूँ' आदि (मान्यताएँ हमने अपने मानसे मानी हैं; ब्राह्मण या साधु आदि) भाव कभी हमसे ऐसा नहीं कहते कि 'तुम ब्राह्मण हो' या तुम साधु हो । इसी प्रकार मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, धन, जमीन, मकान आदि जिन पदार्थोंको हम भूलसे अपना मान रहे हैं, वे हमें कभी भी ऐसा नहीं कहते कि तुम हमारे हो, पर सम्पूर्ण सृष्टिके रचयिता परमात्मा घोषणा कर रहे हैं कि जीव मेरा ही है !

शरीरादि पदार्थोंको हम अपने साथ लाये नहीं, इच्छानुसार उसमें परिवर्तन कर सकते नहीं, इच्छानुसार उन्हें अपने पास स्थिर रख सकते नहीं, हम भी उनके साथ सदा रह सकते नहीं, उन्हें अपने साथ ले जा सकते नहीं फिर भी उन्हें अपना मानते हैं—यह हमारी कितनी बड़ी भूल है ।

बचपनमें हमारे जैसे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर थे वैसे अब नहीं हैं, सब-के-सब बदल गये हैं, फिर भी हम 'मै जो बचपनमें था, वही अब हूँ' ऐसा मानते हैं । कारण यही है कि शरीरादिमें परिवर्तन होनेपर भी हममें परिवर्तन नहीं हुआ । इस प्रकार शरीरादिमें हमें स्पष्ट परिवर्तन दीखता है । जिसे परिवर्तन दीखता है, वह स्वयं परिवर्तनरहित होता ही है । अतः संसारके पदार्थ, व्यक्ति हमारे साथी नहीं हैं—यह निर्विवाद सत्य है ।

'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसा भाव रखना अपने-आपको भगवान्‌में लगाना है। साधकोंसे भूल यही होती है कि वे अपने-आपको भगवान्‌में न लगाकर मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेका प्रयत्न करते हैं। इसीलिये उन्हें मनको वश करनेमें बड़ी कठिनाई होती है और समय भी अधिक लगता है। 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस वास्तविकताको भुलाकर 'मैं ब्राह्मण हूँ; मैं साधु हूँ' आदि भी मानते रहें और मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाते रहें, तो यह दुविधा कभी मिटेगी नहीं और बहुत प्रयत्न करनेपर भी मन-बुद्धि भगवान्‌में जैसे लगने चाहिये, वैसे नहीं लगेंगे। भगवान्‌ने भी इस अध्यायके चौथे श्लोकमें 'मैं उस परमात्माके शरण हूँ' पदोंसे अपने-आपको परमात्मामें लगानेकी बात ही कही है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं कि पहले भगवान्‌का होकर फिर नाम-जप आदि साधन करें तो अनेक जन्मोंकी बिगड़ी हुई स्थिति आज, अभी सुधर सकती है—

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥

(दोहावली २२)

तात्पर्य यह है कि भगवान्‌में केवल मन-बुद्धि लगानेकी अपेक्षा अपने-आपको भगवान्‌में लगाना बहुत अच्छा है। अपने-आपको भगवान्‌में लगानेसे मन-बुद्धि स्वतः सुगमतापूर्वक भगवान्‌में लग जाती है। नाटकका पात्र हजारों दर्शकोंके सामने यह कहता है कि 'मैं रावणका बेटा मेघनाद हूँ' और मेघनादकी तरह ही वह बाहरी सब क्रियाएँ करता है। परंतु उसके भीतर निरन्तर यह भाव रहता है कि यह तो स्वाँग है; वास्तवमें मैं मेघनाद हूँ ही

नहीं। इसी प्रकार साधकोंको भी नाटकके स्वाँगकी तरह इस संसार-रूप नाट्यशालामें अपने-अपने कर्तव्यका पालन करते हुए भीतरसे 'मैं तो भगवान्‌का हूँ' ऐसा भाव निरन्तर जाग्रत् रखना चाहिये।

सनातनः अंशः—सनातन (सदासे) अंश है।

जीव सदासे ही भगवान्‌का है। भगवान्‌ने न तो कभी जीवका त्याग ही किया, न कभी उससे विमुख ही हुए और जीव भी भगवान्‌का त्याग नहीं कर सकता। भगवान्‌के द्वारा मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके वह भगवान्‌से विमुख हुआ है। जिस प्रकार स्वर्णका आभूषण तत्त्वतः स्वर्णसे पृथक् नहीं हो सकता, उसी प्रकार जीव भी तत्त्वतः परमात्मासे कभी पृथक् नहीं हो सकता।

बुद्धिमान् कहलानेवाले मनुष्यकी यह बहुत बड़ी भूल है कि वह अपने अंशी भगवान्‌से विमुख हो रहा है। वह इधर ध्यान ही नहीं देता कि भगवान् इतने सुहृद् (दयालु और प्रेमी) हैं कि हमारे न चाहनेपर भी हमें चाहते हैं, न जाननेपर भी हमें जानते हैं। वे कितने उदार, दयालु और प्रेमी हैं—इसका वर्णन भाषा, भाव, बुद्धि आदिके द्वारा हो ही नहीं सकता। ऐसे सुहृद् भगवान्‌को छोड़कर अन्य नाशवान् जड पदार्थोंको अपना मानना बुद्धिमानी नहीं, अपितु महान् मूर्खता है।

जब हम भगवान्‌के आज्ञानुसार अपने कर्तव्यका पालन करते हैं, तब वे हमारी इतनी उन्नति कर देते हैं कि जीवन सफल हो जाता है और जन्म-मरणरूप बन्धन सदाके लिये मिट जाता है।

जब हम भूलसे कोई निषिद्ध आचरण (पाप) कर लेते हैं, तब दु:खोंको भेजकर हमें चेत कराते हैं, पुराने पापोंको भुगताकर हमें शुद्ध करते हैं और नये पापोंमें प्रवृत्तिसे हमें रोकते हैं।

जीव कहीं भी क्यों न हो (नरकमें हो अथवा स्वर्गमें, मनुष्य-योनिमें हो अथवा देवयोनिमें), भगवान् उसे अपना ही अंश मानते हैं। यह उनकी कितनी अहैतुकी कृपा, उदारता और महत्ता है। जीवके पतनको देखकर भगवान् दु:खी होकर कहते हैं कि मेरे पास आनेका उसका पूरा अधिकार था, पर वह मुझे प्राप्त किये बिना (माम् अप्राप्य) नरकोंमें जा रहा है।*

मनुष्य चाहे किसी भी स्थितिमें क्यों न हो भगवान् उसे स्थिर नहीं रहने देते। उसे मानो अपनी ओर खींचते ही रहते हैं। जब हमारी सामान्य स्थितिमें कुछ भी परिवर्तन (सुख-दु:ख, आदर-निरादर आदि) होता है, तब यह मानना चाहिये कि भगवान् हमें विशेषरूपसे याद करके नयी परिस्थिति पैदा कर रहे हैं, हमें अपनी ओर खींच रहे हैं। इस तथ्यको माननेवाला साधक प्रत्येक परिस्थितिमें विशेष भगवत्कृपाको देखकर आनन्दित रहता है और भगवान्‌को कभी भूलता नहीं।

साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है, पापी-से-पापी मनुष्यको भी भगवत्प्राप्तिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि जो हमारा अपना है और सदा हमें अपना मानता तथा जानता है, उसकी

---

* आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। २०)

प्राप्तिमें निराशा कैसी ? भगवत्प्राप्तिका दृढ निश्चय करनेवाले पापी-से-पापी जीवको भी भगवान् शीघ्र धर्मात्मा बनाकर उसे अपनी प्राप्ति शीघ्र होनेकी बात कहते हैं।*

अंशीको प्राप्त करनेमें अंशको कठिनाई और देरी नहीं होती। कठिनाई और देरी इसीलिये होती है कि अंशने अपने अंशीसे विमुखता मानकर उन शरीरादिको अपना मान रखा है, जो अपने नहीं हैं। अतः भगवान्‌के सम्मुख होते ही उनकी प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। सम्मुख होना जीवका काम है; क्योंकि यही भगवान्‌से विमुख हुआ है। भगवान् तो जीवको अपना मानते ही हैं, जीव भगवान्‌को अपना मान ले—यही सम्मुखता है।

मनुष्यसे यह बहुत बड़ी भूल हो रही है कि जो व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति अभी नहीं है अथवा जिसका मिलना निश्चित भी नहीं है

---

* अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

'इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

और जो मिलनेपर भी सदा नहीं रहेगी—उसकी प्राप्तिमें वह अपना पूर्ण पुरुषार्थ और अपनी उन्नति मानता है। यह मनुष्यका अपने जीवनके साथ बहुत बड़ा धोखा है ! वास्तवमें जो नित्यप्राप्त और अपना है, उस परमात्माको प्राप्त करना ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है—शूरवीरता है। हम धन, सम्पत्ति आदि सांसारिक पदार्थ कितने ही क्यों न प्राप्त कर लें, पर अन्तमें या तो वे नहीं रहेंगे अथवा हम नहीं रहेंगे; अन्तमें 'नहीं' ही शेष रहेगा। वास्तवमें जो सदा 'है' उस (अविनाशी परमात्मा) को प्राप्त कर लेनेमें ही शूरवीरता है। जो 'नहीं' है, उसे प्राप्त करनेमें कोई शूरवीरता नहीं है।

नाशवान् सांसारिक पदार्थोंको प्राप्त करके मनुष्य कभी भी बड़ा नहीं हो सकता। केवल बड़े होनेका भ्रम या धोखा हो जाता है और वास्तवमें असली बड़प्पन (परमात्मप्राप्ति)से वञ्चित हो जाता है। नाशवान् पदार्थोंके कारण माना गया बड़प्पन कभी टिकता नहीं और परमात्माके कारण होनेवाला बड़प्पन कभी मिटता नहीं। इसलिये जीव जिसका अंश है, उस सर्वोपरि परमात्माको प्राप्त करनेसे ही वह बड़ा होता है। इतना बड़ा होता है कि देवता भी उसका आदर करते हैं और कामना करते हैं कि वह हमारे लोकमें आये। इतना ही नहीं, स्वयं अनन्तब्रह्माण्डाधिपति भगवान् भी उसके अधीन हो जाते हैं ! 'मैं तो हूँ भगतनका दास भगत मेरे मुकुटमणि।'

प्रकृतिस्थानि मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि कर्षति—(और वही जीव भूलसे) प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षित करता है।

भगवान्‌ने जिस प्रकार इसी श्लोकके पूर्वार्द्धमें जीवको अपनेमें स्थित न कहकर उसे अपना अंश बतलाया है, उसी प्रकार श्लोकके उत्तरार्द्धमें मन तथा इन्द्रियोंको प्रकृतिका अंश न कहकर उन्हें प्रकृतिमें स्थित बतलाया है। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌का 'अंश' जीव सदा भगवान्‌में ही 'स्थित' है और प्रकृतिमें 'स्थित' मन तथा इन्द्रियाँ प्रकृतिके ही 'अंश' हैं।

यहाँ बुद्धिका अन्तर्भाव 'मन' शब्दमें (जो अन्तःकरणका उपलक्षण है) और पाँच कर्मेन्द्रियों एवं पाँच प्राणोंका अन्तर्भाव 'इन्द्रिय' शब्दमें मान लेना चाहिये।

भगवान्‌के उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह है कि मेरा अंश जीव मुझमें स्थित रहता हुआ भी भूलसे अपनी स्थिति शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिमें मान लेता है। जैसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि प्रकृतिका अंश होनेसे कभी प्रकृतिसे पृथक् नहीं होते, वैसे ही जीव भी मेरा अंश होनेसे कभी मुझसे पृथक् नहीं होता, हो सकता नहीं। परंतु यह जीव मुझसे विमुख होकर मुझे भूल गया है।

यहाँ मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंकी गणनाका तात्पर्य यह है कि इन छहोंसे सम्बन्ध जोड़कर ही जीव बँधता है। अतः साधकको इनसे तादात्म्य, ममता और कामनाका सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। मन और इन्द्रियोंको अपना मानना (उनसे अपना सम्बन्ध मानना) ही उन्हें आकर्षित करना है।

विशेष बात

मनुष्य भूलसे शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई आदि नाशवान् वस्तुओंको अपनी और अपने लिये मानकर दुःखी

होता है। इससे भी नीची बात यह है कि इस सामग्रीके भोग और संग्रहको लेकर वह अपनेको बड़ा मानने लगता है; जब कि वास्तवमें इन्हें अपना मानते ही इनका दास (गुलाम) हो जाता है। हमें पता लगे या न लगे हम जिन पदार्थोंकी आवश्यकता समझते हैं, जिनमें कोई विशेषता या महत्त्व देखते हैं या जिनकी हम गरज रखते हैं, वे (धन, विद्या आदि) पदार्थ हमसे बड़े और हम उनसे तुच्छ हो ही गये। पदार्थोंके मिलनेमें जो अपना महत्त्व समझता है, वह वास्तवमें तुच्छ ही है, चाहे उसे पदार्थ मिलें या न मिलें।

भगवान्‌का दास होनेपर भगवान् कहते हैं—'मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि'! परंतु जिसके हम दास बने हुए हैं, वे धनादि जड़ पदार्थ कभी नहीं कहते—'लोभी मेरे मुकुट-मणि'! वे तो केवल हमें अपना दास बनाते हैं। वास्तवमें भगवान्‌को अपना जानकर उनकी शरण हो जानेसे ही प्राणी बड़ा बनता है, ऊँचा उठता है। इतना ही नहीं; भगवान् ऐसे भक्तको अपनेसे भी बड़ा मान लेते हैं और कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६३)

'हे द्विज! मैं भक्तोंके पराधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। भक्तजन मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। मेरे हृदयपर उनका पूर्ण अधिकार है।'

कोई भी सांसारिक व्यक्ति, पदार्थ क्या हमें इतनी बड़ाई दे सकता है?

यह जीव परमात्माका अंश होते हुए भी प्रकृतिके अंश शरीरादिको अपना मानकर स्वयं अपना अपमान करता है और अपनेको नीचे गिराता है। यदि हम इन शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि सांसारिक पदार्थोंके दास न बनें, तो हम भगवान्‌के भी इष्ट हो जायँ—'**इष्टोऽसि मे दृढमिति**' (गीता १८ । ६४) । भगवान् इतने प्रेमी हैं कि जो उन्हें जिस प्रकार भजते हैं, वे भी उन्हें उसी प्रकार भजते हैं—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**।' (गीता ४ । ११) । जिन्होंने भगवान्‌को प्राप्त कर लिया है, उन्हें भगवान् अपना प्रिय कहते हैं (गीता १२ । १३—१९) । परंतु जिन्होंने भगवान्‌को प्राप्त नहीं किया है, किंतु जो भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं, उन साधकोंको तो वे अपना 'अत्यन्त प्रिय' कहते हैं—'**भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः**' (गीता १२ । २०) । ऐसे परम दयालु भगवान्‌को, जो साधकोंको 'अत्यन्त प्रिय' और सिद्ध भक्तोंको केवल 'प्रिय' कहते हैं, हम अपना नहीं मानते—यह हमारा कितना प्रमाद है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—

मनसहित इन्द्रियोंको अपना माननेके कारण जीव किस प्रकार उन्हें साथ लेकर अनेक योनियोंमें घूमता है—इसका भगवान् दृष्टान्तसहित वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

भावार्थ—

शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिका ईश्वर अर्थात् जीवात्मा जिस शरीरको त्यागता है, वहाँसे मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके, फिर जिस शरीरको प्राप्त करता है, उसमें वैसे ही चला जाता है, जैसे वायु गन्धके स्थान (इत्र, पुष्पादि) से गन्ध ले जाती है।

अन्वय—

वायुः आशयात्, गन्धान्, इव, ईश्वरः, अपि, यत्, (शरीरम्,) उत्क्रामति, (तस्मात्,) एतानि, गृहीत्वा, च, यत्, शरीरम्, अवाप्नोति, (तत्,) संयाति ॥ ८ ॥

पद-व्याख्या—

वायुः आशयात् गन्धान् इव—वायु गन्धके स्थान (इत्र, पुष्पादि) से जैसे गन्धको ग्रहण करके ले जाती है।

जिस प्रकार वायु इत्रके फोहेसे गन्ध ले जाती है, किंतु वह गन्ध स्थायीरूपसे वायुमें नहीं रह पाती, क्योंकि वायु और गन्धका सम्बन्ध नित्य नहीं है, इसी प्रकार इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, स्वभाव आदि (सूक्ष्म और कारण—दोनों शरीरों) को अपना माननेके कारण जीवात्मा उन्हें साथ लेकर दूसरी योनिमें जाता है।

जैसे वायु तत्त्वतः गन्धसे निर्लिप्त है, वैसे ही जीवात्मा भी तत्त्वतः मन, इन्द्रियाँ, शरीरादिसे निर्लिप्त है; पर इन मन, इन्द्रियाँ, शरीरादिमें मैं-मेरापनकी मान्यता होनेके कारण वह (जीवात्मा) इनका आकर्षण करता है।

जैसे वायु आकाशका कार्य होकर भी पृथ्वीके अंश गन्धको साथ लिये फिरती है, वैसे ही जीवात्मा परमात्माका सनातन अंश

होते हुए भी प्रकृतिके कार्य (प्रतिक्षण बदलनेवाले) शरीरोंको साथ लिये भिन्न-भिन्न योनियोंमें फिरता है। जड़ होनेके कारण वायुमें यह विवेक नहीं है कि वह गन्धको ग्रहण न करे; परंतु ईश्वर बननेकी योग्यता रखनेवाले जीवात्माको तो यह विवेक और सामर्थ्य मिला हुआ है कि वह जब चाहे, तब जड़ता (शरीर)से सम्बन्ध मिटा सकता है। भगवान्‌ने मनुष्यमात्रको यह स्वतन्त्रता दे रक्खी है कि वह चाहे जिससे सम्बन्ध जोड़ सकता है और चाहे जिससे सम्बन्ध तोड़ सकता है। अपनी भूल मिटानेके लिये केवल अपनी मान्यता परिवर्तन करनेकी आवश्यकता है कि प्रकृतिके अंश इन स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंसे मेरा (जीवात्माका) कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर जन्म-मरणके बन्धनसे सहज ही मुक्ति है।

भगवान्‌ने प्रस्तुत श्लोकके चतुर्थ पादमें तीन शब्द दृष्टान्तके रूपमें दिये हैं—(१) वायु, (२) गन्ध और (३) आशय। 'आशय' कहते हैं स्थानको; जैसे जलाशय (जल×आशय) अर्थात् जलका स्थान। यहाँपर आशय नाम स्थूलशरीरका है। जिस प्रकार गन्धके स्थान (आशय) इनके फोहेसे वायु गन्ध ले जाती है और फोहा पीछे पड़ा रहता है। उसी प्रकार वायुरूप जीवात्मा गन्धरूप सूक्ष्म और कारण-शरीरोंको साथ लेकर जाता है, तब गन्धका आशय-रूप स्थूलशरीर पीछे रह जाता है।

ईश्वरः अपि—ईश्वर (जीवात्मा) भी।

गीतामें तीन ईश्वरोंका वर्णन आता है—(१) साक्षात् परमात्मा, (२) जीवात्मा और (३) आसुरी-सम्पत्तिसे युक्त पुरुष।*

* (१) 'भूतानाम् ईश्वरः' (४ । ६), (२) 'यच्चाप्युत्क्रामति ईश्वरः' (१५ । ८), (३) 'ईश्वरः अहम्' (१६ । १४)।

यहाँ 'ईश्वरः' पद जीवात्माका वाचक है। उस जीवात्मासे तीन प्रधान भूलें हो रही हैं—

(१) मन, बुद्धि, शरीरादि जड़ पदार्थोंका अपनेको स्वामी मानता है, पर वास्तवमें बन जाता है—स्वयं उनका दास।

(२) अपनेको उन जड़ पदार्थोंका स्वामी मान लेनेके कारण अपने वास्तविक स्वामी 'परमात्मा' को भूल जाता है।

(३) जड़ पदार्थोंसे माने हुए सम्बन्धको त्यागनेमें स्वाधीन होनेपर भी उन्हें नहीं त्यागता।

परमात्माने जीवात्माको शरीरादि सामग्रीका सदुपयोग करनेकी स्वाधीनता दी है। उनका सदुपयोग करके अपना उद्धार करनेके लिये ये वस्तुएँ दी हैं, उनका स्वामी बननेके लिये नहीं। परंतु जीवसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह उस सामग्रीका सदुपयोग नहीं करता; अपितु अपनेको उसका स्वामी मान लेता है, पर वास्तवमें उनका दास हो जाता है।

जीवात्मा जड़ पदार्थोंसे माने हुए सम्बन्धको तभी त्याग सकता है, जब उसे यह ज्ञात हो जाय कि इनका स्वामी बननेसे मैं सर्वथा पराधीन हो गया हूँ और मेरा पतन हो गया है। यह जिनका स्वामी बनता है, उनकी दासता इसमें अनिवार्य-रूपसे आ ही जाती है। उसे केवल भ्रम होता है कि मैं इनका स्वामी हूँ। जड़ पदार्थोंका स्वामी बन जानेसे एक तो उसे उन पदार्थोंकी 'कमी'का अनुभव होता है और दूसरा वह अपनेको 'अनाथ' मान लेता है।

जिसे स्वामित्व या अधिकार प्रिय लगता है, वह परमात्माको प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि जो किसी व्यक्ति, वस्तु, पद आदिका स्वामी बनता है,वह अपने स्वामीको भूल जाता है—यह नियम है। उदाहरणार्थ, जिस समय बालक केवल माँको अपना मानकर उसे ही चाहता है, उस समय वह माँके बिना रह ही नहीं सकता। किंतु वही बालक जब बड़ा होकर गृहस्थ बन जाता है और अपनेको स्त्री, पुत्र आदिका स्वामी मानने लगता है, तब उसी माँका पास रहना उसे सुहाता नहीं। यह स्वामी बननेका ही परिणाम है। इसी प्रकार यह जीवात्मा भी शरीरादि जड पदार्थोंका स्वामी (ईश्वर) बनकर अपने वास्तविक स्वामी परमात्माको भूल जाता है—उनसे विमुख हो जाता है। जबतक यह भूल या विमुखता रहेगी, तबतक जीवात्मा दुःख पाता ही रहेगा।

'ईश्वर.' पदके साथ 'अपि' पद एक विशेष अर्थ रखता है कि यह ईश्वर बना जीवात्मा वायुके समान असमर्थ, जड और पराधीन नहीं है। इस जीवात्मामें ऐसा सामर्थ्य और विवेक है कि यह जब चाहे, तब माने हुए सम्बन्धको छोड सकता है और परमात्माके साथ नित्य सम्बन्धका अनुभव कर सकता है। परतु संयोगजन्य सुखकी लोलुपताके कारण वह संसारसे माने हुए सम्बन्धको छोड़ता नहीं और छोड़ना चाहता भी नहीं। जड़ता (शरीरादि)से तादात्म्य छूटनेपर जीवात्मा (गन्धकी तरह) शरीरोंको साथ ले जा सकता ही नहीं।

यत् (शरीरम्) उत्क्रामति—जिस शरीरका त्याग करता है।

जीवको दो शक्तियाँ प्राप्त हैं—(१) प्राणशक्ति, जिससे श्वासोंका आवागमन होता है और (२) इच्छाशक्ति, जिससे भोगोंको पानेकी इच्छा करते हैं। प्राणशक्ति प्रतिक्षण (श्वासोच्छ्वासके द्वारा) क्षीण होती रहती है। प्राणशक्तिका समाप्त होना ही मृत्यु कहलाता है। जड़का संग करनेसे कुछ करने और पानेकी इच्छा बनी रहती है। प्राणशक्तिके रहते हुए इच्छाशक्ति (अर्थात् कुछ करने और पानेकी इच्छा) मिट जाय, तो मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। प्राणशक्ति नष्ट हो जाय और इच्छाएँ बनी रहें, तो दूसरा जन्म लेना ही पड़ता है। नया शरीर मिलनेपर इच्छाशक्ति तो वही (पूर्वजन्मकी) रहती है, प्राणशक्ति नयी मिल जाती है।

प्राणशक्तिका व्यय इच्छाओंको मिटानेमें होना चाहिये। निःस्वार्थभावसे सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहनेसे इच्छाएँ सुगमतापूर्वक मिट जाती हैं।

(तस्मात्) एतानि गृहीत्वा—उस (शरीर)से इन (मनसहित इन्द्रियों) को ग्रहण करके।

यहाँ 'गृहीत्वा' पदका तात्पर्य है—जो अपने नहीं हैं, उनसे राग, ममता, प्रियता करना। जिन मन, इन्द्रियोंके साथ अपनापन करके जीवात्मा उन्हें साथ लिये फिरता है, वे मन, इन्द्रियाँ कभी नहीं कहतीं कि हम तुम्हारी हैं और तुम हमारे हो। इनपर जीवात्माका शासन भी चलता नहीं। जैसा चाहे वैसे रख सकता नहीं, परिवर्तन कर सकता नहीं; फिर भी इनके साथ अपनापन रखता है, जो कि भूल ही है। वास्तवमें यह अपनापनका (राग, ममतायुक्त) सम्बन्ध ही बाँधनेवाला होता है।

वस्तु हमें प्राप्त हो या न हो, बढ़िया हो या घटिया हो, हमारे काममें आये या न आये, दूर हो या पास हो, यदि उस वस्तुको हम अपना मानते हैं तो उससे हमारा सम्बन्ध बना हुआ ही है।

अपनी ओरसे छोड़े बिना शरीरादिमें ममताका सम्बन्ध मरनेपर भी नहीं छूटता। इसीलिये मृत शरीरकी हड्डियोंको गङ्गाजीमें डालनेसे उस जीवकी आगे गति होती है। इस माने हुए सम्बन्धको छोड़नेमें हम सर्वथा स्वतन्त्र तथा सबल हैं। यदि शरीरके रहते हुए ही हम उससे अपनापन हटा दें, तो जीते ही मुक्त (जीवन्मुक्त या विदेह) हो जायँ।

जो अपना नहीं है, उसे अपना मानना और जो अपना है, उसे अपना न मानना—यह बहुत बड़ा दोष है, जिसके कारण ही पारमार्थिक मार्गमें उन्नति नहीं होती।

इस श्लोकमें आया 'एतानि' पद सातवें श्लोकके 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' (अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन)का वाचक है। यहाँ 'एतानि'पदको सत्रह तत्त्वोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीर एवं कारणशरीर (स्वभाव)का बोधक मानना चाहिये।

च यत् शरीरम् अवाप्नोति (तत्) संयाति—फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है।

गीताके दूसरे अध्यायके बाईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता

है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'* यही भाव उपर्युक्त पदोंका भी समझना चाहिये।

वास्तवमें शुद्ध चेतन (आत्मा)का किसी शरीरको प्राप्त करना और उसे त्यागकर दूसरे शरीरमें जाना हो नहीं सकता; क्योंकि आत्मा अचल और समानरूपसे सर्वत्र व्याप्त है।† शरीरोंका ग्रहण और त्याग परिच्छिन्न (एकदेशीय) तत्त्वके द्वारा ही होना सम्भव है, जबकि आत्मा कभी किसी भी देश-कालादिमें परिच्छिन्न नहीं हो सकता। परंतु जब यह आत्मा प्रकृतिके कार्य शरीरसे तादात्म्य कर लेता है अर्थात् प्रकृतिस्थ हो जाता है, तब (स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंमें अपनेको तथा अपनेमें तीनों शरीरोंको धारण करने अर्थात् उनमें अपनापन करनेसे) वह प्रकृतिके कार्य शरीरोंका ग्रहण-त्याग करने लगता है तात्पर्य यह है कि शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान लेनेके कारण आत्मा सूक्ष्म शरीरके आने-जानेको अपना आना-जाना मान लेता है। प्रकृतिके कार्य शरीरसे तादात्म्य मिट जानेपर अर्थात् जब इन (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) शरीरोंसे आत्माका माना हुआ सम्बन्ध नहीं रहता, तब ये शरीर अपने कारण-भूत समष्टि तत्त्वोंमें लीन हो जाते हैं। सारांश यह है कि पुनर्जन्मका मूल कारण जीवका शरीरसे माना हुआ तादात्म्य ही है।

---

* वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(२ । २२)

† नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ (२ । २४)
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। (२ । १७)

विशेष बात

जब हम कोई (शुभ या अशुभ) कर्म करते हैं, तब दो बातें होती हैं—कर्म होना और स्वभाव बनना। कर्मका फल-अंश (सञ्चित-रूपसे) अदृष्ट रहता है, जिससे प्रारब्ध बनता है। कर्मका चिन्तन-अंश दृष्ट रहता है, जो स्वभाव कहलाता है।

दूसरे जन्मकी प्राप्ति अन्तकालमें हुए चिन्तनके अनुसार होती है। जिसका जैसा स्वभाव होता है, अन्तकालमें उसे प्रायः वैसा ही चिन्तन होता है। जैसे, जिसका कुत्ते पालनेका स्वभाव होता है, अन्तकालमें उसे कुत्तेका चिन्तन या संकल्प * होता है। वह संकल्प आकाशवाणी केन्द्रके द्वारा प्रसारित (विशेष शक्तियुक्त) ध्वनिकी तरह सब जगह फैल जाता है। जैसे आकाशवाणी केन्द्रके द्वारा प्रसारित ध्वनि रेडियोके द्वारा (किसी विशेष नंबरपर) पकड़में आ जाती है, वैसे ही अन्तकालीन कुत्तेका संकल्प सम्बन्धित कुत्ते (जिसके साथ कोई ऋणानुबन्ध अथवा कर्मों आदिका कोई-न-कोई सम्बन्ध है।) के द्वारा पकड़में आ जाता है। फिर जीव सूक्ष्म और कारणशरीरको साथ लिये अन्न, जल, वायु (श्वास) आदिके द्वारा उस कुत्तेमें प्रविष्ट हो जाता है। फिर कुतियामें प्रविष्ट होकर गर्भ बन जाता है और निश्चित समयपर कुत्तेके शरीरसे जन्म लेता है।

* राग-द्वेषपूर्वक सांसारिक विषयोंका चिन्तन 'संकल्प' कहलाता है, जैसे—कैमरेके शीशेपर पड़ी आकृति, जो भीतर (फिल्मपर) अंकित हो जाती है। राग-द्वेषरहित जो चिन्तन होता है, उसे 'स्फुरणा' कहते हैं,—जैसे दर्पणपर पड़ी आकृति, जो उसपर अंकित नहीं होती है।

अन्तकालीन संकल्प और उसके अनुसार गतिको एक दृष्टान्तके द्वारा समझा जा सकता है। एक मनुष्य फोटो खिचवाने गया। जब वह फोटो खिचवाने यथास्थान बैठा, तब फोटोग्राफरने उससे कहा कि फोटो खिचते समय हिलना मत और मुस्कराते रहना। जैसे ही फोटो खिचनेका समय आया, उस मनुष्यकी नाकपर एक मक्खी बैठ गयी। हाथसे मक्खीको भगाना ठीक न समझकर (कि कहीं फोटोमें वैसा न आ जाय) उसने अपनी नाकको सिकोड़ा। ठीक इसी समय उसकी फोटो खिच गयी। उस मनुष्यने फोटोग्राफरसे फोटो माँगी, तो उसने कहा कि अभी फोटोको प्रत्यक्ष-रूपमें आनेमें कुछ समय लगेगा; आप अमुक दिन फोटो ले जाना। वह दिन आनेपर फोटोग्राफरने उसे फोटो दिखायी, तो उसमें (अपनी नाक सिकोड़े हुए) भद्दे रूपको देखकर वह मनुष्य बहुत नाराज हुआ कि तुमने फोटो बिगाड़ दी! फोटोग्राफरने कहा कि इसमें मेरी क्या गलती? फोटो खिचते समय आपने जैसी आकृति बनायी थी, वैसी ही फोटोमें आ गयी; अब तो फोटोमें परिवर्तन नहीं हो सकता। इसी तरह अन्तकालमें हमारा जैसा संकल्प होगा, वैसी ही योनि हमें प्राप्त होगी। *

---

* यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

फोटो खिंचनेका समय तो पहलेसे ज्ञात रहता है, पर मृत्यु कब आ जाय—इसका हमें कुछ पता नहीं रहता। इसलिये अपने स्वभाव, चिन्तनको निर्मल बनाये रखते हुए हर समय सावधान रहना चाहिये और भगवान्‌का नित्य-निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिये *॥ ८॥

सम्बन्ध—

अब भगवान् सातवें श्लोकमें आये हुए 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' पदको स्पष्ट करते हैं—

श्लोक—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

भावार्थ—

भगवान् कहते हैं कि यह जीवात्मा मेरा अंश होनेपर भी मुझे भूलकर प्रकृतिके अंश श्रोत्र, नेत्र, त्वचा, रसना और घ्राण—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मनका आश्रय लेकर विषयोंका भोग करता है।

---

*अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ (गीता ८। ५, ७)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

अन्वय—

अयम्, श्रोत्रम्, चक्षुः, च, स्पर्शनम्, च, रसनम्, घ्राणम्, च, मनः, अधिष्ठाय, एव, विषयान्, उपसेवते ॥ ९ ॥

पद-व्याख्या—

अयम्—यह (जीवात्मा)।

श्रोत्रम्—श्रवणेन्द्रिय अर्थात् कानोंमें सुननेकी शक्ति* ।

आजतक हमने अनेकों अनुकूल (स्तुति, मान, बड़ाई, आशीर्वाद, मधुर गान और वाद्य आदि) और प्रतिकूल (निन्दा, अपमान, शाप, गाली आदि) शब्द सुने हैं; पर उनसे 'स्वयं'में क्या अन्तर आया ?

एक मनुष्यको पौत्रके जन्म तथा पुत्रके मरणका समाचार एक साथ मिला। दोनों समाचार सुननेसे एकके 'जन्म' तथा दूसरेके 'मरण' का जो ज्ञान हुआ, उस 'ज्ञान'में कोई अन्तर नहीं आया। जब ज्ञानमें भी कोई अन्तर नहीं आया, तो फिर 'ज्ञाता' में अन्तर आयेगा ही कैसे ! अतः जन्म और मरणका समाचार सुननेसे अन्तःकरणमें

---

* श्रवणेन्द्रियसे दो प्रकारका ज्ञान होता है—(१) अपरोक्ष शब्दका ज्ञान और (२) परोक्ष विषयका ज्ञान। इसलिये श्रवणकी बहुत महिमा है। ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग—दोनों ही मार्गोंमें 'श्रवण'का मुख्य स्थान है। यद्यपि नेत्रोंसे शास्त्रोंका अवलोकन, अध्ययन करनेसे भी परोक्ष विषयका ज्ञान होता है, परंतु वास्तवमें वह भी (शब्दका ही लिखित रूप होनेसे) प्रकारान्तरसे शब्दकी शक्ति ही है। शास्त्रज्ञान भी जैसा (गुरुमुखसे) श्रवणसे होता है, वैसा पढ़नेसे नहीं। विद्याध्ययनमें भी पहले सुननेसे ही बोध होता है। शब्दमें अचिन्त्य शक्ति है, जिसे श्रवणेन्द्रिय ही ग्रहण कर सकती है, अन्य इन्द्रियाँ नहीं।

(माने हुए सम्बन्धके कारण) जो असर होता है, उसकी तरफ दृष्टि न रखकर इस 'ज्ञान' पर ही दृष्टि रखनी चाहिये। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये।

चक्षुः—नेत्रेन्द्रिय अर्थात् नेत्रोंमें देखनेकी शक्ति।

आजतक हमने अनेकों सुन्दर, असुन्दर, मनोहर, भयानक रूप या दृश्य देखे हैं, पर उनसे अपने 'स्वरूप' में क्या अन्तर आया!

च—और।

स्पर्शनम्— स्पर्शेन्द्रिय अर्थात् त्वचामें स्पर्श करनेकी शक्ति।

जीवनमें हमें अनेकों कोमल, कठोर, चिपचिपा, शीत, उष्ण आदि स्पर्श प्राप्त हुए हैं, पर उनसे 'स्वय' की स्थितिमें क्या अन्तर आया?

च—तथा।

रसनम्—रसनेन्द्रिय अर्थात् जीभमें स्वाद लेनेकी शक्ति।

कड़ुवा, तीखा, मीठा, कसैला, खट्टा और नमकीन—ये छः प्रकारके भोजनके रस हैं। आजतक हमने विभिन्न प्रकारके रसयुक्त भोजन किये हैं; पर विचार करना चाहिये कि उनसे 'स्वयं'को क्या प्राप्त हुआ!

घ्राणम्—घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नासिकामें सूँघनेकी शक्ति।

जीवनमें हमारी नासिकाने भाँति-भाँतिकी सुगन्ध और दुर्गन्ध ग्रहण की है; पर उनसे 'स्वयं' में क्या अन्तर आया!

च—और

मनः अधिष्ठाय एव—मनको अधिष्ठित करके ही।

मनमें अनेक प्रकारके (अच्छे-बुरे) संकल्प-विकल्प* होते रहते हैं। इनसे 'स्वयं' की स्थितिमें कोई अन्तर नहीं आता; क्योंकि 'स्वयं' (चेतन-तत्त्व-आत्मा) जड शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिसे अत्यन्त परे और उनका आश्रय तथा प्रकाशक है। संकल्प-विकल्प आते-जाते हैं और 'स्वयं' सदा ज्यों-का-त्यों रहता है।

मनका संयोग होनेपर ही सुनने, देखने, स्पर्श करने, स्वाद लेने तथा सूँघनेका ज्ञान होता है। जीवात्माको मनके बिना इन्द्रियोंसे सुख-दुःख नहीं मिल सकता। इसीलिये यहाँ मनको अधिष्ठित करनेकी बात कही गयी है। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा मनको अधिष्ठित करके इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता है।

जाननेयोग्य बात

श्रोत्रका वाक् (वाणी)से, नेत्रका पैरसे, त्वचाका हाथसे, रसनाका उपस्थसे और घ्राणका गुदासे (अर्थात् पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंका पाँचों कर्मेन्द्रियोंसे) घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे, जो (जन्मसे) बहरा होता है, वह गूँगा भी होता है। पैरके तलवेमें तेल-मर्दन करनेसे नेत्रोंपर तेलका प्रभाव होता है। त्वचाके होनेसे ही हाथ काम करते हैं। रसनेन्द्रियके वशमें होनेसे उपस्थेन्द्रिय भी वशमें हो जाती है।

---

* मन निरन्तर कुछ-न-कुछ सोचता रहता है, जिसे संकल्प-विकल्प, मनोरथ या मनोराज्य कहते हैं। निद्राके समय यही 'स्वप्न' होकर दीखने लगता है। मनपर बुद्धिका आवरण (प्रभाव) रहनेके कारण हम मनमें आयी हुई प्रत्येक बातको प्रकट नहीं करते। परंतु बुद्धिका आवरण हटनेपर मनमें आयी हुई प्रत्येक बातको कहना या तदनुसार आचरण करना 'पागलपन' कहलाता है। इस प्रकार मनोराज्य, स्वप्न तथा पागलपन—ये तीनों एक ही हैं।

घ्राणसे गन्धका ग्रहण तथा उससे सम्बन्धित गुदासे गन्धका त्याग होता है ।

पञ्चमहाभूतोंमें एक-एक महाभूतके सत्त्वगुण-अंशसे ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुण अंशसे कर्मेन्द्रियाँ और तमोगुण-अंशसे शब्दादि पाँचों विषय बने हैं ।

पञ्चमहाभूत	सत्त्वगुण अंश	रजोगुण अंश	तमोगुण अंश
आकाश	श्रोत्र	वाक्	शब्द
वायु	त्वचा	हस्त	स्पर्श
अग्नि	नेत्र	पाद	रूप
जल	रसना	उपस्थ	रस
पृथ्वी	घ्राण	गुदा	गन्ध

पाँचों महाभूतोंके मिले हुए सत्त्वगुण-अंशसे मन और बुद्धि, रजोगुण अंशसे प्राण और तमोगुण-अंशसे शरीर बना है ।

विषयान् उपसेवते—विषयोंका सेवन करता है ।

जैसे व्यापारी किसी कारणवश एक स्थानसे दूकान उठाकर दूसरे स्थानपर दूकान लगाता है, वैसे ही जीवात्मा एक शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरमें जाता है और जैसे पहले शरीरमें विषयोंका सेवन करता था, वैसे ही दूसरे शरीरमें जानेपर (वही स्वभाव होनेसे) विषयोंका सेवन करने लगता है । इस प्रकार जीवात्मा बारबार विषयोंमें आसक्तिके कारण ऊँच नीच योनियोंमें भटकता रहता है ।

भगवान्‌ने हमें यह मनुष्य-शरीर अपना उद्धार करनेके लिये दिया है, सुख-दुःख भोगनेके लिये नहीं। जैसे, ब्राह्मणको गाय दान करनेपर हम उसे चारा-पानी तो दे सकते हैं, पर दी हुई गायका दूध पीनेका हमें अधिकार नहीं है; वैसे ही मिले हुए शरीरका सदुपयोग करना हमारा कर्तव्य है, पर इसे अपना मानकर सुख भोगनेका हमें अधिकार नहीं है।

विशेष बात

विषय-सेवन करनेसे परिणामतः विषयोंमें राग-आसक्ति ही बढ़ती है, जो कि पुनर्जन्म तथा सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। विषयोंमें वस्तुतः सुख है भी नहीं। केवल आरम्भमें भ्रमवश सुख प्रतीत होता है।* यदि विषयोंमें सुख होता तो जिनके पास प्रचुर भोग-सामग्री है, ऐसे बड़े-बड़े धनी, भोगी और पदाधिकारी तो सुखी

* ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
अद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे निःसन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
(गीता १८। ३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले—भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है; इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

हो ही जाते, पर विचारपूर्वक देखनेपर पता चलता है कि वे भी दुःखी, अशान्त ही हैं। कारण यह है कि भोग-पदार्थोंमें सुख है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। सुख लेनेकी इच्छासे जो-जो भोग भोगे गये, उन-उन भोगोसे धैर्य नष्ट हुआ, ध्यान नष्ट हुआ, रोग उत्पन्न हुए, चिन्ता हुई, व्यग्रता हुई, पश्चात्ताप हुआ, बेइज्जती हुई, बल गया, धन गया, शान्ति गयी एव प्रायः दुःख-शोक-उद्वेग आये—ऐसा यह परिणाम विचारशील व्यक्तिके प्रत्यक्ष देखनेमें आता है।*

जिस प्रकार स्वप्नमें जल पीनेसे प्यास नहीं मिटती, उसी प्रकार भोग-पदार्थोंसे न तो शान्ति मिलती है और न जलन ही मिटती है। मनुष्य सोचता है कि इतना धन हो जाय, इतना संग्रह हो जाय, इतनी (अमुक-अमुक) वस्तुएँ प्राप्त हो जायँ तो शान्ति मिल जायगी; किंतु उतना हो जानेपर भी शान्ति नहीं मिलती, उल्टे वस्तुओंके मिलनेसे उनकी लालसा और बढ जाती है।† धन आदि भोग-

---

* भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

'हमने भोगोंको नहीं भोगा, भोगोंने ही हमे भोग लिया, हमने तप नहीं किया, स्वयं ही तप्त हो गये, काल व्यतीत नहीं हुआ, हम ही व्यतीत हो गये, तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, हम ही जीर्ण हो गये।'

† न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
(मनु० २।९४)

'भोग पदार्थोंके उपभोगसे कामना कभी शान्त नहीं होती, अपितु जैसे घीकी आहुति डालनेपर आग और भड़क उठती है, वैसे ही भोग वासना भी भोगोंके भोगनेसे प्रबल होती जाती है।'

पदार्थोंके मिलनेपर भी 'और मिल जाय,' 'और मिल जाय'—यह क्रम चलता ही रहता है। किंतु संसारमें जितना धन-धान्य है, जितनी सुन्दर स्त्रियाँ हैं, जितनी उत्तम वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब एक साथ किसी एक व्यक्तिको मिल भी जायँ, तब भी उनसे उसे तृप्ति नहीं हो सकती *। इसका कारण यह है कि जीव अविनाशी परमात्माका अंश तथा चेतन है और भोग-पदार्थ नाशवान् प्रकृतिके अंश तथा जड़ हैं। चेतनकी भूख जड़ पदार्थोंके द्वारा कैसे मिट सकती है? भूख है पेटमें और हलवा बाँधा जाय पीठपर, तो भूख कैसे मिट सकती है? प्यास लगनेपर बढ़िया-से-बढ़िया गरमागरम हलवा खानेपर भी प्यास नहीं मिट सकती। इसी प्रकार जीवको प्यास तो है चिन्मय परमात्माकी, पर वह उस प्यासको मिटाना चाहता है जड़ पदार्थोंके द्वारा, जिससे कभी तृप्ति होनेकी नहीं। तृप्ति तो दूर रही, ज्यों-ज्यों वह जड़ पदार्थोंको अपनाता है, त्यों-त्यों उसकी भूख भी बढ़ती ही जाती है। यह उसकी कितनी बड़ी भूल है।

साधकको चाहिये कि वह आज ही यह दृढ़ विचार (निश्चय) कर ले कि मुझे भोगबुद्धिसे विषयोंका सेवन करना ही नहीं है। उसका यह पक्का निर्णय हो जाय कि सम्पूर्ण संसार मिलकर भी मुझे तृप्त नहीं कर सकता। विषय-सेवन न करनेका दृढ़ विचार होनेसे इन्द्रियाँ निर्विषय हो जाती हैं; और इन्द्रियोंके निर्विषय हो जानेसे मन निर्विकल्प हो जाता है। मनके निर्विकल्प हो जानेसे बुद्धि

---

* यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

स्वतः सम हो जाती है; और बुद्धिके सम हो जानेसे परमात्माकी प्राप्तिका स्वतः अनुभव हो जाता है;* क्योंकि परमात्मा तो सदा प्राप्त ही हैं। विषयोंमें प्रवृत्ति होनेके कारण ही उनकी प्राप्तिका अनुभव नहीं हो पाता।

सुखभोग और संग्रह—इन दोमें जो आसक्त हो जाते हैं, उनके लिये परमात्मप्राप्ति तो दूर रही, वे परमात्माकी तरफ चलनेका दृढ निश्चय भी नहीं कर पाते।†

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी श्रीरामचरितमानसके अन्तमें प्रार्थना करते हैं—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥
(मानस ७ । १३०)

---

* इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
(गीता ५ । १९)

'जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

† भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥
(गीता २ । ४४)

'भोगोंका वर्णन करनेवाली वाणीके द्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, जो भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषोंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती।'

'जैसे कामीको स्त्री (भोग) और लोभीको धन (संग्रह) प्रिय लगता है, वैसे ही रघुनाथका रूप और राम-नाम मुझे निरन्तर प्रिय लगे।' तात्पर्य यह है कि जैसे कामी स्त्रीके रूपमें आकृष्ट होता है, वैसे ही मैं रघुनाथके रूपमें निरन्तर आकृष्ट रहूँ और जैसे लोभी धनका संग्रह करता रहता है, वैसे ही मैं राम-नामका (जपके द्वारा) निरन्तर संग्रह करता रहूँ। संसारका भोग और संग्रह निरन्तर प्रिय नहीं लगता—यह नियम है, पर भगवान्‌का रूप और नाम निरन्तर प्रिय लगता है। संतोंने भी अपना अनुभव कहा है—

चाख चाख सब छाड़िया माया-रस खारा हो।
नाम-सुधारस पीजिये छिन बारंबारा हो॥
लगे मोहि राम पियारा हो॥

सम्बन्ध—

पिछले तीन श्लोकोंमें जीवात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया। उस विषयका उपसंहार करनेके लिये इस श्लोकमें 'जीवात्माके स्वरूपको कौन जानता है और कौन नहीं जानता'—इसका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥१०॥

भावार्थ—

शरीरका त्याग करते समय, अन्य शरीरको प्राप्त करके उसमें स्थित होते समय अथवा भोगोंको भोगते समय (स्वयं निर्लिप्त होते हुए) भी गुणोंसे सम्बन्ध माननेके कारण जीवात्मा

मरने, जन्म लेने और भोग भोगनेवाला कहलाता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति स्वयं तो वही रहता है, परंतु कार्य, परिस्थिति, देश, काल आदि बदलते रहते हैं, इसी प्रकार मृत्यु, जन्म, भोग आदि भिन्न भिन्न होनेपर भी 'स्वयं' (आत्मा) सबमें एक ही रहता है। इस रहस्यको विवेकी पुरुष ही ज्ञानरूप नेत्रोंसे देखते हैं। सांसारिक भोग और संग्रहमें लगे हुए मोहग्रस्त पुरुष इस रहस्यको नहीं देख पाते, क्योंकि भोगोंसे परे उनकी बुद्धि जाती ही नहीं।

अन्वय—

उत्क्रामन्तम्, वा, स्थितम्, वा, भुञ्जानम्, अपि, गुणान्वितम्, विमूढाः, न, अनुपश्यन्ति, ज्ञानचक्षुषः, पश्यन्ति ॥ १० ॥

पद-व्याख्या—

उत्क्रामन्तम्—शरीरको त्यागकर जाते हुए।

स्थूल शरीरको छोड़ते समय जीव सूक्ष्म एवं कारण शरीरको साथ लेकर प्रस्थान करता है। इसी क्रियाको यहाँ 'उत्क्रामन्तम्' पदसे कहा है। जबतक हृदयमें धड़कन रहती है, तबतक जीव-का प्रस्थान नहीं माना जाता। हृदयकी धड़कन बंद हो जानेके बाद भी जीव कुछ समयतक रह सकता है। वास्तवमें अचल होने-से शुद्ध चेतन-तत्त्वका आवागमन नहीं होता। प्राणोंका ही आवागमन होता है। परंतु सूक्ष्म और कारण शरीरसे सम्बन्ध रहनेके कारण जीवका आवागमन कहा जाता है।

आठवें श्लोकमें ईश्वर बने जीवात्माके विषयमें आये 'उत्क्रामति' पदको यहाँ 'उत्क्रामन्तम्' नामसे कहा गया है।

वा स्थितम्—अथवा स्थित हुए अर्थात् दूसरे शरीरको प्राप्त हुए।

जिस प्रकार कैमरेपर वस्तुका जैसा प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसका वैसा ही चित्र अंकित हो जाता है। इसी प्रकार मृत्युके समय अन्तःकरणमें जिस भावका चिन्तन होता है, उसी आकारका सूक्ष्म शरीर बन जाता है। जैसे कैमरेपर पड़े प्रतिबिम्बके अनुसार चित्रके तैयार होनेमें समय लगता है, वैसे ही अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार भावी स्थूलशरीरके बननेमें (शरीरके अनुसार कम या अधिक) समय लगता है।

आठवें श्लोकमें जिसका 'यद्वाप्नोति' पदसे वर्णन हुआ है, उसीको यहाँ 'स्थितम्' पदसे कहा गया है।

वा भुञ्जानम् अपि—अथवा विषयोंको भोगते हुए भी।

मनुष्य जब विषयोंको भोगता है, तब अपनेको बड़ा सावधान मानता है और विषय-सेवनमें सावधान रहता भी है। विषयी प्राणी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन एक-एक विषयको अच्छी तरह जानता है। अपनी जानकारीसे एक-एक विषयको भी बड़ी स्पष्टतासे वर्णन करता है। इतनी सावधानी रखनेपर भी वह 'मूढ़' ही है; क्योंकि विषयोंके प्रति यह सावधानी किसी कामकी नहीं, अपितु मरनेपर नरकों और नीच योनियोंमें ले जानेवाली है।

परमात्मा, जीवात्मा और संसार—इन तीनोंके विषयमें शास्त्रों और दार्शनिकोंके अनेक मतभेद हैं; परंतु जीवात्मा संसारके

सम्बन्धसे महान् दुःख पाता है और परमात्माके सम्बन्धसे महान् सुख पाता है—इसमें सभी शास्त्र और दार्शनिक एकमत हैं।

संसार एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता—यह अकाट्य नियम है। संसार क्षणभङ्गुर है—यह बात कहते, सुनते और पढ़ते हुए भी मूढ़ मनुष्य संसारको स्थिर मानते हैं। भोग-सामग्री, भोक्ता एवं भोगरूप क्रिया—इन सबको स्थायी माने बिना भोग हो ही नहीं सकता। भोगी मनुष्यकी बुद्धि इतनी मूढ़ हो जाती है कि वह 'इन भोगोंसे बढ़कर कुछ है ही नहीं'—ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेता है।* इसीलिये ऐसे पुरुषोंके ज्ञाननेत्र बंद ही रहते हैं। वे मौतको निश्चित जानते हुए भी मदिरा मदान्धकी तरह भोग भोगनेके लिये (मरनेवालों-के लोकमें रहते हुए भी) सदा जीते रहनेकी इच्छा रखते हैं।

'अपि' पदका भाव है कि जीवात्मा जिस समय स्थूलशरीर-से निकलकर (सूक्ष्म एवं कारण शरीरसहित) जाता है, दूसरे शरीरको प्राप्त होता है तथा विषयोंका उपभोग करता है—इन तीनों ही अवस्थाओंमें गुणोंसे लिप्त दीखनेपर भी वास्तवमें वह स्वयं निर्लिप्त ही रहता है। वास्तविक स्वरूपमें न 'उत्क्रमण' है, न 'स्थिति' है और न 'भोक्तापन' ही है। इसीलिये गीतामें अन्यत्र कहा गया है कि

---

* चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥

(गीता १६ । ११)

'(आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य) मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओंका आश्रय लेनेवाले, विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर रहनेवाले और 'इतना ही सुख है' इस प्रकार माननेवाले होते हैं।'

शरीरमें रहते हुए भी जीवात्मा न कुछ करता है और न लिप्त होता है—

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ (१३ । ३१)

'देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ (गीता १३ । २२)

पिछले श्लोकके 'विषयानुपसेवते' पदको ही यहाँ 'भुञ्जानम्' पदसे कहा गया है ।

गुणान्वितम्—गुणोंसे युक्त हुएको ।

यहाँ 'गुणान्वितम्' पदका तात्पर्य यह है कि गुणोंसे सम्बन्ध मानते रहनेके कारण ही जीवात्मामें पूर्ववर्णित उत्क्रमण, स्थिति और भोग—ये तीनों क्रियाएँ प्रतीत होती हैं ।

वास्तवमें जीवात्माका गुणोंसे सम्बन्ध है ही नहीं । भूलसे ही इसने अपना सम्बन्ध गुणोंसे मान रक्खा है, जिसके कारण इसे बारंबार ऊँच-नीच योनियोंमें जाना पड़ता है ।* गुणोंसे सम्बन्ध जोड़े-जोड़े जीवात्मा संसारसे सुख चाहता है—यह उसकी भूल है । सुख लेनेके लिये शरीर भी अपना नहीं है, अन्यकी तो बात ही क्या है !

मनुष्य मानो किसी-न-किसी प्रकारसे संसारमें ही फँसना चाहता है । व्याख्यान देनेवाला व्यक्ति श्रोताओंको अपना मानने

---

* पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
(१३ । २१)

'प्रकृतिमें स्थित हुआ पुरुष ही प्रकृतिसे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही प्रकृतिस्थ पुरुषके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें हेतु है ।'

लग जाता है। किसीका भाई-बहन न हो, तो वह धर्मका भाई-बहन बना लेता है। किसीका पुत्र न हो, तो वह दूसरेका बालक गोद ले लेता है। इस प्रकार नये-नये सम्बन्ध जोड़कर मनुष्य चाहता तो सुख है, पर पाता दुःख ही है। इसी बातको भगवान् कह रहे हैं कि जीव स्वरूपसे गुणातीत होते हुए भी गुणों (अथवा देश, काल, व्यक्ति, वस्तु) से सम्बन्ध जोड़कर उनसे बँध जाता है।

इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें आये 'प्रकृतिस्थानि' पदको ही यहाँ 'गुणान्वितम्' पदसे कहा गया है।

मार्मिक बात

(१) जबतक मनुष्यका प्रकृति अथवा उसके कार्य—गुणोंसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध रहता है, तबतक गुणोंके अधीन होकर उसे कर्म करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है।* चेतन होकर गुणोंके अधीन रहना अर्थात् जड़की परतन्त्रता स्वीकार करना व्यभिचार-दोष है। प्रकृति अथवा गुणोंसे सर्वथा मुक्त होनेपर जो स्वाधीनताका अनुभव होता है, उसमें भी साधक जबतक (अहंकी गन्ध रहनेके कारण) रस लेता है, तबतक व्यभिचार-दोष रहता ही है। रस

---

* न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
(३।५)

'निःसंदेह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता, क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है।'

न लेनेसे जब यह व्यभिचार-दोष मिट जाता है, तब अपने प्रेमास्पद भगवान्के प्रति स्वतः प्रियता जाग्रत् होती है । फिर प्रेम-ही-प्रेम रह जाता है, जो उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता रहता है । इस प्रेमको प्राप्त करना ही जीवका अन्तिम लक्ष्य है । इस प्रेमकी प्राप्तिमें ही पूर्णता है । भगवान् भी भक्तको अपना अलौकिक प्रेम देकर ही प्रसन्न होते हैं और ऐसे प्रेमी भक्तको योगियोंमें परमश्रेष्ठ योगी मानते हैं ।*

गुणातीत होनेमें (स्वयंका विवेक सहायक होनेके कारण) तो अपने साधनका सम्बन्ध रहता है, पर गुणातीत होनेके बाद प्रेमकी प्राप्ति होनेमें भगवान्की कृपाका ही सम्बन्ध रहता है ।

(२) जब भजन-साधन, सत्सङ्ग, शुभकर्म करनेसे परमार्थ-विषयक नयी-नयी बातें समझमें आती हैं, ज्ञान बढ़ता है, शान्ति मिलती है, उस समय साधकको विशेष सावधान रहना चाहिये । तात्पर्य यह है कि जप, भजन, ध्यानादिके कारण ज्ञान बढ़ने, शान्ति मिलनेसे जो सात्त्विक सुख मिलता है, उससे साधकको अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये अर्थात् उस सुखका रस नहीं लेना चाहिये; क्योंकि सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाला सुख भी बाँधनेवाला

---

* योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(गीता ६ । ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है ।'

होता है* । इससे परमात्मप्राप्तिमें विलम्ब हो सकता है । अतः गुणातीत होनेके लिये साधकको किसी भी गुणसे सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये, चाहे वह सत्त्वगुण ही क्यों न हो ।

विमूढाः न अनुपश्यन्ति—अज्ञानीजन नहीं जानते ।

जो वास्तवमें अपने हैं, उन परमात्मासे विमुख होकर जड और नाशवान् संसारको अपना मानना ही विमूढता है । तात्पर्य यह है कि मनुष्यको संसार (प्रकृति) अथवा परमात्मासे शरीर, योग्यता, भोग-पदार्थ, धन आदि जो कुछ भी मिला है, उन्हें अपना मानकर उनसे (अपने लिये ही) सुख लेना या सुख चाहना विमूढता अथवा अपने ज्ञानका निरादर है ।

जैसे भिन्न-भिन्न प्रकारके कार्य करनेपर भी हम वही रहते हैं, वैसे ही गुणोंसे युक्त होकर शरीरको त्यागते, अन्य शरीरको प्राप्त होते तथा भोग भोगते समय भी 'स्वयं' (आत्मा) वही रहता है । तात्पर्य यह है कि परिवर्तन क्रियाओंमें होता है 'स्वयं' में नहीं । परंतु जो भिन्न-भिन्न क्रियाओंके साथ मिलकर 'स्वयं' को भी भिन्न-भिन्न देखने लगता है, ऐसे अज्ञानी (तत्त्वको न जाननेवाले)

---

* तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥
(गीता १४ । ६)

'हे निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है, वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे बँधता है ।'

मनुष्यके लिये यहाँ 'विमूढाः न अनुपश्यन्ति' पद दिये गये हैं।*

मूढ़ लोग भोग और संग्रहमें इतने आसक्त रहते हैं कि शरीरादि पदार्थ नित्य रहनेवाले नहीं हैं—यह बात सोचते ही नहीं। भोग भोगनेका क्या परिणाम होगा? उस ओर वे देखते ही नहीं। भगवान्ने गीताके सत्रहवें अध्यायमें जहाँ सात्त्विक, राजस और तामस पुरुषोंको प्रिय लगनेवाले आहारोंका वर्णन किया है,† वहाँ सात्त्विक आहारके परिणामका वर्णन पहले किया गया है। राजस आहारके परिणामका वर्णन अन्तमें किया गया है और तामस आहारके परिणामका वर्णन ही नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि सात्त्विक पुरुष कर्म करनेसे पहले उसके परिणाम (फल) पर दृष्टि

---

* प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
(गीता ३। २७)

'सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं, तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मानता है।'

† आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥
(गीता १७। ८—१०)

रखता है; राजस पुरुष पहले सहसा काम कर बैठता है, फिर परिणाम चाहे जैसा आये; परंतु तामस पुरुष तो परिणामकी तरफ दृष्टि ही नहीं डालता। इसी प्रकार यहाँ भी 'विमूढाः न अनुपश्यन्ति' पद देकर भगवान् मानो यह कहते हैं कि मोहग्रस्त पुरुष तामस ही हैं; क्योंकि मोह तमोगुणका कार्य है। वे विषयोंका सेवन करते समय परिणामपर विचार ही नहीं करते। केवल भोग भोगने और संग्रह करनेमें ही लगे रहते हैं। ऐसे पुरुषोंका ज्ञान तमोगुणसे ढका रहता है। इस कारण वे शरीर और आत्माके भेदको नहीं जान पाते *।

ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति—ज्ञानरूप चक्षुओंवाले (ज्ञानी) ही तत्त्वसे जानते हैं।

प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति—कोई भी स्थिर नहीं है अर्थात् दृश्यमात्र निरन्तर अदर्शनमें जा रहा है—ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होना ही ज्ञानरूप चक्षुओंसे देखना है। परिवर्तनकी ओर दृष्टि होनेसे स्वतः ही अपरिवर्तनशील तत्त्वमें स्थिति होती है; क्योंकि नित्य परिवर्तनशील पदार्थका अनुभव अपरिवर्तनशील तत्त्वको ही होता है।

---

* त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

(गीता ७। १३)

'गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सारा संसार मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशीको नहीं जानता।'

यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि ज्ञानी पुरुषका भी स्थूल-शरीरसे निकलकर अन्य शरीरको प्राप्त होना तथा भोग भोगना होता है। ज्ञानी पुरुषका स्थूलशरीर तो छूटेगा ही, पर दूसरे शरीर-को प्राप्त करना तथा रागबुद्धिसे विषयोंका सेवन करना उसके द्वारा नहीं होते। गीतामें दूसरे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; परंतु उस विषयमें ज्ञानी पुरुष मोहित अथवा विकारको प्राप्त नहीं होता*। कारण यह है कि वह ज्ञानी पुरुष ज्ञानरूप चक्षुओंके द्वारा यह देखता है कि जन्म-मरणादि सब क्रियाएँ या विकार परिवर्तनशील शरीरमें ही हैं, अपरिवर्तनशील आत्मा ('स्वयं') में नहीं। आत्मा इन विकारोंसे सब समय सर्वथा निर्लिप्त रहता है। शरीरको अपना मानने तथा उससे सुख लेनेकी आशा रखनेसे ही विमूढ़ पुरुषोंको तादात्म्यके कारण ये विकार आत्मामें होते प्रतीत होते हैं। विमूढ़ पुरुष आत्माको गुणोंसे युक्त देखते हैं और ज्ञाननेत्रोंवाले पुरुष आत्माको गुणोंसे रहित—वास्तविक रूपसे देखते हैं।†

---

* देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
(गीता २। १३)

† य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥
(गीता १३। २३)

'इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य तत्त्व-से जानता है, वह सब प्रकारसे कर्तव्यकर्म करता हुआ भी फिर नहीं जन्मता।'

मार्मिक बात

गीतामें तीन प्रकारके चक्षुओंका वर्णन है—(१) स्वचक्षु, (२) दिव्यचक्षु और (३) ज्ञानचक्षु *। 'स्वचक्षु' जड शरीरके होते हैं, जिनसे जड पदार्थ दीखते हैं; 'दिव्यचक्षु' भगवत्प्रदत्त होते है, जिनसे साकार भगवान् दीखते हैं और 'ज्ञानचक्षु' स्वयं (आत्मा) के होते हैं, जिनसे प्रकृति और परमात्मा (अथवा जड-चेतन, सत्-असत्) का भेद दीखता है।

ज्ञानचक्षुओंको प्राप्त करनेमें मनुष्यमात्र स्वतन्त्र है। परमात्माका अंश होनेके कारण जीवात्मामें इतनी सामर्थ्य है कि वह अपने विवेकसे (जड़ताको त्यागकर) तत्त्वका अनुभव कर सकता है।

भुक्ति (भोग) और मुक्ति—दोनों मनुष्यके उद्योग, पुरुषार्थके अधीन हैं, पर भक्ति भगवान्‌का आश्रय होनेसे ही प्राप्त होती है। भुक्ति या मुक्ति जीवके अपने लिये है और भक्ति

---

* न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥
(गीता ११। ८)

'परंतु मुझको तू इन स्वचक्षुओंके द्वारा देखनेमें निःसंदेह समर्थ नहीं है; इसीसे मैं तुझे दिव्यचक्षु देता हूँ, इससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख।'

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥
(गीता १३। ३४)

'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञानचक्षुओंके द्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

भगवान्‌को रस देनेके लिये है। जीव पहले किये गये भोगोंका फल भोगनेमें तो परतन्त्र है,* पर नये भोग भोगने अथवा न भोगनेमें स्वतन्त्र है। जडताको महत्त्व देनेके कारण जीव स्वयं बन्धनमें पड़ा है, अतः जड़ताको महत्त्व न देकर वही स्वयं (जीवात्मा) मुक्त भी हो सकता है ॥ १० ॥

सम्बन्ध—

अब भगवान् यह बतलाते हैं कि पिछले श्लोकमें वर्णित तत्त्वको जो पुरुष यत्न करनेपर जानते हैं, उनमें क्या विशेषता है; और जो यत्न करनेपर भी नहीं जानते, उनमें क्या कमी है।

श्लोक—

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

* त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥
(गीता ९ । २०-२१)

'तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले, पापरहित पुरुष मुझको (अर्थात् इन्द्रको) यज्ञोंके द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं; वे पुरुष अपने पुण्योंके फलरूप स्वर्गलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं।'

'वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार (स्वर्गके साधनरूप) तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मका आश्रय लेनेवाले और भोगोंकी कामनावाले पुरुष बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं।'

भावार्थ—

समता (निर्द्वन्द्वता) को प्राप्त करना हो जिनका एकमात्र उद्देश्य है, ऐसे पुरुष योगी कहलाते हैं। वे यत्न करके अपने-आपमें स्थित उस तत्त्वका अनुभव कर लेते हैं। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करना ही जीवका सबसे बड़ा यत्न है। तत्त्व तो स्वतः प्राप्त ही है। अतः नित्यप्राप्त तत्त्वकी प्राप्तिके लिये यत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। कारण यह है कि यत्नमात्र गुणोंके आश्रयसे होता है, परन्तु 'स्वयं' गुणोंसे सर्वथा अतीत है। यत्नकी आवश्यकता केवल असाधन (संसारका सम्बन्ध) मिटानेके लिये है।

समताको प्राप्त करना जिनका उद्देश्य नहीं है, और भोग एवं संग्रहमें ही जिनकी रुचि है, ऐसे पुरुष यत्न (अर्थात् शास्त्रोंका श्रवण-मनन, आत्मानात्मविषयक आलोचन आदि) करते हुए भी तत्त्वका अनुभव नहीं कर पाते।

यहाँ भगवान्‌ने पिछले श्लोकमें आये 'ज्ञानचक्षुषः' और 'विमूढाः' पदोंसे वर्णित पुरुषोंका ही विवेचन क्रमशः 'योगिनः' और 'अकृतात्मानः अचेतसः' पदोंसे किया है।

अन्वय—

योगिनः, आत्मनि, अवस्थितम्, एनम्, यतन्तः, पश्यन्ति, च, अकृतात्मानः, अचेतसः, यतन्तः, अपि, एनम्, न, पश्यन्ति ॥ ११ ॥

पद-व्याख्या—

योगिनः—योगीजन।

यहाँ 'योगिनः' पद उन साधकोंका वाचक है, जिनका एकमात्र उद्देश्य सिद्धि-असिद्धिमें सम रहनेका बन चुका है। पाँचवें अध्यायके

ग्यारहवें श्लोकमें भी 'योगिनः' पद इन्हीं साधकोंके लिये आया है।

जिसने तत्त्वको प्राप्त करनेका दृढ़ निश्चय कर लिया है, उस योगीमें निष्कामभाव स्वतः आता है; क्योंकि परमात्माको चाहनेवाला कभी भोगोंको नहीं चाह सकता और भोगोंको चाहनेवाला कभी योगी नहीं हो सकता। एकमात्र तत्त्वको प्राप्त करनेके दृढ़ निश्चयमें ऐसी शक्ति है कि तत्त्व-प्राप्तिके आवश्यक साधन स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। जैसे धन-प्राप्तिके उद्देश्यसे व्यापार-क्षेत्रमें आये लोगोंके मनमें धन-प्राप्तिके नये-नये साधन या युक्तियाँ स्वतः आती रहती हैं और उनके सारे यत्न उद्देश्यकी सिद्धिके लिये ही होते हैं। ऐसे ही तत्त्व-प्राप्तिका उद्देश्य हो जानेपर साधकको तत्त्व-प्राप्तिके साधन या युक्तियाँ स्वतः प्राप्त होती हैं और चाहे जैसी (बाधक या सहायक) परिस्थिति आये, प्रत्येक परिस्थितिमें साधकके सारे यत्न उद्देश्यकी सिद्धिके लिये ही होते हैं।

कर्ता अपनेमें जैसी 'अहंता' दृढ़तासे मान लेता है, उससे प्रायः वैसे ही कर्म होते हैं। अपनेको जिज्ञासु माननेपर जिज्ञासा-पूर्तिकी चेष्टा स्वतः होती है। मनुष्यका उद्देश्य केवल तत्त्व-प्राप्तिका होनेसे उसकी अहंताका परिवर्तन स्वतः हो जाता है (अर्थात् 'मैं भोगी हूँ,' 'मैं गृहस्थ हूँ', 'मैं ब्राह्मण हूँ' आदिकी जगह 'मैं साधक हूँ' यह भाव हो जाता है), जिससे तत्त्वकी ओर उसकी प्रगति स्वतः होने लगती है।

विशेष बात—

पातञ्जल-योगदर्शनमें चित्तवृत्तियोंके निरोधको योग माना गया है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (१ । २), परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता 'समता'को ही योग मानती है—'समत्वं योग उच्यते' (२ । ४८)। गीतोक्त योगमें चित्तवृत्तियोंका सम्बन्ध-विच्छेद है निरोध नहीं। चित्तवृत्तिनिरोधमें जडतासे सम्बन्ध बना रहता है, पर समतामें जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद होता है—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् (गीता ६ । २३)। 'जो दुःखरूप संसार (जडता) के संयोगसे रहित है, उसका नाम योग है।'

चित्तवृत्तिनिरोध-रूप योगमें व्युत्थान भी होता है, पर समत्वरूप योगमें व्युत्थान नहीं होता। चित्तवृत्तिनिरोध-रूप योगमें विषय तो निवृत्त हो जाते हैं पर उसमें राग रह सकता है। विषयोंका राग सर्वथा न मिटनेसे बुद्धिमान् पुरुषोंकी इन्द्रियाँ भी विषयोंमें बलात् प्रवृत्ति करा देती हैं।* इसके विपरीत गीतोक्त योगमें विषयोंका राग मूलसे ही नष्ट हो जाता है। यह गीतोक्त योगकी बहुत विलक्षण महिमा है।

परमात्मतत्त्वका अनुभव होना 'स्वरूप'की समता, राग-द्वेषका मिटना 'बुद्धि'की समता और वृत्तियोंका निरोध होना 'मन'की समता है।

---

* यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
(गीता २ । ६०)

गीतामें भगवान्‌ने मनकी अपेक्षा 'बुद्धि'की समतापर ही अधिक जोर दिया है। गीतामें 'बुद्धि'की समताको ही 'योग' कहा गया है—

'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥'
(२ । ४८)

'बुद्धि'की समतासे परमात्मतत्त्व अथवा 'स्वरूप'की समता प्राप्त होती है। 'मन'की समता इसमें केवल सहायक हो सकती है।

गीता ब्रह्मको 'सम' कहती है—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (५।१९)। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म और समता—दोनों तत्त्वतः एक ही हैं। जबतक 'बुद्धिकी समता'में स्थिति नहीं होती, तबतक योगकी प्राप्ति नहीं होती।* भगवान् समतामें स्थित पुरुषको 'परमयोगी' मानते हैं†।

गीतामें समताको सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है और यहाँतक कहा गया है कि समतामें स्थित पुरुषको युद्धरूप भयंकर कर्मका भी पाप नहीं लगता‡। समतामें स्थित पुरुष संसारबन्धनसे सुगमतापूर्वक मुक्त हो जाता है—

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥
(गीता ५ । ३)

---

* श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ (गीता २ । ५३)

† आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ (गीता ६ । ३२)

‡ सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ (गीता २ । ३८)

श्रीविष्णुपुराणमें भक्तराज प्रह्लादजी कहते हैं—**समत्वमाराधनमच्युतस्य**' (१ । १७ । ९१) 'समता ही भगवान्‌की आराधना है' । परंतु वर्तमानमें साधक भजन, ध्यान, जप, स्वाध्याय आदिको ही भगवान्‌की आराधना मानते हैं और समता (अर्थात् राग-द्वेष, हर्ष-शोकादिसे रहित होने) की तरफ विशेष ध्यान नहीं देते । कई पढ़े-लिखे लोग अज्ञानवश यहाँतक कह देते हैं कि राग-द्वेष तो अन्तःकरणके धर्म हैं, वे कभी मिटते नहीं । पर गीतामें भगवान् राग-द्वेषको महान् शत्रु बतलाते हुए उनके वशमें न होनेकी प्रेरणा देते हैं ।* राग-द्वेष अन्तःकरणके 'विकार' हैं, धर्म नहीं । धर्म वही होता है, जो सदा धर्मीके साथ रहता है । यदि राग-द्वेष अन्तःकरणके धर्म होते तो जबतक अन्तःकरण रहता, तबतक उसके साथ रहते । परंतु यह बात अनुभवमें सिद्ध नहीं होती । अन्तःकरणमें राग-द्वेष सदा नहीं रहते, अपितु आते और जाते हैं—यह सबका अनुभव है । अतः समस्त व्यावहारिक आचरणों एवं अनुष्ठानोंकी अपेक्षा बुद्धिकी समता (राग-द्वेषसे रहित होना) श्रेष्ठ है ।

आत्मनि अवस्थितम् एनम्—अपने-आपमें स्थित इस (तत्त्व) का (अनुभव करते हैं) ।

परमात्मतत्त्वसे देश-कालकी दूरी नहीं है । वह समानरूपसे सर्वत्र एवं सदैव विद्यमान है । वही सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा है—'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।' (गीता १० । २०) । इसलिये योगीजन अपने-आपमें ही इस तत्त्वका

---

* इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ (गीता ३ । ३४)

अनुभव कर लेते हैं। यही बात भगवान्‌ने चौथे अध्यायके अड़तीसवें श्लोकमें भी कही है कि समतामें स्थित कर्मयोगी अपने-आपमें ही तत्त्वको प्राप्त कर लेता है—

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

(गीता ४। ३८)

सत्ता (अस्तित्व या 'है'-पन) दो प्रकारकी होती है— (१) विकारी और (२) स्वतःसिद्ध। जो सत्ता उत्पन्न होनेके बाद प्रतीत होती है, वह 'विकारी' सत्ता कहलाती है और जो सत्ता कभी उत्पन्न नहीं होती, अपितु सदैव (अनादिकालसे) ज्यों-की-त्यों रहती है, वह 'स्वतःसिद्ध' सत्ता कहलाती है। इस दृष्टिसे संसार एवं शरीरकी सत्ता 'विकारी' और परमात्मा एवं आत्माकी सत्ता 'स्वतःसिद्ध' है। विकारी सत्ताको स्वतः सिद्ध सत्तामें मिला देना भूल है।* उत्पन्न हुई विकारी सत्तासे सम्बन्ध-विच्छेद करके अनुत्पन्न स्वतःसिद्ध सत्तामें स्थित होना ही **'आत्मनि अवस्थितम्'** पदोंका भाव है।

जीव (चेतन) ने भगवत्प्रदत्त विवेकका अनादर करके शरीर (जड़) को 'मैं' और 'मेरा' मान लिया अर्थात् शरीरसे अपना सम्बन्ध मान लिया। जीवके बन्धनका कारण यह माना हुआ सम्बन्ध ही है। यह सम्बन्ध इतना दृढ़ है कि मरनेपर भी छूटता

---

* विकारी सत्ता (शरीर) को स्वतःसिद्ध सत्तामें मिलानेका तात्पर्य है—अपनेको शरीर मानना (अहंता) और शरीरको अपना मानना (ममता)। अपनेको शरीर माननेसे सत्य प्रतीत होता है और शरीरको अपना माननेसे शरीरमें प्रियता होती है।

नहीं और कच्चा इतना है कि जब चाहे तब छोडा जा सकता है। किसीसे अपना सम्बन्ध जोड़ने अथवा तोडनेमें जीव सर्वथा स्वतन्त्र है। इसी स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके जीव शरीरादि विजातीय पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध मान लेता है।

अपने विवेक (शरीरसे अपनी भिन्नताका ज्ञान) दब जाता है। विवेकके दबनेपर शरीर (जड-तत्त्व) की प्रधानता हो जाती है और वह सत्य प्रतीत होने लगता है। सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदिसे जैसे-जैसे विवेक विकसित होता है, वैसे-वैसे शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध छूटता चला जाता है। विवेक जाग्रत् होनेपर परमात्मा (चिन्मय-तत्त्व) से अपने वास्तविक सम्बन्धका—उनमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है। यही **'आत्मनि अवस्थितम्'** पदोंका भाव है।

विकारी सत्ता (संसारके) के सम्बन्धसे अहंता ('मैं'-पन) की उत्पत्ति होती है। यह अहंता दो प्रकारसे मानी जाती है—(१) श्रवणसे मानना (जैसे, दूसरोंसे सुनकर 'मैं अमुक नामवाला हूँ', 'मैं अमुक वर्णवाला हूँ' आदि अहंता मान लेते हैं), (२) क्रियासे मानना (जैसे, व्याख्यान करना, शिक्षा देना, चिकित्सा करना आदि क्रियाओंसे 'मैं' वक्ता हूँ', 'मैं' शिक्षक हूँ'; 'मैं' चिकित्सक हूँ' आदि अहंता मान लेते हैं)। ये दोनों ही प्रकारकी अहंताएँ सदा रहनेवाली नहीं हैं, जब कि 'है'—रूप स्वतःसिद्ध सत्ता सदा रहनेवाली है। इन दोनों प्रकारकी अहंताओंके साथ जो 'हूँ'—रूप विकारी सत्ता है, उसे साधकको 'है'—रूप स्वतःसिद्ध

सत्ताके साथ निरन्तर नहीं मानना चाहिये । जैसे, ब्राह्मणोचित कर्तव्य-कर्म करनेके लिये ही 'मैं' ब्राह्मण हूँ', और व्याख्यान देनेके लिये ही 'मैं वक्ता हूँ'—इस प्रकार कर्तव्यमात्र समझकर दूसरोंके लिये कर्म करनेसे मानी हुई अहंताका सुगमतापूर्वक त्याग हो जाता है । 'मैं'-रूपमें मानी हुई अहंताका त्याग होनेपर 'हूँ'-रूप विकारी सत्ताका भी स्वतः त्याग हो जाता है और योगीको 'है'-रूप स्वतःसिद्ध सत्तामें अपनी स्थितिका अनुभव हो जाता है । यही अपने-आपमें तत्त्वका अनुभव करना है ।

विशेष बात

देश-कालादिकी अपेक्षासे कहे जानेवाले 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—इन चारोंके मूलमें 'है' के रूपमें एक ही परमात्मतत्त्व समभावसे विद्यमान है, जो इन चारोंका प्रकाशक और आधार है । 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह' ये चारों निरन्तर परिवर्तनशील हैं एवं 'है' नित्य अपरिवर्तनशील है । इनमें 'तू है', 'यह है' और 'वह है'—ऐसा तो कहा जाता है, पर 'मैं है'—ऐसा न कहकर 'मैं हूँ' कहा जाता है । कारण यह है कि 'मैं हूँ' में 'हूँ' 'मैं'-पनके कारण आया है । जबतक 'मैं'-पन है, तभीतक 'हूँ' के रूपमें एकदेशीयता या परिच्छिन्नता है । 'मैं'-पनके मिटनेपर एक 'है' ही शेष रह जाता है ।

'आत्मनि अवस्थितम् एनम्' का तात्पर्य यह है कि 'हूँ' में 'है' और 'है' में 'हूँ' स्थित है । दूसरे शब्दोंमें व्यष्टिमें समष्टि और समष्टिमें व्यष्टि स्थित है । जिस प्रकार समुद्र और लहरें दोनों एक-

दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते, उसी प्र मिटनेपर ही
दूसरेसे अलग नहीं किये जा सक
समुद्र और लहरें—ये दोनों ही नह
तत्त्व है), वैसे ही परमात्मतत्त्व ('है') म
ये दोनों ही नहीं हैं। ऐसा अनुभव करना ही अपने-आप (स्व- ,
में स्थित तत्त्वका अनुभव करना है।

'मैं'-पनके कारण (संसारमें सुखासक्ति तथा परमात्मासे विमुखता होनेसे) ही परमात्माका अपने-आपमें अनुभव नहीं होता। अतएव परमात्माको अपने-आपसे भिन्नमें देखनेके कारण उससे दूरी या वियोगका अनुभव करना पड़ता है और उसकी प्राप्तिके लिये जगह-जगह भटकना पड़ता है। अपने-आपसे भिन्न जितने पदार्थ हैं, उनसे वियोग होना अवश्यम्भावी है। इसके विपरीत अपने-आपमें परमात्माका अनुभव करनेवालेको उससे अपनी दूरी या वियोगका अनुभव नहीं करना पड़ता।* गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

याहि ते मैं हरि ग्यान गँवायो।
परिहरि हृदय-कमल रघुनाथहि, बाहर फिरत बिकल भयो धायो॥ १॥
ज्यों कुरंग निज अंग रुचिर मद अति मतिहीन मरम नहिं पायो।
खोजत गिरि, तरु, लता, भूमि, बिल परम सुगंध कहाँ तें आयो॥ २॥
(विनय-पत्रिका २४४)

---

* तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।
(कठ० २ । २ । १३; श्वेताश्वतर ६ । १२)

'अपने-आपमें स्थित (आत्मस्थ), परमात्माको जो ज्ञानी पुरुष निरन्तर देखते रहते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाला सुख प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।'

सत्ताके साथ
कर्तव्य-कर्म ।-आपमें परमात्माको देखना भिन्नता (द्वैतभाव) का
लिये ही नहीं, अपितु भिन्नताका नाशक है। वास्तवमें 'मैं'-पन ही
लिये ताको पोषित करता है। मनुष्यने भिन्नताके वाचक 'मैं'-पन
ज अथवा परिच्छिन्नता, पराधीनता, अभाव, अज्ञान आदि विकारोंको भूलसे अपने-आपमें ही मान लिया है। उन्हें दूर करनेके लिये परमात्माको अपने-आपमें देखना है। इन विकारोंका नाश अपने-आपमें परमात्माको देखनेपर ही हो सकता है। ये विकार तभीतक हैं, जबतक हम 'हूँ' को देखते (मानते) हैं, 'है' को नहीं। इस 'हूँ' के स्थानपर 'है' को देखनेपर कोई विकार नहीं रहता; क्योंकि 'है' में कोई विकार नहीं है।

सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें जो सम रहते हैं, ऐसे योगीजन ही अपने-आपमें स्थित तत्त्वको देख पाते हैं। सम हुए बिना द्वन्द्वका अत्यन्ताभाव नहीं होता। द्वन्द्व होनेपर संसारमें और निर्द्वन्द्व होनेपर स्वरूपमें स्थिति स्वतः होती है। जो निर्द्वन्द्व होता है, वही संसारबन्धनसे सुखपूर्वक मुक्त होता है—**निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते** ॥ (गीता ५ । ३) संसारसे सम्बन्ध जोड़नेपर ही द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं। जो अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख, राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंमें उलझे रहते हैं, उनकी दृष्टि संसारमें ही फँसी रहनेके कारण वे अपने-आपमें स्थित तत्त्वको नहीं देख पाते। स्वरूपमें स्थित होनेपर भी (मैं-पनमें परिच्छिन्नताके संस्कारके कारण) 'मैं' और 'है' का सूक्ष्म द्वन्द्व शेष रह सकता है; क्योंकि 'मैं' एकदेशीय और परिवर्तनशील है एवं 'है' सर्वदेशीय और

अपरिवर्तनशील । यह द्वन्द्व 'मैं'-पनके सर्वथा मिटनेपर ही मिटता है।

संसार परिवर्तनशील है; संसारका ही अंश होनेके कारण 'मैं' भी परिवर्तनशील है; जैसे—'मैं बालक हूँ', 'मैं युवा हूँ', 'मैं वृद्ध हूँ', 'मैं रोगी हूँ', 'मैं नीरोग हूँ' इत्यादि।* संसारकी तरह 'मैं' भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है जैसे—संसार 'नहीं' है, 'मैं' भी 'नहीं' है।

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

---

* यहाँ शङ्का हो सकती है कि बालक, युवा आदि अवस्थाएँ तो बदल गयीं, पर 'मैं तो वही हूँ' अर्थात् 'मैं' तो नहीं बदला! समाधान यह है कि 'विकारी' सत्ता (जड) को 'स्वतःसिद्ध' सत्ता (चेतन) में मिला देनेके कारण ही 'मैं' में परिवर्तन नहीं दीखता। वास्तवमें 'मैं'का प्रकाशक ('स्वयं') वही रहता है, 'मैं' वही नहीं रहता। 'मैं बालक हूँ' में जो 'मैं' है, वह 'मैं युवा हूँ' में नहीं है। अवस्थाओंके साथ सूक्ष्मरूपसे 'मैं' भी बदलता है। इसी प्रकार अन्य शरीरकी प्राप्ति (दूसरा जन्म) होनेपर भी पहले शरीरका 'मैं' तो नहीं रहता, पर सत्ता रहती है। भगवान्‌ने कहा भी है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।' 'स्वतःसिद्ध' सत्ताको लेकर 'मैं वही हूँ' कहा जाता है और 'विकारी' सत्ताको लेकर 'मैं बदल गया' कहा जाता है।

'है' सदा है, और 'नहीं' कभी नहीं है। 'है' दीखनेमें नहीं आता, पर 'नहीं' दीखनेमें आता है, क्योंकि जिसके द्वारा हम 'नहीं' को देखते हैं, वे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि भी 'नहीं'के अंश हैं। त्रिपुटीमें देखना सजातीयतामें ही होता है अर्थात् त्रिपुटीसे होनेवाले (करण-सापेक्ष) ज्ञानमें सजातीयताका होना आवश्यक है। अतः 'नहीं'के द्वारा 'नहीं' को ही देखा जा सकता है, 'है' को नहीं। 'है' का ज्ञान त्रिपुटीसे रहित (करण-निरपेक्ष) है।

'नहीं'की स्वतन्त्र सत्ता न होनेपर भी 'है' की सत्तासे ही उसकी सत्ता दीखती है। 'है' ही 'नहीं' का प्रकाशक और आधार है। जिस प्रकार नेत्रसे संसारको तो देख सकते हैं, पर नेत्रसे नेत्रको नहीं देख सकते; क्योंकि जिससे देखते हैं, वह नेत्र है। इसी प्रकार जो सबको जाननेवाला है, उस परमात्माको कैसे और किसके द्वारा जाना जा सकता है !

'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।'—(बृहदारण्यक० २। ४। १४) जो 'है' से प्रकाशित होता है, वह ('नहीं') 'है' को कैसे प्रकाशित कर सकता है !

अपने-आपमें स्थित तत्त्व ('है') का अनुभव अपने-आप ('है') से ही हो सकता है। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि ('नहीं')-से कदापि नहीं। अपने-आपसे होनेवाला ज्ञान स्वाधीन एवं दूसरों (मन, बुद्धि आदि) से होनेवाला ज्ञान पराधीन होता है। अपने-आपमें स्थित तत्त्वका अनुभव करनेके लिये किसी दूसरेकी सहायता लेनेकी आवश्यकता भी नहीं है। इसीलिये गीतामें आया है—

'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।' (गीता २ । २९) *।

कानोंसे सुनने, मनसे मनन करने, बुद्धिसे विचार करने आदि उपायोंसे कोई तत्त्वको नहीं जान सकता †। कारण कि इन्द्रियाँ,

---

* 'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्'—इसका तात्पर्य तत्त्वके ज्ञानको असम्भव बतलानेमें नहीं, अपितु उसे करण निरपेक्ष बतलानेमें है। मनुष्य किसी भी रीतिसे तत्त्वको जाननेका प्रयत्न क्यों न करे, पर अन्तमें अपने-आपमें ही अपने-आपको जानेगा। श्रवण, मनन आदि साधन तत्त्वके ज्ञानमें परम्परागत साधन माने जा सकते हैं, पर वास्तविक बोध करण-निरपेक्ष (अपने-आपसे) ही होता है। गीतामें अपने-आपसे ही अपने-आपको जाननेकी बात कई जगह आयी है; जैसे—

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ (२ । ५५)
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ (३ । १७)
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् । (६ । ५)
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति । (६ । २०)
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना । (१३ । २४)

भगवान्‌के लिये भी अर्जुनने कहा है—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम । (१० । १५)

† नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
(कठ० १ । २ । २३; मुण्डक० ३ । २ । ३)

'यह परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त हो सकता है।'

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
(कठ० २ । ३ । १२)

'यह परमात्मा न तो वाणीसे, न मनसे और न नेत्रोंसे ही प्राप्त किया जा सकता है।'

मन, बुद्धि, देश, काल, वस्तु आदि सब प्रकृतिके कार्य हैं। प्रकृतिके कार्यसे उस तत्त्वको कैसे जाना जा सकता है, जो प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है। अतः प्रकृतिके कार्यका त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) करनेपर ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है और वह अपने-आपमें ही होती है।

साधकसे सबसे बड़ी भूल यह होती है कि वह जिस रीतिसे संसारको जानता है, उसी रीतिसे परमात्माको भी जानना चाहता है। परंतु संसार और परमात्मा—दोनोंको जाननेकी रीति परस्पर विरुद्ध है। संसारको इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा जाना जाता है; क्योंकि उसकी जानकारी करण-सापेक्ष है; परंतु परमात्माको इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा नहीं जाना जा सकता; क्योंकि उसकी जानकारी करण-निरपेक्ष है।

जड़ताके आश्रयसे त्रिकालमें भी चिन्मयतामें स्थितिका अनुभव नहीं हो सकता। जड़ता (स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर) का आश्रय लेकर जो परमात्मतत्त्वका अनुभव करना चाहते हैं, वे पुरुष समाधि लगाकर भी परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं कर पाते; क्योंकि समाधि भी कारण-शरीरके आश्रित रहती है।*

---

* स्थूलशरीरसे 'क्रिया', सूक्ष्मशरीरसे 'चिन्तन' तथा कारणशरीरसे 'समाधि' होती है। कारणशरीरसे होनेवाली समाधि सविकल्प और निर्विकल्प—दो प्रकारकी होती है। ध्याता, ध्यान और ध्येयमें जब केवल ध्येय शेष रह जाता है, तब 'सविकल्प समाधि' होती है; क्योंकि इसमें ध्येयका नाम, रूप और उस (नाम-रूप)का सम्बन्ध शेष रह जाता है। जब यह भी शेष नहीं रहता, तब 'निर्विकल्प समाधि' होती है।

कारणशरीर तथा उससे होनेवाली समाधि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाकी अपेक्षा विशिष्ट होनेपर भी सूक्ष्मरूपसे निरन्तर क्रियाशील रहती

जो परमात्माको अपना तथा अपनेको परमात्माका जानते हैं, वे ज्ञानरूप नेत्रोंवाले योगीजन (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे अपनेको अलग करके) अपने-आपमें स्थित परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लेते हैं। परन्तु जो शरीरको अपना और अपनेको शरीरका समझते हैं, वे विमूढ और अकृतात्मा पुरुष (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा) यत्न करनेपर भी अपने-आपमें स्थित परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं कर पाते।

मार्मिक बात

'आत्मनि अवस्थितम्' पदोंमें भगवान्ने अपनेको सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मामें स्थित (सर्वव्यापी) बतलाया है। इसका अनुभव करनेके लिये साधकको ये चार बातें दृढ़तापूर्वक मान लेनी चाहिये—

१. परमात्मा यहाँ हैं।
२. परमात्मा अभी हैं।
३. परमात्मा अपनेमें हैं।
४. परमात्मा अपने हैं।

है। इस कारणशरीरसे भी अतीत होनेपर एकमात्र तत्त्व शेष रह जाता है। यही क्रिया और अक्रिया—दोनोंसे अतीत, सदा अखण्ड रहनेवाली 'स्वरूपकी समाधि' है। कारणशरीरसे होनेवाली समाधिमें तो व्युत्थान होता है, पर 'स्वरूपकी समाधि' अर्थात् स्वतः सिद्ध स्वरूपका बोध होनेपर समाधि तथा व्युत्थान दोनों ही नहीं होते। इसे 'निर्बीज समाधि' कहते हैं, क्योंकि इसमें संसारका सम्बन्ध (बीज) सर्वथा नष्ट हो जाता है। इसे 'सहजावस्था' भी कहते हैं, पर वास्तवमें यह अवस्था नहीं है, अपितु अवस्थासे अतीत है। अवस्थातीत कोई अवस्था नहीं होती।

परमात्मा सब जगह (सर्वव्यापी) होनेसे यहाँ भी हैं; सब समय (तीनों कालोंमें) होनेसे अभी भी हैं; सबमें होनेसे अपनेमें भी हैं; और सबके होनेसे अपने भी हैं। इस दृष्टिसे, परमात्मा यहाँ होनेसे उन्हें प्राप्त करनेके लिये दूसरी जगह जानेकी आवश्यकता नहीं है; अभी होनेसे उनकी प्राप्तिके लिये भविष्यकी प्रतीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं है; अपनेमें होनेसे उन्हें बाहर ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं है; और अपने होनेसे उनके सिवा किसीको भी अपना माननेकी आवश्यकता नहीं। अपने होनेसे स्वाभाविक ही अत्यन्त प्रिय लगेंगे।

प्रत्येक साधकके लिये उपर्युक्त चारों बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं तत्काल लाभदायक हैं। साधकको ये चारों बातें दृढ़तासे मान लेनी चाहिये। समस्त साधनोंका यह सार साधन है। इसमें किसी योग्यता, अभ्यास, गुण आदिकी भी आवश्यकता नहीं है। ये बातें स्वतः सिद्ध एवं वास्तविक हैं। इसलिये इन्हें माननेके लिये सभी योग्य हैं; सभी पात्र हैं; सभी समर्थ हैं। शर्त यही है कि वे एक परमात्माको ही चाहते हों।

जितनी भी बाहरी (मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीरादिकी) अवस्थाएँ या परिस्थितियाँ हैं, वे सब-की-सब निरन्तर बदलती रहती हैं; एक क्षण भी स्थिर नहीं रहतीं; परंतु 'स्वयं' (अपना-स्वरूप—आत्मा) कभी नहीं बदलता; सदैव ज्यों-का-त्यों रहता है। बचपनमें शरीर, इन्द्रियाँ, परिस्थिति, साथी, योग्यता, रुचि, सामर्थ्य आदि जैसे थे, वैसे अब बिल्कुल नहीं हैं; पर मैं वही हूँ—यह सबका अनुभव है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह निरन्तर (न बदलनेवाले)

अपने स्वरूपको ही देखे, अवस्थाको नहीं। अवस्था कभी भी 'स्वयं' तक नहीं पहुँच सकती। अवस्थाका 'स्वय'से कभी किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं हो सकता।

यतन्तः पश्यन्ति—यत्न करते हुए अनुभव करते हैं।

यहाँ 'यतन्त.' पद साधनपरक है। भीतरकी लगन, जिसे पूर्ण किये बिना चैनसे न रहा जाय, यत्न कहलाती है।

जिन साधकोंका एकमात्र उद्देश्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना है, उनमें असङ्गता, निर्ममता और निष्कामना स्वतः आ जाती है। उद्देश्यकी पूर्तिके लिये अनन्यभावसे जो उत्कण्ठा, तत्परता, व्याकुलता, विरहयुक्त चिन्तन, प्रार्थना एवं विचार साधकके हृदयमें प्रकट होते हैं, उन सबको यहाँ 'यतन्तः' पदके अन्तर्गत समझना चाहिये। जिसकी प्राप्तिका उद्देश्य बनाया; और जिसकी विमुखताको यत्नके द्वारा दूर किया, उसी तत्त्वका योगीजन अपने-आपमें अनुभव करते हैं। परमात्माके पूर्ण सम्मुख हो जानेके बाद योगीकी परमात्म-तत्त्वमें सदा सहज स्थिति रहती है। यही 'पश्यन्ति' पदका भाव है।

योगभ्रष्ट पुरुष भी योगियोंके घर जन्म लेकर तत्त्वप्राप्तिके लिये यत्न करता है—'यतते च ततो भूयः संसिद्धौ' (गीता ६। ४३)।

अकृतात्मानः अचेतसः—जिन्होंने अपना अन्त.करण शुद्ध नहीं किया और परमात्मसम्बन्धी विवेक भी जाग्रत् नहीं किया*।

---

* श्रीमद्भगवद्गीतामें अन्यत्र भी भगवान्पर दोषारोपण करनेवाले, उनके सिद्धान्तके अनुसार न चलनेवाले और शास्त्रविरुद्ध घोर तप करनेवाले आसुरी मनुष्योंके लिये 'अचेतसः' (३ । ३२; १७ । ६); राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिवाले मनुष्योंके लिये 'विचेतसः' (९ । १२);

जिन्होंने अपना अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया है, उन पुरुषोंको यहाँ 'अकृतात्मानः' कहा गया है। अन्तःकरणकी शुद्धि कर्मयोगसे सुगमतापूर्वक हो जाती है*। क्योंकि कर्मयोगका साधक सांसारिक पदार्थों (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहं आदि) को अपना और अपने लिये नहीं मानता। अन्तःकरणको अपना मानना ही मूल अशुद्धि है। इसलिये वह उसे अपना न मानकर (संसारसे मिला हुआ मानकर) संसारकी सेवामें लगाता है। वह अपने लिये कभी कोई कर्म नहीं करता।

कर्मयोगका अनुष्ठान किये बिना ज्ञानयोगका अनुष्ठान करना कठिन है†।

जिन पुरुषोंको सत्-असत्का चेत (विवेक) नहीं हुआ है, उन्हें यहाँ 'अचेतसः' कहा गया है।

जिनके अन्तःकरणमें संसारके व्यक्ति, पदार्थ आदिका महत्त्व बना हुआ है; और जो शरीरादिको अपना मानते हुए उनसे सुख-भोगकी आशा रखते हैं, ऐसे सभी पुरुष 'अकृतात्मानः अचेतसः' हैं। ऐसे पुरुष तत्त्वकी प्राप्ति तो चाहते हैं, पर उसकी प्राप्तिके लिये शरीर, मन, बुद्धि आदि जड़ (प्राकृत) पदार्थोंकी सहायतासे चेतन परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना चाहते हैं। परमात्मा जड़ पदार्थोंकी सहायतासे नहीं अपितु जड़ताके त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद)-

---

और आत्माको कर्ता माननेवाले अज्ञानी मनुष्योंके लिये 'अकृतबुद्धिः' (१८। १६) पद आये हैं।

* योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ (गीता ५। ११)

† संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः। (गीता ५। ६)

*

से मिलते हैं। निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा करनेवाला योगी जड़ताका त्याग बहुत सुगमतापूर्वक कर देता है।

यतन्तः अपि एनम् न पश्यन्ति—यत्न करनेपर भी इस (तत्त्व) का अनुभव नहीं कर पाते।

प्रस्तुत श्लोकमें 'यतन्तः' पद दो बार आया है। भाव यह है कि यत्न करनेमें समानता होनेपर भी एक (ज्ञानी) पुरुष तो तत्त्वका अनुभव कर लेता है, दूसरा (मूढ) नहीं कर पाता। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धिके द्वारा किया गया यत्न तत्त्वप्राप्तिमें सहायक होनेपर भी अन्तःकरण (जड़ता) के साथ सम्बन्ध बने रहनेके कारण और अन्तःकरणमें सांसारिक पदार्थोंका महत्त्व रहनेके कारण (यत्न करनेपर भी) तत्त्वको प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिनकी दृष्टि असत् (सांसारिक भोग और संग्रह) पर ही जमी हुई है, ऐसे पुरुष सत् (तत्त्व) को कैसे देख सकते हैं?

अकृतात्मा और अचेतस पुरुष करनेमें तो ध्यान, स्वाध्याय, जप आदि सब कुछ करते हैं, पर अन्तःकरणमें जड़ता (सांसारिक भोग और संग्रह) का महत्त्व रहनेके कारण उन्हें तत्त्वका अनुभव नहीं हो पाता। यद्यपि ऐसे पुरुषोंके द्वारा किया गया यत्न भी निष्फल नहीं जाता, तथापि तत्त्वका अनुभव उन्हें वर्तमानमें नहीं होता। वर्तमानमें तत्त्वका अनुभव जड़ताका सर्वथा त्याग होनेपर ही हो सकता है।

जिसका आश्रय लिया जाय, उसका त्याग नहीं हो सकता—यह नियम है। अतः शरीर, मन, बुद्धि आदि जड-पदार्थोंका

आश्रय लेकर साधक जड़ताका त्याग नहीं कर सकता। इसके सिवा मन, बुद्धि आदि जड़-पदार्थोंको लेकर साधन करनेवालेमें सूक्ष्म अहंकार बना रहता है, जो जड़ताका त्याग होनेपर ही निवृत्त होता है। जड़ताका त्याग करनेका सुगम उपाय है—एकमात्र भगवान्‌का आश्रय लेना अर्थात् 'मैं भगवान्‌का हूँ; भगवान् मेरे हैं' इस वास्तविकताको स्वीकार कर लेना; इसपर अटल विश्वास कर लेना। इसके लिये यत्न या अभ्यास करनेकी भी आवश्यकता नहीं है। वास्तविक बातको दृढ़तापूर्वक स्वीकारमात्र कर लेनेकी आवश्यकता है।

जड़ता (संसार) से माने हुए सम्बन्धका कारण 'राग' है। संसारको 'अपना' और 'अपने लिये' माननेसे ही उसमें राग होता है। संसार प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है—ऐसा बुद्धिसे जाननेपर भी राग ऐसा देखने नहीं देता। रागके कारण ही संसार स्थायी दीखता है। संसारको स्थायी देखनेसे ही सांसारिक भोगोंकी रुचि और उनका भोग होता है। अतएव साधकको राग मिटानेके लिये ही यत्न करना चाहिये। गीतामें भगवान्‌ने भी राग मिटानेपर ही अधिक जोर दिया है।

राग-रहित होनेसे ही 'समता' अर्थात् 'योग'की प्राप्ति होती है। जिनका उद्देश्य समता-प्राप्ति है, ऐसे योगीजन रागको मिटानेका यत्न करते हैं और रागके मिटते ही उन्हें तत्काल तत्त्वका अनुभव हो जाता है। इसके विपरीत रागयुक्त पुरुषको तत्त्वका अनुभव नहीं हो पाता। कारण कि रागके मिटे बिना अज्ञान नहीं मिटता। इसलिये साधककी दृष्टिसे रागको मिटाना ही मुख्य है।

मार्मिक बात

यदि साधक प्रारम्भमें 'समता' को प्राप्त न भी कर सके, तो भी उसे अपनी रुचि या उद्देश्य समता-प्राप्तिका ही रखना चाहिये; जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी। चहिअ अमिअ जग जुरइ न छाछी॥
(मानस १ । ७ । ४)

तात्पर्य यह है कि साधक चाहे जैसा हो, पर उसकी रुचि या उद्देश्य सदैव ऊँचा रहना चाहिये। साधककी रुचि या उद्देश्य-पूर्तिकी लगन जितनी तीव्र होगी, उतनी ही शीघ्र उसके उद्देश्यकी सिद्धि होगी। भगवान्‌का स्वभाव है कि वे यह नहीं देखते कि साधक करता क्या है, अपितु यह देखते हैं कि साधक चाहता क्या है—

............................। रीझत राम जानि जन जी की॥
रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥
(मानस १ । २८ । २-३)

एक प्रज्ञाचक्षु सन्त प्रतिदिन मन्दिरमें (भगवद्विग्रहका दर्शन करने) जाया करते थे। एक दिन जब वे मन्दिर गये, तब किसीने पूछ लिया कि जब आपको दिखायी ही नहीं देता, तब यहाँ किसलिये आते हो? सन्त बोले—मुझे दिखायी नहीं देता, तो क्या भगवान्‌को भी दिखायी नहीं देता? मैं उन्हें नहीं देखता, पर वे तो मुझे देखते हैं; बस, इसीसे मेरा काम बन जायगा!

इसी प्रकार हम समताको प्राप्त भले ही न कर सकें फि[र] भी हमारी रुचि या उद्देश्य समताका ही रहना चाहिये, जि[से] भगवान् देखते ही हैं! अतः हमारा काम अवश्य हो जायगा।

साधकोंके लिये विशेष बात

शास्त्रोंमें तीन दोष तत्त्वप्राप्तिमें बाधक कहे गये हैं—(१) मल (अनेक जन्मोंके तथा वर्तमानके पाप-कर्मोंका संग्रह), (२) विक्षेप (चित्तकी चञ्चलता) और (३) आवरण (अज्ञान)*। इनमें मल-दोष साधकको स्वयं दूर करना पड़ता है; क्योंकि उसीने मल (पापों) का संचय किया है। श्रद्धापूर्वक जीवन्मुक्त महापुरुषोंके समीप बैठनेमात्रसे विक्षेपदोष और उनके वचनोंपर विचार एवं श्रद्धा-विश्वास करनेमात्रसे आवरण-दोष दूर हो जाता है। अतः मलदोषको साधकको स्वयं दूर करना पड़ता और विक्षेप व आवरण-दोष सन्तों तथा भगवान्‌की कृपासे दूर हो जाता है।

मल-दोषके रहते हुए किया गया यत्न सार्थक नहीं होता। वर्तमानमें प्रायः साधकोंसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वे विक्षेप और आवरण-दोषको दूर करनेका यत्न तो करते हैं, पर मल-दोषको दूर करनेकी बातपर ध्यान ही नहीं देते। इसीलिये उन्हें वास्तविक तत्त्वका अनुभव वर्तमानमें नहीं हो पाता।

---

* आवरण-दोषके दो प्रकार हैं—

(१) असत्त्वापादक—इस दोषके कारण मनुष्य 'परमात्मा नहीं है'—इस प्रकार सत् (परमात्मा) की सत्ताको न मानकर असत् (संसार) की सत्ताको मानने लगता है। यह दोष श्रद्धा-विश्वाससे मिट जाता है।

(२) अभानापादक—इस दोषके कारण मनुष्यको परमात्मतत्त्वका भान (अनुभव) नहीं होता। यह दोष सांसारिक सुखकी आसक्तिसे उत्पन्न होता है। अतः आसक्तिका अत्यन्ताभाव होनेपर यह दोष मिट जाता है और परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।

सांसारिक सुखकी आसक्ति ही प्रधान 'आवरण-दोष' है।

मल-दोष (पाप) के दो भेद हैं—(१) पिछले जन्मोंके सञ्चित पाप और (२) वर्तमानके पाप या निषिद्ध-भोग। यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि एक-एक शुभकर्ममें पिछले अनेक जन्मोंके सञ्चित पापोंका नाश करने तथा अन्तःकरणको परम पवित्र बनानेकी महान् शक्ति है। वर्तमानमें जिसे हम बुरा मानते हैं, उसका त्याग करनेसे वर्तमानके पाप नहीं होते। मुख्य बाधा वर्तमानके पापोंकी ही है। यज्ञ, दान, व्रत आदि शुभकर्मोंको करनेसे सञ्चित पाप नष्ट हो जाते हैं। परंतु यज्ञ, दान, व्रत आदि शुभकर्म करनेके साथ-साथ स्वार्थवश दूसरोंका अहित भी करते रहनेसे मल-दोष दूर नहीं होता। स्वार्थका त्याग करके श्रद्धापूर्वक दूसरोंका हित करनेमें मल-दोषका नाश करनेकी विशेष शक्ति है।

यदि साधकके अन्तःकरणमें तत्त्वप्राप्तिकी तीव्र जिज्ञासा, भगवत्प्रेमकी तीव्र उत्कण्ठा अथवा भगवान्‌के न मिलनेकी तीव्र व्याकुलता (विरह) उत्पन्न हो जाय, तो मल, विक्षेप और आवरण तीनों दोष तत्काल नष्ट हो जाते हैं। निष्कामभाव-पूर्वक दूसरोंकी सेवा एवं ध्यान, जप आदि करनेसे भी मल और विक्षेप दोनों दोष दूर हो जाते हैं, और इन दोनों दोषोंके दूर होनेपर आवरण-दोषके दूर होनेमें विलम्ब नहीं होता, किंतु जप, ध्यान आदिके साथ-साथ निषिद्ध-कर्म (पाप) करते रहनेसे साधकको इन दोषोंके दूर होनेका अनुभव नहीं हो पाता। निषिद्ध-कर्म करते रहनेसे मल-दोष बढ़ता रहता है, जिससे विक्षेप व आवरण-दोष पुष्ट होते रहते हैं।

मल-दोष (निषिद्ध-भोग) को नष्ट करना साधकके लिये अत्यन्त आवश्यक है। निषिद्ध-भोग भोगनेवाला पुरुष बहुत बड़ा पापी

है। निषिद्ध-भोग नरकों तथा चौरासी लाख योनियोंमें ले जानेवाले होते हैं। जिसका उद्देश्य ही भोग भोगना है, वह निषिद्ध और विहितकी पहचान नहीं कर सकता। परमात्मप्राप्तिमें तो न्याययुक्त या धर्मानुकूल विहित-भोग भी बाधक होते हैं; फिर निषिद्ध-भोगोंका तो कहना ही क्या है! अतः साधकको भोगोंका त्याग तो करना ही पड़ेगा, चाहे वे निषिद्ध हों या विहित।

मल-दोषको नष्ट करनेका श्रेष्ठ और दृढ़ उपाय यह है कि साधक 'अब मुझे भविष्यमें कोई निषिद्ध-कर्म करना ही नहीं है'—ऐसा दृढ़ निश्चय कर ले। यदि साधक मल-दोषको दूर न करके विक्षेप और आवरण-दोषको दूर करनेका ही यत्न करे, तो वह बातें तो बहुत सीख लेगा, पर उसे वास्तविक बोध होना कठिन है। मल-दोष (वर्तमानके निषिद्ध आचरण) का त्याग किये बिना सत्सङ्ग, भजन, ध्यान आदि शुभ कर्म करनेसे साधकमें उनका 'अभिमान' उत्पन्न हो जाता है।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि अभिमानकी उत्पत्ति (सद्गुण-सदाचारके साथ किसी अंशमें विद्यमान) दुर्गुण-दुराचारसे ही होती है, सद्गुण-सदाचारसे कदापि नहीं। कारण यह है कि अभिमान आसुरी-सम्पत्तिका मूल है। यदि सद्गुण-सदाचारसे अभिमान उत्पन्न होगा, तो आसुरी-सम्पत्ति कैसे मिटेगी? दैवी-सम्पत्ति आसुरी-सम्पत्तिको उत्पन्न करनेवाली नहीं हो सकती। अतएव सद्गुण-सदाचारका अभिमान होनेपर यही समझना चाहिये कि साथमें दुर्गुण-दुराचार भी हैं अथवा सद्गुण-सदाचारमें कमी है; जिस कमीके कारण साधक

कभी-कभी वह कार्य भी कर बैठता है, जो नहीं करना चाहिये। धनकी कमी (निर्धनता) होनेपर धनका अभिमान, विद्वत्ताकी कमी (मूर्खता) होनेपर विद्वत्ताका अभिमान, गुणोंकी कमी (दुर्गुण) होनेपर गुणोंका अभिमान होता है। जहाँ पूर्णता होती है, वहाँ अभिमान नहीं होता ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—

पन्द्रहवें अध्यायमें पाँच-पाँच श्लोकोंके चार प्रकरण हैं। उनमें यह तीसरा प्रकरण बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतकका है, जिसमें छठा श्लोक सम्मिलित कर देनेपर पाँच श्लोक पूरे हो जाते हैं। यह तीसरा प्रकरण विशेषरूपसे भगवान्‌के प्रभाव और महत्त्व-को प्रकट करनेवाला है। छठे श्लोकमें जो विषय (—परमधामको सूर्य, चन्द्र और अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते) स्पष्ट नहीं हो पाया था, उसीका स्पष्ट विवेचन भगवान् अगले (बारहवें) श्लोकमें करते हैं।

श्लोक—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

भावार्थ—

श्रीभगवान् कहते हैं कि सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है और चन्द्र तथा अग्निमें जो तेज है, वह मेरा ही है—ऐसा जान।

भौतिक जगत्‌में प्रकाश करनेवाले प्रभावशाली पदार्थ तीन हैं—सूर्य, चन्द्र और अग्नि। साधारण चक्षुओंसे दीखनेवाले इन

तीनों पदार्थोंमें जो प्रकाश और प्रभाव है, वह उनका अपना न होकर भगवान्‌का ही है। अतएव ये तीनों पदार्थ भगवान् या उनके धामको प्रकाशित नहीं कर सकते; क्योंकि कार्य अपने कारणमें लीन तो हो सकता है, पर उसे प्रकाशित नहीं कर सकता।

प्रभाव और महत्त्वकी ओर आकर्षित होना जीवका स्वभाव है। प्राकृत पदार्थोंके सम्बन्धसे जीव प्राकृत पदार्थोंके प्रभावसे प्रभावित हो जाता है। कारण यह है कि प्रकृतिमें स्थित होनेके कारण जीवको प्राकृत पदार्थों (शरीर, स्त्री, पुत्र, धन आदि) का महत्त्व दीखने लगता है, भगवान्‌का नहीं अतएव जीवपर पड़े प्राकृत पदार्थोंका प्रभाव हटानेके लिये भगवान् अपने प्रभावका वर्णन करते हुए यह रहस्य प्रकट करते हैं कि उन प्राकृत पदार्थोंमें जो प्रभाव और महत्त्व देखनेमें आता है, वह वस्तुतः (मूलमें) मेरा ही है, उनका नहीं। सर्वोपरि प्रभावशाली मैं ही हूँ। मेरे ही प्रकाशसे सब प्रकाशित हो रहे हैं।

अन्वय—

यत्, तेजः, आदित्यगतम्, अखिलम्, जगत्, भासयते, च, यत्, चन्द्रमसि, यत्, अग्नौ, (अस्ति,) तत्, तेजः, मामकम्, विद्धि ॥ १२ ॥

पद-व्याख्या—

यत् तेजः आदित्यगतम् अखिलम् जगत् भासयते—सूर्यमें आया हुआ जो तेज सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है।

जैसे भगवान्‌ने (गीता २ । ५५ में) कामनाओंको **'मनोगतान्'** बतलाया है, वैसे ही यहाँ तेजको **'आदित्यगतम्'** बतलाते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे मनमें स्थित कामनाएँ मनका

धर्म या स्वरूप न होकर आगन्तुक हैं, वैसे ही सूर्यमें स्थित तेज सूर्यका धर्म या स्वरूप न होकर आगन्तुक अर्थात् वह तेज सूर्यका अपना न होकर (भगवान्से) आया हुआ है।

सूर्यका तेज (प्रकाश) इतना महान् है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उससे प्रकाशित होता है। ऐसा वह तेज सूर्यका दीखनेपर भी वस्तुतः भगवान्का ही है। इसलिये सूर्य भगवान् या उनके परम-धामको प्रकाशित नहीं कर सकता। भगवान्ने गीतामें अन्यत्र भी कहा है कि मेरी उत्पत्ति और प्रभावको देवता एवं महर्षिगण भी नहीं जान सकते; क्योंकि मैं उन देवताओं और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ*। अर्जुन भी भगवान्से कहते हैं कि आपके स्वरूपको देवता और (मायाशक्तिसे सम्पन्न) दानव भी नहीं जान सकते†। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् (योगदर्शन १। २६)

'ईश्वर सबके पूर्वजोंका भी गुरु है; क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है।'

सम्पूर्ण भौतिक जगत्में सूर्यके समान प्रत्यक्ष प्रभावशाली पदार्थ कोई नहीं है। चन्द्र, अग्नि, तारे, विद्युत् आदि जितने भी प्रकाशमान पदार्थ हैं, वे सभी सूर्यसे ही प्रकाश पाते हैं। भगवान्से

---

* न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥
(गीता १०। २)

† न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥
(गीता १०। १४)

प्राप्त तेजके कारण जब सूर्य इतना विलक्षण और प्रभावशाली है, तब स्वयं भगवान् कितने विलक्षण और प्रभावशाली होंगे* । ऐसा विचार करनेपर स्वतः भगवान्‌की तरफ आकर्षण होता है ।

सूर्य 'नेत्रों'का अधिष्ठातृ-देवता है । अतः नेत्रोंमें जो प्रकाश (देखनेकी शक्ति) है, वह भी परम्परासे भगवान्‌की ही दी हुई समझनी चाहिये ।

च यत् चन्द्रमसि—और जो (तेज) चन्द्रमें (है) ।

जैसे सूर्यमें स्थित प्रकाशिका शक्ति और दाहिका शक्ति दोनों ही भगवान्‌से प्राप्त (आगत) हैं, वैसे ही चन्द्रकी प्रकाशिका शक्ति और पोषण शक्ति दोनों (सूर्यद्वारा प्राप्त होनेपर भी परम्परासे) भगवत्प्रदत्त ही हैं । जैसे भगवान्‌का तेज 'आदित्यगत' है, वैसे ही उनका तेज 'चन्द्रगत' भी समझना चाहिये । चन्द्रमें प्रकाशके साथ शीतलता, मधुरता, पोषणता आदि जो भी गुण हैं, वह सब भगवान्‌का ही प्रभाव है ।

यहाँ चन्द्रको तारे, नक्षत्र आदिका भी उपलक्षण समझना चाहिये ।

---

* पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥
(गीता ११ । ४३)

'आप इस चराचर जगत्‌के पिता और सबसे बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं । हे अनुपम प्रभाववाले ! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है ?'

चन्द्र 'मन'का अधिष्ठातृ-देवता है। अतः मनमें जो प्रकाश (मनन करनेकी शक्ति) है, वह भी परम्परासे भगवान्‌की ही दी हुई समझनी चाहिये।

यत् अग्नौ (अस्ति)—(तथा) जो (तेज) अग्निमें (है)।

जैसे भगवान्‌का तेज 'आदित्यगत' है, वैसे ही उनका तेज 'अग्निगत' भी समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि अग्निकी प्रकाशिका शक्ति और दाहिका शक्ति दोनों भगवान्‌की ही हैं, अग्निकी नहीं।

यहाँ अग्निको विद्युत्, दीपक, जुगनू आदिका भी उपलक्षण समझना चाहिये।

अग्नि 'वाणी'का अधिष्ठातृ-देवता है। अत वाणीमें जो प्रकाश (अर्थप्रकाश करनेकी शक्ति) है, वह भी परम्परासे भगवान्‌की ही दी हुई समझनी चाहिये।

तत् तेजः मामकम् विद्धि—उस तेजको मेरा (ही तेज) जान।

जो तेज सूर्य, चन्द्र और अग्निमें है और जो तेज इन तीनों-के प्रकाशसे प्रकाशित अन्य पदार्थों (तारे, नक्षत्र, विद्युत्, जुगनू आदि) में देखने तथा सुननेमें आता है, उसे भगवान्‌का ही तेज समझना चाहिये।

उपर्युक्त पदोंसे भगवान् यह कह रहे हैं कि मनुष्य जिस जिस तेजस्वी पदार्थकी तरफ आकर्षित होता है, उस-उस पदार्थमें

उसे मेरा ही प्रभाव देखना चाहिये * । जैसे बूँदीके लड्डूमें जो मिठास है, वह उसकी अपनी न होकर चीनीकी ही है, वैसे ही सूर्य, चन्द्र और अग्निमें जो तेज है, वह उनका अपना न होकर भगवान्का ही है । भगवान्के प्रकाशसे ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कठोपनिषद् २ । २ । १५) वह सम्पूर्ण ज्योतियोंकी भी ज्योति है—'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' (गीता १३ । १७) ।

जो ज्योतियों का ज्योति है, सबसे प्रथम जो भासता ।
अव्यय सनातन दिव्य दीपक, सर्व विश्व प्रकाशता ॥

सूर्य, चन्द्र और अग्नि क्रमशः नेत्र, मन और वाणीके अधिष्ठाता एवं उन्हें प्रकाशित करनेवाले हैं । मनुष्य अपने भावोंको प्रकट करने और समझनेके लिये नेत्र, मन (अन्तःकरण) और वाणी—इन तीन इन्द्रियोंका ही उपयोग करता है । ये तीन इन्द्रियाँ जितना प्रकाश करती हैं, उतना प्रकाश अन्य इन्द्रियाँ नहीं करतीं । प्रकाश-का तात्पर्य है—अलग-अलग ज्ञान करना । नेत्र और वाणी बाहरी करण हैं तथा मन भीतरी करण है । 'करणों'के द्वारा वस्तुका ज्ञान होता है । ये तीनों ही करण (इन्द्रियाँ) भगवान्को प्रकाशित नहीं कर सकते; क्योंकि इनमें जो तेज या प्रकाश है, वह इनका अपना न होकर भगवान्का ही है । इसलिये भगवान्को प्राप्त हो

---

* यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥
(गीता १० । ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्ति-युक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान ।'

सकते हैं; उनका आश्रय ले सकते हैं, पर उन्हें प्रकाशित नहीं कर सकते ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—

दृश्य (दीखनेवाले) पदार्थोंमें अपना प्रभाव बतलानेके बाद अब भगवान् अगले दो श्लोकोंमें पदार्थोंकी क्रियाओंमें अपना प्रभाव बतलाते हैं।

पहले तेरहवें श्लोकमें भगवान् जिस शक्तिसे समष्टि-जगत्में क्रियाएँ हो रही हैं, उस समष्टि-शक्तिमें अपना प्रभाव प्रकट करते हैं।

श्लोक—

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

भावार्थ—

श्रीभगवान् कहते हैं कि मै ही पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपनी शक्तिसे समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियोंको धारण करता हूँ; और मै ही रसमय चन्द्रके रूपमें लता-वृक्षादि समस्त ओषधियों (वनस्पतियों) को पुष्ट करता हूँ

अन्वय—

च, अहम्, गाम्, आविश्य, ओजसा, भूतानि, धारयामि, च, रसात्मक, सोम, भूत्वा, सर्वा, ओषधी, पुष्णामि ॥ १३ ॥

पद-व्याख्या—

च अहम् गाम् आविश्य ओजसा भूतानि धारयामि—और मै पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपनी शक्तिसे सम्पूर्ण भूतोंको धारण करता हूँ।

भगवान् ही पृथ्वीमें प्रवेश करके उसपर स्थित सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्राणियोंको धारण करते हैं। तात्पर्य यह है कि पृथ्वीमें जो धारण-शक्ति देखनेमें आती है, वह पृथ्वीकी अपनी न होकर भगवान्-की ही है*।

वैज्ञानिक भी इस तथ्यको स्वीकार करते हैं कि पृथ्वीकी अपेक्षा जलका स्तर ऊँचा है और पृथ्वीपर जलका भाग स्थलकी अपेक्षा बहुत अधिक है†। ऐसा होनेपर भी पृथ्वी जलमग्न नहीं होती। यह भगवान्की धारण-शक्तिका ही प्रभाव है।

---

* द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः।
वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः॥
(श्रीविष्णुसहस्रनाम १३४)

'स्वर्ग, सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रसहित आकाश, दस दिशाएँ, पृथ्वी और महासागर—ये सब भगवान् वासुदेवकी शक्तिसे धारण किये गये हैं।'

पृथिव्यां तिष्ठन् यो यमयति महीं वेद न धरा
यमित्यादौ वेदो वदति जगतामीशममलम्।
नियन्तारं ध्येयं मुनिसुरनृणां मोक्षदमसौ
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः॥
(शङ्कराचार्यकृत कृष्णाष्टकम्)

'पृथ्वीमें रहकर जो पृथ्वीका नियमन करते हैं, परंतु पृथ्वी जिन्हें नहीं जानती (यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीं यमयति यं पृथिवी न वेद) आदि श्रुतियोंसे वेद जिन अमलस्वरूपको जगत्का स्वामी, नियामक, ध्येय और देवता, मनुष्य तथा मुनिजनोंको मोक्ष देनेवाला बतलाता है, वे शरणागतवत्सल निखिल भुवनेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र मेरे नेत्रोंके विषय हों।'

† पृथ्वीपर जलका कुल भाग ७१ प्रतिशत एवं स्थलका कुल भाग २९ प्रतिशत माना जाता है।

पृथ्वीके उपलक्षणसे यह समझना चाहिये कि पृथ्वीके अतिरिक्त जहाँ भी धारण-शक्ति देखनेमें आती है, वह भगवान्‌की ही है। पृथ्वीमें अन्नादि ओषधियोंको उत्पन्न करनेकी (उत्पादिका) शक्ति एवं गुरुत्वाकर्षण-शक्ति भी भगवान्‌की ही समझनी चाहिये।

च रसात्मकः सोमः भूत्वा सर्वाः ओषधीः पुष्णामि—और (मैं ही) रसमय चन्द्र होकर लता-वृक्षादि सम्पूर्ण ओषधियों अर्थात् वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ।

चन्द्रमें दो शक्तियाँ हैं—प्रकाशिका शक्ति और पोषण-शक्ति। प्रकाशिका शक्तिमें अपने प्रभावका वर्णन पिछले श्लोकमें करनेके बाद भगवान् इस श्लोकमें चन्द्रकी पोषण-शक्तिमें अपना प्रभाव बतलाते हैं कि चन्द्रके माध्यमसे सम्पूर्ण वनस्पतियोंको मैं ही पुष्ट करता हूँ।

शुक्लपक्षमें रसमय चन्द्रकी मधुर किरणोंसे अमृत वर्षा होनेके कारण ही लता-वृक्षादि पुष्ट होते हैं और फलते-फूलते हैं। माताके उदरमें स्थित शिशु भी शुक्लपक्षमें वृद्धिको प्राप्त होते हैं।

यहाँ 'सोम' पद चन्द्रलोकका वाचक है, चन्द्रमण्डलका नहीं। नेत्रोंसे हमें जो दीखता है, वह चन्द्रमण्डल है। चन्द्रमण्डलसे भी ऊपर (नेत्रोंसे न दीखनेवाला) चन्द्रलोक है। उपर्युक्त पदोंमें विशेषरूपसे 'सोम' पद देनेका अभिप्राय यह है कि चन्द्रमें प्रकाशके साथ-साथ अमृत-वर्षाकी शक्ति भी है।

यहाँ 'ओषधी' पदके अन्तर्गत गेहूँ, चना आदि सब प्रकारके अन्न समझने चाहिये। चन्द्रके द्वारा पुष्ट हुए अन्नका भोजन करनेसे

ही मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणी पुष्टि प्राप्त करते हैं। ओषधियों, वनस्पतियोंमें शरीरको पुष्ट करनेकी जो शक्ति है, वह चन्द्रसे आती है। चन्द्रकी वह पोषण-शक्ति भी चन्द्रकी अपनी न होकर भगवान्‌की ही है। भगवान् ही चन्द्रको निमित्त बनाकर सबका पोषण करते हैं ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—

समष्टि-शक्तिमें अपना प्रभाव बतलानेके बाद अब भगवान् जिस शक्तिसे व्यष्टि-जगत्‌में क्रियाएँ हो रही हैं, उस व्यष्टि-शक्तिमें अपना प्रभाव बतलाते हैं।

श्लोक—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

भावार्थ—

भगवान् कहते हैं कि मैं ही वैश्वानर (जठराग्नि)—रूपसे स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणियोंके शरीरमें स्थित प्राण और अपान-वायुसे संयुक्त होकर उन (प्राणियों) के उदरस्थ चार प्रकारके अन्न (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य)-को पचाता हूँ। तात्पर्य यह है कि व्यष्टि-जगत्‌में अग्नि और वायु-तत्त्वसे होनेवाली क्रियाओंमें मेरी ही शक्ति काम कर रही है।

अन्वय—

अहम्, वैश्वानरः, भूत्वा, प्राणिनाम्, देहम्, आश्रितः, प्राणापानसमायुक्तः, चतुर्विधम्, अन्नम्, पचामि ॥ १४ ॥

पद-व्याख्या—

अहम्—मैं (ही)।

सूर्य, चन्द्र, अग्नि और पृथ्वीमें अपने प्रभावको बतलानेके बाद भगवान् साधारण प्राणियोंकी दृष्टिसे अप्रकट वैश्वानर-अग्निमें अपने प्रभावका वर्णन करते हैं।

वैश्वानरः भूत्वा—वैश्वानर* (जठराग्नि) होकर।

इसी अध्यायके बारहवें श्लोकमें अग्निकी प्रकाशन-शक्तिमें अपने प्रभावका वर्णन करनेके बाद भगवान् इस श्लोकमें वैश्वानर-रूप अग्निकी पाचन-शक्तिमें अपने प्रभावका वर्णन करते हैं। तात्पर्य यह है कि अग्निके दोनों ही कार्य (प्रकाश करना और पचाना) भगवान्‌की ही शक्तिसे होते हैं। मनुष्योंकी भाँति लता, वृक्ष आदि स्थावर और पशु, पक्षी आदि जङ्गम प्राणियोंमें भी वैश्वानरकी पाचन-शक्ति कार्य करती है। लता, वृक्ष आदि (स्थावर) जो खाद्य, जल ग्रहण करते हैं, पाचन-शक्तिके द्वारा उसका पाचन होनेके फलस्वरूप ही उन लता-वृक्षादिकी वृद्धि होती है।

प्राणिनाम् देहम् आश्रितः—प्राणियोंके शरीरका आश्रय लेकर रहनेवाला (मैं)।

प्राणियोंके शरीरको पुष्ट करने तथा उनके प्राणोंकी रक्षा करनेके लिये भगवान् ही वैश्वानर (जठराग्नि)-रूपसे उन प्राणियोंके शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं। सम्पूर्ण जगत्‌के आश्रय-स्थान होनेपर भी परमस्वतन्त्र भगवान् आश्रित होकर सबके हितके लिये कार्य करते हैं—यह उनकी कितनी सुहृदता है!

---

* 'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते'
(बृहदारण्यक० ५ । ९ । १)

'जो यह पुरुषके भीतर है, यह अग्नि वैश्वानर है, जिससे यह अन्न, जो भक्षण किया जाता है, पकाया जाता है।'

'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गीता ५ । २९)

प्राणापानसमायुक्तः—प्राण और अपान-वायुसे संयुक्त होकर।

शरीरमें प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच प्रधान वायु एवं नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय— ये पाँच उपप्रधान वायु रहती हैं* । प्रस्तुत श्लोकमें भगवान् दो प्रधान

---

* इन दसों प्राणवायुके भिन्न-भिन्न कार्य इस प्रकार हैं—

(१) प्राण—इसका निवास-स्थान हृदय है । इसके कार्य हैं— श्वासको बाहर निकालना, भुक्त अन्नको पचाना इत्यादि ।

(२) अपान—इसका निवास-स्थान गुदा है । इसके कार्य हैं— श्वासको भीतर ले जाना, मल-मूत्रको बाहर निकालना, गर्भको बाहर निकालना इत्यादि ।

[प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ] ॥ (गीता ५ । २७)

(३) समान—इसका निवास-स्थान नाभि है । इसका कार्य है— पचे हुए भोजनके रसको सब अङ्गोंमें बाँटना ।

(४) उदान—इसका निवास-स्थान कण्ठ है । इसका कार्य है—मृत्युके समय सूक्ष्मशरीरको स्थूलशरीरसे बाहर निकालना तथा उसे दूसरे शरीर या लोकमें ले जाना ।

(५) व्यान—इसका निवास-स्थान सम्पूर्ण शरीर है । इसका कार्य है—शरीरके प्रत्येक भागमें रक्तका संचार करना ।

(६) नाग—इसका कार्य है—डकार लेना ।

(७) कूर्म—इसका कार्य है—नेत्रोंको खोलना व बन्द करना ।

(८) कृकर—इसका कार्य है—छींकना ।

(९) देवदत्त—इसका कार्य है—जम्हाई लेना ।

(१०) धनञ्जय—यह मृत्युके बाद भी शरीरमें रहता है, जिससे मृत शरीर फूल जाया करता है ।

वास्तवमें एक ही प्राणवायुके भिन्न-भिन्न कार्योंके अनुसार उपर्युक्त भेद माने गये हैं ।

वायु—प्राण और अपानका ही वर्णन करते हैं; क्योंकि ये दोनों वायु जठराग्निको प्रदीप्त करती हैं। अग्निसे पचे हुए भोजनके सूक्ष्म अंश या रसको शरीरके प्रत्येक अङ्गमें पहुँचानेका सूक्ष्म कार्य भी मुख्यतः प्राण और अपान-वायुका ही है।

भगवान् कहते हैं कि वैश्वानर-रूपसे मैं ही अन्नका पाचन करता हूँ; और प्राण तथा अपान-वायुसे मैं ही वैश्वानर-अग्निको प्रदीप्त करता हूँ तथा पचे हुए भोजनके रसको शरीरके समस्त अङ्गोंमें पहुँचाता हूँ। तात्पर्य यह है कि शरीरका आश्रय लेकर रहनेवाले वैश्वानर-अग्नि और प्राण तथा अपान-वायु भगवान्‌से ही शक्ति प्राप्त करते हैं।

चतुर्विधम् अन्नम् पचामि—चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ।

प्राणी चार प्रकारके अन्नका भोजन करते हैं—

(१) भक्ष्य—जो अन्न दाँतोंसे चबाकर खाया जाता है जैसे रोटी, पुआ आदि।

(२) भोज्य—जो अन्न केवल जिह्वासे विलोडन करते हुए निगला जाता है, जैसे खिचड़ी, हलवा, दूध, रस आदि।

(३) चोष्य—दाँतोंसे दबाकर जिस खाद्य-पदार्थका र चूसा जाता है, और बचे हुए असार भागको थूक दिया जाता है, जैं ऊख, आम आदि। वृक्षादि स्थावर योनियाँ इसी प्रकारसे अन्नग्र ग्रहण करती हैं।

(४) लेह्य—जो अन्न जिह्वासे चाटा जाता है, जैसे चटन शहद आदि।

अन्नके उपर्युक्त चार प्रकारोंमें भी एक-एकके अनेक भेद हैं। भगवान् कहते हैं कि उन चारों प्रकारके अन्नोंको वैश्वानर (जठराग्नि)—रूपसे मैं ही पचाता हूँ। अन्नका ऐसा कोई अंश नहीं है, जो मेरी शक्तिके बिना पच सके।

भोजन-सम्बन्धी कुछ बातें

साधकोंके लाभार्थ यहाँ भोजन-सम्बन्धी कुछ बातें बतलायी जाती हैं; जिनपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

शुद्ध कमाईके धनसे आया हुआ अन्न ही ग्रहण करना चाहिये। भोजनके पदार्थ शुद्ध, सात्त्विक हों। राजसी और तामसी अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिये*। सात्त्विक भोजन भी तृप्तिपूर्वक

---

* आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
(गीता १७ । ८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥
(गीता १७ । ९)

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं।'

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥
(गीता १७ । १०)

करनेपर 'राजसी' और अधिक करनेपर 'तामसी' हो जाता है। राजसी भोजन यदि कम किया जाय, तो वह 'सात्त्विक' हो जाता है।

भोजन बनानेवालेके भाव, विचार शुद्ध-सात्त्विक हों।

भगवान्‌को भोग लगानेके उद्देश्यसे भोजन बनाया जाय और उन्हींके प्रसादके रूपमें भोजन ग्रहण किया जाय।

भोजनके आदि और अन्तमें यह मन्त्र पढ़कर आचमन करे—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
(गीता ४।२४)

भोजनकी प्रत्येक वस्तुको उपर्युक्त मन्त्र पढ़ते हुए भगवान्‌के अर्पण करे

भोजनके आरम्भमें पहले पाँच ग्रास अग्रलिखित एक-एक मन्त्रको क्रमशः पढ़ते हुए ग्रहण करे—'ॐ प्राणाय स्वाहा', 'ॐ अपानाय स्वाहा', 'ॐ व्यानाय स्वाहा', 'ॐ समानाय स्वाहा' और 'ॐ उदानाय स्वाहा।' फिर भोजन-क्रियाको यज्ञ समझते हुए प्रत्येक ग्रास आहुतरूपमें ग्रहण करे।

भोजन करते समय ग्रास-ग्रासमें भगवन्नाम-जप करते रहना चाहिये। इससे अन्नदोष भी दूर हो जाता है।*

प्रत्येक ग्रासको बत्तीस बार चबाना चाहिये। इससे भोजन ठीक पचता है। षोडश महामन्त्र (हरे राम हरे राम०) का दो

'जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट (जूठा) है तथा जो अपवित्र (मांस, अंडे, मदिरा आदि) भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।'

* हरवले कवले कुर्वन् रामनामानुकीर्तनम्।
यः कश्चित् पुरुषोऽश्नाति सोऽन्नदोषैर्न लिप्यते॥

बार जप करनेसे बत्तीसकी संख्या भी पूरी हो जाती है और भगवन्नाम-जप भी हो जाता है।

रसनेन्द्रियको वशमें करनेपर सभी इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं* पर स्वाद-दृष्टिसे भोजन करनेपर (उत्तेजना आनेके कारण) इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं।

भोजनकी मात्रा न कम हो, न अधिक †। भोजन इतना करना चाहिये कि उदरका आधा भाग अन्नसे भरे, चौथाई भाग जलसे भरे और एक चौथाई भाग खाली रहे।

---

* तावज्जितेन्द्रियो न स्यादविजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद् रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥
(श्रीमद्भा० ११।८।२१)

† नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
(गीता ६।१६)

'हे अर्जुन! योग न तो बहुत खानेवालेका और न बिल्कुल न खानेवालेका तथा न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
(गीता ६।१७)

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
(गीता १८।५२)

भोजन करते समय मन प्रसन्न रहना चाहिये। मनमें (द्वेष, क्रोध आदिसे) अशान्ति या हलचल होनेपर भोजन नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसी अवस्थामें अन्नका ठीक पाक नहीं होता* ।

भोजनके अन्तमें आचमनके बाद ये श्लोक पढ़ने चाहिये—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

(गीता ३ । १४-१५)

फिर भोजनके पाचनके लिये 'अहं वैश्वानरो भूत्वा०' (गीता १५ । १४) श्लोक पढ़ते हुए मध्यमा अङ्गुलीसे नाभिको धीरे-धीरे घुमाना चाहिये ।†

सम्बन्ध—

पिछले तीन श्लोकोंमें अपनी प्रभावयुक्त विभूतियोंका वर्णन करके अब उस विषयका उपसंहार करते हुए भगवान् सब प्रकारसे जाननेयोग्य तत्त्व स्वयंको बतलाते हैं—

श्लोक—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

---

* ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन ।
विद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति ॥
(माधवनि

† भोजन-सम्बन्धी अन्य बातोंकी जानकारीके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'नित्यकर्मप्रयोग' तथा 'भवरोगकी रामबाण दवा' पुस्तकें देखनी चाहिये ।

भावार्थ—

(भगवान् कहते हैं कि) मैं सम्पूर्ण प्राणियों (संत, दुष्ट, धर्मात्मा, पापी, पशु-पक्षी आदि)के हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ। मुझसे ही स्मृति और ज्ञान होता है। संशय, भ्रम, विपरीतभाव आदि दोष मुझसे ही नष्ट होते हैं। सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य तत्त्व मैं ही हूँ। वेदोंके तत्त्वको जाननेवाला और वेदोंको बनानेवाला उनका समन्वय करनेवाला भी मैं ही हूँ। अतएव जिसने मुझे जान लिया उसने सब कुछ जान लिया अर्थात् उसके लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहा। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह मुझे ही जाननेका प्रयास करे, क्योंकि मुझे जाने बिना मनुष्य चाहे संसारभरको क्यों न जाने, संसार-बन्धनमें वह फँसा ही रहेगा। परिणाममें संसारकी सम्पूर्ण जानकारी व्यर्थ ही सिद्ध होगी।

अन्वय—

च, अहम्, सर्वस्य, हृदि, संनिविष्टः, मत्तः, स्मृतिः, ज्ञानम्, च, अपोहनम्, (भवति,) च, सर्वैः, वेदैः अहम्, एव, वेद्यः, वेदान्तकृत्, च, वेदवित्, अहम्, एव ॥ १५ ॥

पद-व्याख्या—

च—और।

पिछले तीनों श्लोकोंके साथ इस श्लोकका समन्वय करनेके लिये यहाँ 'च' पद आया है।

अहम् सर्वस्य हृदि संनिविष्टः—मैं सब (प्राणियों) के हृदयमें सम्यक् प्रकारसे स्थित हूँ।*

---

* द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(मुण्डक० ३। १। १; श्वेताश्वतर० ४। ६; ऋग्वेद १। १६४। २०; अथर्ववेद ९। १४। २०)

पिछले श्लोकोंमें अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेके पश्चात् अब भगवान् यह रहस्य प्रकट करते हैं कि मैं स्वयं सब प्राणियोंके हृदयमें विद्यमान हूँ । यद्यपि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि स्थानोंमें भी भगवान् विद्यमान हैं, परंतु हृदयमें वे विशेषरूपसे विद्यमान हैं।

हृदय शरीरका प्रधान अङ्ग है । सब प्रकारके भाव हृदयमें ही होते हैं । समस्त कर्मोंमें भाव ही प्रधान होता है । भावकी शुद्धिसे समस्त पदार्थ, क्रिया आदिकी शुद्धि हो जाती है । अतः महत्त्व भावका ही है, वस्तु, व्यक्ति, कर्म आदिका नहीं । वह भाव हृदयमें होनेसे हृदयकी बहुत महत्ता है । हृदय सत्त्वगुणका कार्य है, इसलिये भी भगवान् हृदयमें विशेषरूपसे रहते हैं।

उपर्युक्त पदोंमें भगवान् मानो यह कह रहे हैं कि मैं प्रत्येक मनुष्यके अत्यन्त समीप उसके हृदयमें रहता हूँ; अतः किसी भी साधकको (मुझसे दूरी अथवा वियोगका अनुभव करते हुए भी) मेरी प्राप्तिसे निराश नहीं होना चाहिये । पापी-पुण्यात्मा, मूर्ख-पण्डित, निर्धन-धनवान्, रोगी-नीरोग आदि कोई भी स्त्री-पुरुष किसी भी जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिमें क्यों न हो, भगवत्प्राप्तिका वह पूर्ण अधिकारी है । आवश्यकता केवल भगवत्प्राप्तिकी ऐसी तीव्र अभिलाषा, लगन, व्याकुलताकी है, जिसमें भगवत्प्राप्तिके बिना रहा न जाय।

'सदा साथ रहनेवाले तथा परस्पर सख्यभाव रखनेवाले दो पक्षी—जीवात्मा एवं परमात्मा एक ही वृक्ष—शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनोंमेंसे एक (जीवात्मा) तो उस वृक्षके कर्मफलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है; किंतु दूसरा (परमात्मा) उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है।'

परमात्मा सर्वव्यापी अर्थात् सब जगह समानरूपसे परिपूर्ण होनेपर भी हृदयमें प्राप्त होते हैं। जैसे गायके सम्पूर्ण शरीरमें दूध व्याप्त होनेपर भी वह स्तनोंसे ही प्राप्त होता है अथवा पृथ्वीमें सर्वत्र जल रहनेपर भी वह कुएँ आदिसे ही प्राप्त होता है, वैसे ही सर्वव्यापी होनेपर भी परमात्माका उपलब्धि-स्थान 'हृदय' ही है*। इसी प्रकार गीताके तीसरे अध्यायमें परमात्माको सर्वगत बतलाते हुए उसे 'यज्ञ' (कर्तव्य-कर्म) में स्थित कहा गया है†। इसका तात्पर्य यह है कि सर्वगत (सर्वव्यापी) होनेपर भी परमात्मा 'यज्ञ' (कर्तव्य-कर्म) में प्राप्त होते हैं। ऐसे ही सूर्य, चन्द्र, अग्नि, पृथ्वी, वैश्वानर आदि सबमें व्याप्त होनेपर भी परमात्मा 'हृदय' में प्राप्त होते हैं।

परमात्मप्राप्ति-सम्बन्धी विशेष बात

हृदयमें निरन्तर स्थित रहनेके कारण परमात्मा वस्तुतः प्रत्येक मनुष्यको प्राप्त हैं; परंतु जड़ता (संसार) से माने हुए सम्बन्धके कारण जड़ताकी ओर ही दृष्टि रहनेसे नित्यप्राप्त परमात्मा अप्राप्त प्रतीत हो रहा है अर्थात् उसकी प्राप्तिका अनुभव नहीं हो रहा है। जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होते ही सर्वत्र विद्यमान (नित्यप्राप्त) परमात्मतत्त्व स्वतः अनुभवमें आ जाता है।

---

* यही भाव गीतामें अन्यत्र भी आया है; जैसे—

'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' (१३ । १७); 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (१८ । ६१)

† तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ (गीता ३ । १५)

परमात्मप्राप्तिके लिये जो सत्-कर्म, सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन किये जाते हैं, उनमें जड़ता (असत्) का आश्रय रहता ही है। कारण यह है कि जड़ता (स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर) का आश्रय लिये बिना इनका होना सम्भव ही नहीं है। वास्तवमें इनकी सार्थकता जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करानेमें ही है। जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद तभी होगा, जब ये (सत्-कर्म, सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन) केवल संसारके हितके लिये ही किये जायँगे, अपने लिये कदापि नहीं।

किसी विशेष साधन, गुण, योग्यता, लक्षण आदिके बदलेमें परमात्मप्राप्ति होगी—यह बिल्कुल गलत धारणा है। किसी मूल्यके बदलेमें जो वस्तु प्राप्त होती है, वह उस मूल्यसे कम मूल्यकी ही होती है—यह सिद्धान्त है। अतः यदि किसी विशेष साधन, योग्यता आदिके द्वारा ही परमात्मप्राप्तिका होना माना जाय, तो परमात्मा उस साधन, योग्यता आदिसे कम मूल्यके (कमजोर) ही सिद्ध होते हैं, जबकि परमात्मा किसीसे कम मूल्यके नहीं हैं*। इसलिये वे किसी साधन आदिसे खरीदे नहीं जा सकते। इसके अतिरिक्त यदि किसी मूल्य (साधन, योग्यता आदि) के बदलेमें परमात्माकी प्राप्ति मानी जाय, तो उनसे हमें लाभ भी क्या होगा ? क्योंकि उनसे अधिक मूल्यकी वस्तु (साधन आदि) तो हमारे पास पहलेसे है ही।

जैसे सांसारिक पदार्थ कर्मोंसे मिलते हैं, ऐसे परमात्माकी प्राप्ति कर्मोंसे नहीं होती, क्योंकि परमात्मप्राप्ति किसी कर्मका फल नहीं है।

---

* न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥
(गीता ११ । ४३)

प्रत्येक कर्मकी उत्पत्ति अहंभावसे होती है और परमात्मप्राप्ति अहंभावके मिटनेपर होती है । कारण यह कि अहंभाव कृति (कर्म) और परमात्मा कृति-रहित हैं । कृतिरहित तत्त्वको किसी कृतिसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है **'नास्त्यकृतः कृतेन'** । आशय यह है कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि जड़-पदार्थोंके द्वारा नहीं, अपितु जड़ताके त्यागसे होती है । जबतक मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, देश, काल, वस्तु आदिका आश्रय है, तबतक एक परमात्माका आश्रय नहीं हो सकता । मन, बुद्धि आदिके आश्रयसे परमात्मप्राप्ति होगी—यही साधककी मूल भूल है । यदि जड़ताके आश्रय और विश्वासका त्याग हो जाय एवं एकमात्र परमात्माका ही आश्रय और विश्वास हो जाय, तो परमात्मप्राप्तिमें विलम्ब नहीं हो सकता ।

मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् च अपोहनम् (भवति)—मुझसे (ही) स्मृति, ज्ञान और अपोहन (भ्रम, संशय आदि दोषोंका नाश) होता है ।

किसी बातकी भूली हुई जानकारीका (किसी कारणसे) पुनः प्राप्त होना 'स्मृति' कहलाती है । स्मृति और चिन्तन—दोनोंमें भेद है । नयी बातका 'चिन्तन' और पुरानी बातकी 'स्मृति' होती है । अतः चिन्तन संसारका और स्मृति परमात्माकी होती है; क्योंकि संसार पहले नहीं था और परमात्मा पहले (अनादिकाल) से हैं । स्मृतिमें जो शक्ति है, वह चिन्तनमें नहीं है । स्मृतिमें कर्तापनका भाव कम रहता है, जबकि चिन्तनमें कर्तापनका भाव अधिक है ।

एक स्मृति की जाती है और एक स्मृति होती है। जो स्मृति की जाती है, वह 'बुद्धि' में जो स्मृति होती है, वह 'स्वयं' में होती है। होनेवाली स्मृति जड़तासे तत्काल सम्बन्ध-विच्छेद करा देती है। भगवान् यहाँ कहते हैं कि यह (होनेवाली) स्मृति मुझसे ही होती है।

परमात्माका अंश होते हुए भी जीव भूलसे परमात्मासे विमुख हो जाता है और अपना सम्बन्ध संसारसे मानने लगता है। इस भूलका नाश होनेपर 'मैं भगवान्‌का ही हूँ, संसारका नहीं' ऐसा साक्षात् अनुभव हो जाना ही 'स्मृति' है*। शास्त्रमें भी 'अनुभव-जन्यं ज्ञानं स्मृतिः' आता है†। स्मृतिमें कोई नया ज्ञान या अनुभव नहीं होता, अपितु केवल विस्मृति (मोह) का नाश होता है। भगवान्‌से हमारा वास्तविक सम्बन्ध है। इस वास्तविकताका प्रकट होना ही स्मृतिका प्राप्त होना है।

जीवमें निष्कामभाव (कर्मयोग)-स्वरूप—बोध (ज्ञानयोग) और भगवत्प्रेम (भक्तियोग)—तीनों स्वतः विद्यमान हैं। जीवको (अनादिकालसे) इनकी विस्मृति हो गयी है, एक बार इनकी

---

* साक्षात् भगवान्‌के मुखारविन्दसे निकली हुई श्रीमद्भगवद्गीताके श्रवणसे अर्जुनको इसी स्मृतिकी प्राप्ति हुई थी—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

† महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः। (योगदर्शन १। ११)

'अनुभव किये हुए विषयका न छिपना अर्थात् प्रकट हो जाना स्मृति है।'

स्मृति हो जानेपर फिर कभी विस्मृति नहीं होती* । कारण यह है कि यह स्मृति 'स्वयं' में जाग्रत् होती है । 'बुद्धि' में होनेवाली लौकिक स्मृति (बुद्धिके क्षीण होनेपर) नष्ट भी हो सकती है, पर 'स्वयं' में होनेवाली स्मृति कभी नष्ट नहीं होती ।

किसी विषयकी जानकारीको 'ज्ञान' कहते हैं । लौकिक और पारमार्थिक जितना भी ज्ञान है, वह सब ज्ञानस्वरूप परमात्माका आभास मात्र है । अतः ज्ञानको भगवान् अपनेसे ही होनेवाला बतलाते हैं । वास्तवमें ज्ञान वही है, जो 'स्वयं' से जाना जाय । अनन्त, पूर्ण और नित्य होनेके कारण इस ज्ञानमें कोई सन्देह या भ्रम नहीं होता । यद्यपि इन्द्रिय और बुद्धि-जन्य ज्ञान भी 'ज्ञान' कहलाता है, तथापि सीमित, अल्प (अपूर्ण) तथा परिवर्तनशील होनेके कारण इस ज्ञानमें सन्देह या भ्रम रहता है । जैसे, नेत्रोंसे देखनेपर सूर्य अत्यन्त बड़ा होते हुए भी (आकाशमें) छोटा-सा दीखता है । बुद्धिसे जिस बातको पहले ठीक समझते थे, बुद्धिके विकसित अथवा शुद्ध होनेपर वही बात गलत दीखने लग जाती है । तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय और बुद्धि-जन्य ज्ञान करण-सापेक्ष और अल्प होता है । अल्प ज्ञान ही 'अज्ञान' कहलाता है । इसके विपरीत 'स्वयं' का ज्ञान किसी

---

* यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

(गीता ४ । ३५)

'जिसे जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेष भावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा ।'

करण (इन्द्रिय, बुद्धि आदि) की अपेक्षा नहीं रखता और वह सदा पूर्ण होता है। वास्तवमें इन्द्रिय और बुद्धि-जन्य ज्ञान भी 'स्वयं'के ज्ञानसे प्रकाशित होते हैं अर्थात् सत्ता पाते हैं।

संशय, भ्रम, विपर्यय (विपरीत भाव), तर्क-वितर्क आदि दोषोंके दूर होनेका नाम 'अपोहन' है। भगवान् कहते हैं कि ये (संशय आदि) दोष भी मेरी कृपासे ही दूर होते हैं।

शास्त्रोंकी बातें सत्य हैं या लौकिक बातें? भगवान्को किसने देखा है? संसार ही सत्य है इत्यादि संशय और भ्रम भगवान्की कृपासे ही मिटते हैं। सांसारिक पदार्थोंमें अपना हित दीखना, उनकी प्राप्तिमें सुख दीखना, प्रतिक्षण नष्ट होनेवाले संसारकी सत्ता दीखना आदि विपरीत भाव भी भगवान्की कृपासे ही दूर होते हैं। गीतोपदेश-के अन्तमें अर्जुन भी भगवान्की कृपासे ही अपने मोहका नाश, स्मृतिकी प्राप्ति और संशयका नाश होना स्वीकार करते हैं—

> नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
> स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥
> (गीता १८। ७३)

विशेष बात

मनुष्यको मुख्यरूपसे दो शक्तियाँ मिली हुई हैं—ज्ञान (विवेक)-शक्ति और क्रिया-शक्ति। इन दोनोंमेंसे किसी एक शक्तिका भी भलीभाँति सदुपयोग करनेसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है।

मनुष्यको जो विवेकशक्ति मिली है, वह उसे अपने कर्मोंसे नहीं, अपितु भगवान्की कृपासे ही मिली है। कारण यह है कि

विवेकशक्तिसे ही शुभ और अशुभ कर्मोंका ज्ञान होता है और फिर उन कर्मोंमें प्रवृत्ति या उनसे निवृत्ति होती है। यदि विवेक उन कर्मोंका फल होता, तो सबसे पहले (विवेक-प्राप्तिसे पूर्व) वह शुभ कर्म कैसे करता ? अतः विवेककी प्राप्तिमें भगवान्‌की अहेतुकी कृपा ही कारण है। इस भगवत्प्रदत्त विवेकका सदुपयोग करना मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है।

मनुष्यमात्रमें यह विवेक है कि पुरुष (शरीरी) और प्रकृति (शरीर) दो हैं। पुरुष चेतन और अविनाशी है, जबकि प्रकृति जड़ और विनाशी है। पुरुष सदैव अचल (एकरस) रहता है, जबकि प्रकृतिमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। परंतु भूलसे पुरुष ('स्वयं') प्रकृतिके कार्य शरीरको 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मानकर अपनेको सर्वत्र परिपूर्ण अविनाशी परमात्मसत्तासे पृथक् मान लेता है और 'मैं' बन जाता है। वह अपनेको 'मैं'-रूपसे और प्रकृतिको 'यह'-रूपसे मानता है।

'मैं' (अहम्) और 'यह' (इदम्') भिन्न-भिन्न होते हैं। जो जाननेमें आता है, उसे 'यह' और जो ('यह' को) जानता है, उसे 'मैं' कहते हैं। अतः 'यह'-रूपसे दीखनेवाला कभी 'मैं' नहीं हो सकता। 'यह'-रूपसे दीखनेवाले संसारके पदार्थ, व्यक्ति, परिस्थिति, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सब 'यह'के अन्तर्गत आते हैं।

सामान्य ज्ञानके अन्तर्गत 'मैं' भी 'यह' के अर्थमें ही है। तात्पर्य यह है कि 'मैं' और 'यह' (अर्थात् अहंता और ममता)

*

दोनों ही एक सामान्य प्रकाशक ('स्वय') से प्रकाशित होते हैं; दोनोंका ही आधार एक है। यदि माने हुए 'मैं' और 'यह' में एकता न होती, तो 'मैं' का 'यह' की तरफ आकर्षण न होता। सयोग-जन्य सुखासक्तिके कारण ही 'मैं' और 'यह' भिन्न प्रतीत होते हैं।

'स्वय' निरपेक्ष प्रकाशक है और 'मैं' सापेक्ष-प्रकाशक है। 'यह' का प्रकाशक 'स्वय' जब (रागपूर्वक) 'यह' से अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह 'मैं' बनता है। इस प्रकार ससारके सम्बन्धसे ही 'मैं' की सत्ता प्रतीत होती है, जो ससारसे सम्बन्ध-विच्छेद होने-पर मिट जाती है। ससारसे सम्बन्ध होनेका कारण 'राग' है। 'राग' की उत्पत्ति अविवेकसे होती है। जब साधक अपने विवेकको महत्त्व देता है तब अविवेक मिट जाता है। अविवेकके मिटते ही 'राग'का नाश हो जाता है। रागके नष्ट होते ही ससारसे माने हुए सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद हो जाता है और साधक मुक्त हो जाता है। यही 'ज्ञान (विवेक)-शक्ति'का सदुपयोग है।

मनुष्यके पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो कुछ भी ('यह' कहलानेवाले) पदार्थ हैं, वे सब-के-सब उसे ससारसे ही मिले हैं। उन मिले हुए पदार्थोंको 'अपना' और 'अपने लिये' मानने-से मनुष्य बँधता है। जब साधक ससारसे मिले हुए पदार्थोंको 'अपना' और 'अपने लिये' न मानते हुए उन्हें (ससारका और ससारके लिये ही मानकर) ससारकी ही सेवामें लगाता है और बदलेमें ससारसे कुछ नहीं चाहता, तब उसका ससारसे माने हुए सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद हो जाता है और वह सुगमतापूर्वक मुक्त

हो जाता है। साधकको सांसारिक क्रियाएँ तो अपने लिये करनी ही नहीं हैं, पारमार्थिक क्रियाएँ (जप, ध्यान आदि) भी अपने लिये न करके संसारके हितके लिये ही करनी हैं। कारण यह कि संसारके हितमें ही अपना हित निहित है। संसारके हितसे अपना हित अलग माननेसे परिच्छिन्नता या एकदेशीयता ही पोषित होती है। इस प्रकार अपने लिये कुछ भी न करके संसारमात्रके हितके लिये ही निष्कामभाव-पूर्वक सम्पूर्ण कर्म करना ही 'क्रियाशक्ति'का सदुपयोग है।

ज्ञानशक्तिका सदुपयोग 'ज्ञानयोग' और क्रियाशक्तिका सदुपयोग 'कर्मयोग कहलाता है। ज्ञानयोगके साधक 'ज्ञाननिष्ठा'को एवं कर्मयोगके साधक 'योगनिष्ठा'को प्राप्त होते हैं।* इसलिये भगवान्ने गीतामें भक्तिकी निष्ठा† नहीं बतलायी। भक्ति-निष्ठा (स्थिति) अतीत है।‡ वह ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिपर आश्रित न होकर भगवान्पर आश्रित है। अतः भक्त ज्ञान या क्रिया-निष्ठ न होकर 'भगवन्निष्ठ' होता है। भक्त किसी निष्ठाके परायण नहीं, अपितु भगवान्के परायण होता है। इसीलिये भगवान्ने गीतामें भक्तके लिये

* लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(गीता ३। ३)

† सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा। फलरूपत्वात्।

(नारदभक्तिसूत्र २५-२६)

'वह (परमप्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा भक्ति) तो कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठतर है; क्योंकि वह फलरूपा है।'

‡ साधककी (साधनके) आरम्भसे लेकर अन्ततककी स्थिति 'निष्ठा' कहलाती है। इसके बाद उसे परमपद अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति होती है।

'मत्परम', 'मत्पर.', 'मत्परायण.', 'मामाश्रित्य' आदि पदोका प्रयोग किया है और अपने भक्तको सम्पूर्ण योगियोंमें परमश्रेष्ठ योगी माना है* । भक्ति निष्ठा नहीं अपितु स्वाभाविकता है । भगवान्‌का ही अंश होनेके कारण जीवका भगवान्‌के प्रति आकर्षण (प्रेम) स्वाभाविक है । वास्तवमें भक्ति (प्रेम) स्वय भगवत्स्वरूप ही है ।

ज्ञानयोग और कर्मयोगके साधक भी यदि चाहें तो भगवत्प्रेम (भक्ति) प्राप्त कर सकते हैं । परतु प्रारम्भमें प्रेम (भक्ति) की प्राप्तिका लक्ष्य अथवा संस्कार न होकर केवल ससारसे मुक्त होनेका लक्ष्य होनेसे वे अपनी मुक्तिमें ही सन्तोष कर लेते हैं । फलस्वरूप ('मैं मुक्त हूँ' इस प्रकार अपनी मुक्तिका भाव रहनेपर) उनमें 'अहम्' की गन्ध अर्थात् अपना सूक्ष्म व्यक्तित्व रह सकता है, जो भगवत्प्रेम हो जानेपर सर्वथा मिट जाता है ।

जब 'मैं' था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं ।
प्रेम गली अति साँकरी, ता में दो न समाहिं ॥

'मैं' (अहम्) का सर्वथा नाश हुए बिना परिच्छिन्नताका अत्यन्ताभाव नहीं होता । जबतक परिच्छिन्नता (अपना किञ्चिन्मात्र व्यक्तित्व) है, तबतक पूर्णत्वकी प्राप्ति नहीं होती । पूर्णत्व भगवत्प्रेम-की प्राप्तिमें निहित है ।

---

* योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(गीता ६ । ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझे निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है ।'

वास्तवमें अपने स्वरूपकी स्थिति (मुक्ति) में भी सदा संतोष नहीं होता, अतः एक ऐसी स्थिति आती है, जब मुक्तिमें भी सन्तोष नहीं होता, तब स्वतः भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है । परंतु प्रारम्भसे ही भगवत्प्रेमकी ओर दृष्टि रहनेसे तथा भगवान्‌के ही आश्रित रहनेसे भक्तमें 'अहम्'का किञ्चित् अंश भी रहनेकी सम्भावना नहीं रहती । अतः वह भगवत्प्रेमको सुगमतापूर्वक एवं तत्काल प्राप्त कर लेता है । तात्पर्य यह है कि भगवत्प्रेमकी प्राप्ति (सिद्धावस्थामें) भक्तको तत्काल एवं ज्ञानीको कुछ विलम्बसे होती है ।

शङ्का—जिसे बोध हो चुका है; वह (अपने स्वरूपमें स्थित) महापुरुष अपनेसे भिन्न प्रेमास्पदको कैसे मानेगा ? क्योंकि अपनेसे भिन्न प्रेमास्पदको माननेसे तो द्वैतभाव या परिच्छिन्नता ही पोषित होगी ।

समाधान—द्वैतभाव या परिच्छिन्नता 'अहम्' से पोषित होती है । भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें उस 'अहम्' का सर्वथा नाश हो जाता है । अतएव बोध होने या मुक्त होनेके पश्चात् (भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें) प्रतीत होनेवाला द्वैत भी वास्तवमें अद्वैत (अथवा उससे भी विलक्षण) ही होता है । प्रेम सदा एकता (अभिन्नता या अद्वैत) में ही होता है अर्थात् प्रेम उसीसे होता है, जिससे किसी प्रकारका भेद न हो; जिसका त्याग न हो सके । प्रेममें यह विलक्षणता है कि उसमें एक ही तत्त्व दो रूपोंमें प्रतीत होता है । जीवको परमात्मासे तात्त्विक एवं स्वरूपगत एकता है, इसलिये प्रेम परमात्मासे ही होता है, अन्य किसीसे कदापि नहीं । संसारसे माने हुए सम्बन्धमें वह 'प्रेम' ही 'आसक्ति'के रूपमें दीखने लगता है ।

भगवत्प्रेमको प्राप्त करना ही मानवका प्रधान और अन्तिम लक्ष्य है। अपनी मानी हुई पृथक् सत्ताको भगवत्प्रेममें परिणत करके प्रेमास्पद (भगवान्) से अभिन्न होनेमें ही उसकी सच्ची पूर्णता है। प्रेमकी प्राप्ति करानेके लिये ही भगवान् अपनी प्रभावयुक्त विभूतियोंका वर्णन करते हुए अपनेको सबके हृदयमें स्थित बतलाते हैं।

भगवत्प्रेम-सम्बन्धी मार्मिक बात

भगवत्प्रेम (करण-निरपेक्ष होनेके कारण) अनिर्वचनीय है; गूँगेके स्वादकी तरह—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् । मूकास्वादनवत् ।

(नारदभक्तिसूत्र ५१-५२)

इस प्रेममें दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि सभी भाव समाप्त हो जाते हैं। यह प्रेम गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़नेवाला, विच्छेदरहित, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और अनुभवरूप है—

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् । (नारदभक्तिसूत्र ५४)

इस प्रेममें भक्त और भगवान् दो दीखनेपर भी एक हैं और एक होनेपर भी दो हैं। प्रेममें भक्ति, भक्त और भगवान् (अथवा प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद) तीनों अभिन्न हो जाते हैं। एक प्रेमके सिवा कुछ भी नहीं रहता। सब कुछ प्रेममय हो जाता है। करण-निरपेक्षता होनेके कारण यहाँ कर्मकर्तृविरोध भी नहीं है। यहाँ भक्त और भगवान् दोनों ही एक-दूसरेकी दृष्टिमें भक्त और भगवान् हैं। दोनों ही एक-दूसरेमें निवास करते हैं। दोनोंकी यह 'अभिन्नता'

वेदान्तके 'अद्वैत' से भी अत्यन्त विलक्षण होती है।* दोनों ही एक दूसरेको प्रेमरस प्रदान करते हैं।'

यह प्रेम क्षति, पूर्ति, निवृत्ति और अरुचिसे सर्वथा रहित है। योग (मिलन) और वियोग (विरह) एक ही प्रेमरूप नदीके दो तट हैं। योग और वियोग दोनों ही चिन्मय और प्रेमरसको बढ़ानेवाले होते हैं। इस प्रेममें योग भी वियोग है और वियोग भी योग है। तत्त्वतः केवल योग-ही-योग (नित्ययोग) है, वियोग है ही नहीं। योगकी अवस्थामें 'कहीं वियोग न हो जाय!' और वियोगकी अवस्थामें 'कब योग होगा' इस अत्युत्कट चिन्तनके रूपमें 'नित्ययोग' रहता है। इस विलक्षण प्रेमका रसास्वादन करनेके लिये एक ही परमात्मतत्त्व भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होकर लीला करता है—**'एकोऽहं बहु स्याम्'**; कारण यह है कि एकमें प्रेम-लीला नहीं होती—**'एकाकी न रमते।'**

सृष्टिके आरम्भमें एक ही परमात्मा प्रेमकी लीला करनेके लिये श्रीकृष्ण और श्रीराधाके रूपसे प्रकट हुए।† जैसे वे श्रीराधा-रूपसे प्रकट हुए, वैसे ही वे जीव-रूपसे भी प्रकट हुए। श्रीराधा तो भगवान्‌के ही सम्मुख रहीं, पर जीव भगवान्‌से विमुख हो गया!

* 'अद्वैत' में पहले द्वैत होकर फिर (द्वैत मिटनेपर) अद्वैत होता है, जब कि 'प्रेम' में पहले अद्वैत होकर फिर द्वैत होता है।

† येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्।
(श्रीराधातापनीयोपनिषद्)

'जो ये राधा और जो ये कृष्ण रसके सागर हैं, वे एक ही हैं, पर लीलाके लिये दो रूप बने हुए हैं।'

जीवसे यही गलती हुई कि उसने प्रेम-लीलाके खिलौनो—प्राकृतिक पदार्थोंमें अपनापन (राग) कर लिया; उनसे अपना सम्बन्ध मान लिया। इसी कारण उसे भगवान्‌से अपनी स्वाभाविक अभिन्नता और प्रेमका अनुभव नहीं हो रहा है।

श्रीराधाका भगवान् श्रीकृष्णसे संयोग हो, तब भी वे एक हैं और वियोग हो, तब भी वे एक हैं। इसके विपरीत जीवका प्रकृतिसे संयोग हो, तब भी वे दो हैं और वियोग हो, तब भी वे दो हैं। वास्तवमें प्रकृतिसे संयोग माननेपर भी जीवका प्रकृतिसे कभी संयोग नहीं हो सकता और भगवान्‌से वियोग माननेपर भी जीवका भगवान्‌से कभी वियोग नहीं हो सकता। जीवमात्रका भगवान्‌से 'नित्ययोग' है। इस नित्ययोगका अनुभव करनेके लिये प्रकृतिसे माने हुए सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद करना अत्यावश्यक है।

वास्तवमें प्रकृतिसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद तो अपने-आप ही निरन्तर हो रहा है, क्योंकि प्रकृति निरन्तर परिवर्तनशील (चल) और जीव निरन्तर अपरिवर्तनशील (अचल) है। परन्तु प्राकृतिक पदार्थोंमें सुखबुद्धि होनेके कारण जीवका प्रकृतिसे माने हुए सम्बन्धमें सद्भाव हो जाता है। इसीलिये प्रकृतिसे स्वाभाविक नित्य-वियोग और भगवान्‌से स्वाभाविक नित्य-योगका अनुभव नहीं हो पाता। जब जीवका संसारमें कहीं भी अपनापन नहीं रहता, केवल भगवान्‌में ही पूर्ण अपनापन हो जाता है, तब उसे भगवान्‌से अपने स्वाभाविक नित्य-योग, प्रेमका अनुभव हो जाता है।

भगवान्‌में 'प्रेम' है, जीवमें 'अपनापन' करने (अपना सम्बन्ध जोडने) की योग्यता। भगवान्‌में अपनापन करनेसे जीवको भगवान्-

की अहैतुकी कृपासे प्रेम प्राप्त होता है। इस प्रकार भगवान्‌से प्रेम पाकर ही जीव भगवान्‌से प्रेम करता है* और उसीसे भगवान् रीझ जाते हैं। तभी कहा गया है—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं।
(विनयपत्रिका १६२)

प्रेमका तात्पर्य 'देने' में है। भगवान्‌में प्रेम इसीलिये है कि उन्होंने अपने-आपको सभी प्राणियोंको पूरा-का-पूरा दे रक्खा है—

'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' (गीता १३ । १७)
'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः' (गीता १५ । १५)
'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (गीता १८ । ६१)

जीवमें प्रेम इसीलिये नहीं है कि उसे प्रेम और प्रेमास्पदकी आवश्यकता है। कारण कि संसारसे माने हुए सम्बन्धके कारण जीव अपनेमें अभावका अनुभव करता है, जब कि भगवान्‌में कोई अभाव न होनेसे उन्हें कोई आवश्यकता नहीं है। अतएव भगवान् प्रेम देते हैं और जीव प्रेम लेता है। प्रेम प्राप्त होनेके बाद जीव भी भगवान्‌को प्रेम देता है।

अपनापनके समान न कोई बल है, न कोई योग्यता है, न कोई पवित्रता है, न कोई विलक्षणता है और न कोई अधिकार ही है। अपनापनमें इतना बल है कि प्रेमास्पद (भगवान्)

---

* श्रुति भी कहती है—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।
(तैत्तिरीयोपनिषद् २ । ७)

स्वयं खिंचे चले आते हैं। इतना बल किसी भी अन्य साधनमें नहीं है।

च सर्वैः वेदैः अहम् एव वेद्यः—और सम्पूर्ण वेदों (पुराण, स्मृति आदि वेदानुकूल शास्त्रों) के द्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ।

यहाँ 'सर्वैः' पद वेद एवं वेदानुकूल सम्पूर्ण शास्त्रोंका वाचक है। सम्पूर्ण शास्त्रोंका एकमात्र तात्पर्य परमात्माका वास्तविक ज्ञान कराने अथवा उनकी प्राप्ति करानेमें है।

गीतामें भी यह बात आयी है कि वेद गुणमय संसारका वर्णन करते हैं और वेदोंमें श्रद्धा रखनेवाले सकाम मनुष्य भोगोंमें रचे-पचे रहते हैं*; परन्तु प्रस्तुत श्लोकमें (उपर्युक्त पदोंसे) भगवान् यह बात स्पष्ट करते हैं कि वेदोंका वास्तविक तात्पर्य मेरी प्राप्ति करानेमें ही है, सांसारिक भोगोंकी प्राप्ति करानेमें नहीं। श्रुतियोंमें सकामभावका विशेष वर्णन आनेका यह कारण भी है कि संसारमें सकाम मनुष्योंकी संख्या अधिक रहती है। इसलिये श्रुति (सबकी माता होनेसे) उनका भी पालन करती है।

---

* यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
(गीता २। ४२)

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
(गीता २। ४५)

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
(गीता ९। २०)

जाननेयोग्य एकमात्र परमात्मा ही हैं, जिन्हें जान लेनेपर फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। परमात्माको जाने बिना संसारको कितना ही क्यों न जान लें, जानकारी कभी पूरी नहीं होगी, सदा अधूरी ही रहेगी।* अर्जुनमें भगवान्‌को जाननेकी विशेष जिज्ञासा थी। इसीलिये भगवान् (उसे सन्तुष्ट करते हुए) कहते हैं कि वेदादि सम्पूर्ण शास्त्रोंके द्वारा जाननेयोग्य मैं स्वयं तुम्हारे सामने बैठा हूँ। तुम्हें बहुत जाननेसे क्या प्रयोजन है। भगवान्‌को जाननेके बाद कुछ जानना शेष नहीं रहता (गीता ७। २)।†

वेदान्तकृत्—वेदोंके वास्तविक तत्त्वका निर्णय करनेवाला। भगवान्‌से ही वेद प्रकट हुए हैं‡। अतः वे ही वेदोंके

---

* साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते।
वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः॥
(महाभारत, शान्ति० ३१८। ५०)

'साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़कर भी जो वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य परमात्माको नहीं जानता, वह मूढ़ केवल वेदोंका बोझ ढोनेवाला है।'

† अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(गीता १०। ४२)

तेरहवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें 'ज्ञेयम्' पद देकर भगवान्‌ने अपनेको ही जाननेयोग्य बतलाया है।

‡ कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
(गीता ३। १५)

'विहित कर्मोंको वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान।'

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ (गीता १७। २३)

अन्तिम सिद्धान्तको ठीक-ठीक बतलाकर वेदोंमें प्रतीत होनेवाले विरोधोंका भलीभाँति समन्वय कर सकते हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि (वेदोंका पूर्ण वास्तविक ज्ञाता होनेके कारण) मैं ही वेदोंके यथार्थ तात्पर्यका निर्णय करनेवाला हूँ।

च—और।

वेदवित् अहम् एव—वेदोंको जाननेवाला मैं ही हूँ।

वेदोंके अर्थ, भाव आदिको भगवान् ही यथार्थरूपसे जानते हैं। वेदोंमें कौन-सी बात किस भाव या उद्देश्यसे कही गयी है; वेदोंका यथार्थ तात्पर्य क्या है इत्यादि बातें भगवान् ही पूर्णरूपसे जानते हैं; क्योंकि भगवान्‌से ही वेद प्रकट हुए हैं।

वेदोंमें भिन्न-भिन्न विषय होनेके कारण अच्छे-अच्छे विद्वान् भी एक निर्णय नहीं कर पाते।* अतएव वेदोंके यथार्थ ज्ञाता भगवान्‌का आश्रय लेनेसे ही वे वेदोंका तत्त्व जान सकते हैं और 'श्रुति-विप्रतिपत्ति' से मुक्त हो सकते हैं।

इस (पन्द्रहवें) अध्यायके प्रथम श्लोकमें भगवान्‌ने संसार-वृक्षको तत्त्वसे जाननेवाले मनुष्यको 'वेदवित्' कहा था। अब इस श्लोकमें भगवान् स्वयंको 'वेदवित्' कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि संसारके यथार्थ तत्त्वको जान लेनेवाला महापुरुष भगवान्‌से अभिन्न हो

'उस परमात्मासे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये।'

* श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥
(गीता २। ५३)

जाता है। संसारके यथार्थ तत्त्वको जाननेका अभिप्राय है—'संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और परमात्माकी ही सत्ता है'—इस प्रकार जानते हुए संसारसे माने हुए सम्बन्धको त्यागकर अपना सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ना; संसारका आश्रय त्यागकर भगवान्‌के आश्रित हो जाना।

प्रकरणकी विशेष बात

भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीताके चार अध्यायोंमें भिन्न-भिन्न रूपोंसे अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है—

सातवें अध्यायमें आठवें श्लोकसे बारहवें श्लोकतक सृष्टिके प्रधान-प्रधान पदार्थोंमें कारणरूपसे सत्रह विभूतियोंका वर्णन करके भगवान्‌ने अपनी सर्वव्यापकता और सर्वरूपता सिद्ध की है।

नवें अध्यायमें सोलहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक क्रिया, भाव, पदार्थ आदिमें कार्य-कारणरूपसे सैंतीस विभूतियोंका वर्णन करके भगवान्‌ने अपनेको सर्वव्यापक बतलाया है।

दसवें अध्यायका तो नाम ही 'विभूतियोग' है। इस अध्यायमें सर्वप्रथम चौथे और पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने प्राणियोंके भावोंके रूपमें बीस विभूतियोंका और छठे श्लोकमें व्यक्तियोंके रूपमें पचीस विभूतियोंका वर्णन किया है। फिर बीसवें श्लोकसे उन्तालीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने बयासी प्रधान विभूतियोंका विशेषरूपसे वर्णन किया है।

इस पंद्रहवें अध्यायमें बारहवें श्लोकसे पंद्रहवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपना प्रभाव बतलानेके लिये तेरह विभूतियोंका वर्णन किया है *।

---

* इस अध्यायमें वर्णित तेरह विभूतियाँ इस प्रकार हैं—

उपर्युक्त चारो अध्यायोंमें भिन्न-भिन्नरूपसे विभूतियोंका वर्णन करनेका तात्पर्य यह है कि साधकको **'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७ । १९) 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस तत्त्वका अनुभव हो जाय । इसीलिये अपनी विभूतियोंका वर्णन करते समय भगवान्‌ने अपनी सर्वव्यापकताको ही विशेषरूपसे सिद्ध किया है; जैसे—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' (७ । ७)

'मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी महान् कारण नहीं है ।'

'सदसच्चाहमर्जुन' (९ । १९)

'सत् और असत्—सब कुछ मै ही हूँ ।'

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते (१० । ८)

'मै ही सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है ।'

'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।' (१० । ३९)

'चर और अचर कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो मुझसे रहित हो; अर्थात् चराचर सब प्राणी मेरे ही स्वरूप हैं ।'

इसी प्रकार इस पंद्रहवें अध्यायमें भी अपनी विभूतियोंके वर्णनका उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं—

---

(१) सूर्यमें स्थित तेज, (२) चन्द्रमें स्थित तेज, (३) अग्निमें स्थित तेज, (४) पृथ्वीकी धारण शक्ति, (५) चन्द्रकी पोषण शक्ति, (६) वैश्वानर, (७) हृदयस्थित अन्तर्यामी, (८) स्मृति, (९) ज्ञान, (१०) अपोहन, (११) वेदोंद्वारा जाननेयोग्य, (१२) वेदान्तका कर्ता और (१३) वेदोंको जाननेवाला ।

'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः' (१५ । १५)

'मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें भलीभांति स्थित हूँ ।'

तात्पर्य यह हुआ कि सम्पूर्ण प्राणी, पदार्थ परमात्माकी सत्तासे ही सत्तावान् हो रहे हैं । परमात्मासे भिन्न किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है ।

प्रकाशके अभाव (अन्धकार) में कोई वस्तु दिखायी नहीं देती । नेत्रोंसे किसी वस्तुको देखनेपर पहले प्रकाश दीखता है; उसके बाद वस्तु दीखती है अर्थात् प्रत्येक वस्तु प्रकाशके अन्तर्गत ही दीखती है; किंतु हमारी दृष्टि प्रकाशपर न जाकर प्रकाशित होनेवाली वस्तुपर जाती है । इसी प्रकार यावन्मात्र वस्तु, क्रिया भाव आदिका ज्ञान एक विलक्षण और अलुप्त प्रकाश—ज्ञान-तत्त्वके अन्तर्गत होता है, जो सबका प्रकाशक और आधार है । प्रत्येक वस्तुसे पहले ज्ञान-तत्त्व (स्वयं-प्रकाश परमात्मतत्त्व) रहता है । अतएव संसारमें परमात्माको व्याप्त कहनेपर भी वस्तुतः संसार बादमें है और उसका अधिष्ठान परमात्मतत्त्व पहले है अर्थात् पहले परमात्म-तत्त्व दीखता है, बादमें संसार । परंतु संसारमें राग होनेके कारण हमारी दृष्टि उसके प्रकाशक (परमात्मतत्त्व) पर नहीं जाती ।

परमात्माकी सत्ताके बिना संसारकी कोई सत्ता नहीं है । परंतु परमात्मसत्ताकी तरफ दृष्टि न रहने तथा सांसारिक प्राणी-पदार्थोंमें राग या सुखासक्ति रहनेके कारण उन प्राणी-पदार्थोंकी पृथक् (स्वतन्त्र) सत्ता प्रतीत होने लगती है और परमात्माकी वास्तविक सत्ता (जो तत्त्वसे है) नहीं दीखती । यदि संसारमें राग या

सुखासक्तिका सर्वथा अभाव हो जाय, तो तत्त्वसे एक परमात्मसत्ता ही दीखने या अनुभवमें आने लगती है। अतः विभूतियोंके वर्णनका तात्पर्य यही है कि किसी भी प्राणी-पदार्थकी ओर दृष्टि जानेपर साधकको एकमात्र भगवान्‌की स्मृति होनी चाहिये अर्थात् उसे प्रत्येक प्राणी-पदार्थमें भगवान्‌को ही देखना चाहिये* ।

वर्तमानमें समाजकी दशा बहुत विचित्र है। प्रायः सब लोगोंके अन्तःकरणमें रुपयोंका अत्यधिक महत्त्व हो गया है। रुपये स्वयं काममें नहीं आते, अपितु उससे खरीदी गयी वस्तुएँ ही काममें आती हैं, परंतु लोगोंने रुपयोंके उपयोगको विशेष महत्त्व न देकर उनकी संख्याकी वृद्धिको ही अधिक महत्त्व दे दिया! इसलिये मनुष्यके पास जितने अधिक रुपये होते हैं, वह समाजमें अपनेको उतना ही अधिक बड़ा मान लेता है† । इस प्रकार रुपयोंको ही महत्त्व देनेवाला व्यक्ति परमात्माके 'महत्त्व'को समझ ही नहीं सकता। फिर परमात्मप्राप्तिके बिना रहा न जाय—ऐसी लगन उस मनुष्यके

---

* समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
(गीता १३। २७)

'जो पुरुष नष्ट होते हुए चराचर सब भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

† वस्तुतः रुपयोंकी संख्याके आधारपर अपनेको छोटा या बड़ा मानना पतनका चिह्न है। रुपयोंकी संख्या केवल अभिमान बढ़ानेके अतिरिक्त और कुछ काम नहीं आती। अभिमान आसुरी सम्पत्तिका मूल है। जितने भी दुर्गुण दुराचार, पाप हैं, सब अभिमानरूपी वृक्षकी छायामें रहते हैं।

अन्तःकरणमें उत्पन्न हो ही कैसे सकती है ! जिसके अन्तःकरणमें यह बात बैठी हुई है कि रुपयोंके बिना रहा ही नहीं जा सकता अथवा रुपयोंके बिना काम ही नहीं चल सकता, उनकी परमात्मामें एक निश्चयवाली बुद्धि हो ही नहीं सकती । जिनके अन्तःकरणमें रुपयोंका महत्त्व इतना अधिक बैठा हुआ है कि 'रुपयोंके बिना भी अच्छी तरह काम चल सकता है'—यह बात उसकी समझमें आती ही नहीं* ।

जिस प्रकार (एकमात्र धन-प्राप्तिका उद्देश्य रहनेपर) व्यापारीको माल लेने, माल देने आदि व्यापार-सम्बन्धी प्रत्येक क्रियामें धन ही दीखता है, इसी प्रकार परमात्मतत्त्वके जिज्ञासुको (एकमात्र परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रहनेपर) प्रत्येक वस्तु, क्रिया आदिमें तत्त्वरूपसे परमात्मा ही दीखते हैं । उसे ऐसा अनुभव हो जाता है कि परमात्माके अतिरिक्त दूसरा कोई तत्त्व है ही नहीं, हो सकता ही नहीं ।

मार्मिक बात

(१) अर्जुनने चौदहवें अध्यायमें गुणातीत होनेका उपाय पूछा था । गुणोंके सङ्गसे ही जीव संसारमें फँसता है । अतः गुणोंका सङ्ग मिटानेके लिये भगवान्‌ने यहाँ अपने प्रभावका वर्णन किया है । छोटे प्रभावको मिटानेके लिये बड़े प्रभावकी आवश्यकता होती है । अतः जबतक जीवपर गुणों (संसार) का प्रभाव है, तबतक भगवान्‌के प्रभावको जाननेकी बहुत आवश्यकता है ।

---

* भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
  व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥
  (गीता २ । ४४)

अपने प्रभावका वर्णन करते हुए श्रीभगवान्‌ने (इस अध्यायके बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक) यह बतलाया कि मैं ही सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता हूँ; मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके सब प्राणियोंको धारण करता हूँ; मैं ही (पृथ्वीपर) अन्न उत्पन्न करके उसे पुष्ट करता हूँ; जब मनुष्य उस अन्नको खाता है, तब मैं ही वैश्वानर-रूपसे उस अन्नको पचाता हूँ, और मनुष्यमें स्मृति, ज्ञान और अपोहन भी मैं ही करता हूँ। इस वर्णनसे सिद्ध होता है कि आदिसे अन्ततक, समष्टिसे व्यष्टितककी सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवान्‌के अन्तर्गत, उन्हींकी शक्तिसे हो रही हैं। मनुष्य अहंकारवश अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता मान लेता है (अर्थात् उन क्रियाओंको व्यक्तिगत मान लेता है) और बँध जाता है।

(२) एक भगवान्‌को ही 'अपना' मानकर, जो भक्ति होती है, वह 'प्रेमाभक्ति' और भगवान्‌के 'प्रभाव'को देखकर शास्त्रविधिके अनुसार जो भक्ति होती है, वह 'वैधी-भक्ति' कहलाती है। प्रेमा-भक्ति वैधी (दूसरी) भक्तिका फल है। इस प्रेमाभक्तिमें तो भगवान् भी भक्तके भक्त हो जाते हैं; क्योंकि भगवान्‌को भी प्रेमकी चाह है।

एक भगवान्‌में ही 'अपनापन' होनेपर फिर उनके प्रभावको जाननेकी आवश्यकता नहीं रहती। भगवान्‌के प्रभावको देखकर जो भक्ति होती है, वह वास्तवमें प्रभावकी ही भक्ति है, भगवान्‌की नहीं। प्रभावको देखनेवाले भक्तको भी भगवान् उदार मानते हैं—'उदाराः सर्व एवैते' (गीता ७। १८)। परन्तु प्रभावको देखकर होनेवाली भक्ति भगवान्‌की अनन्य भक्ति नहीं हो

सकती । अनन्यभक्ति एकमात्र भगवान्‌में अपनापन होनेसे ही हो सकती है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—

श्रीभगवान्‌ने इसी अध्यायके प्रथम श्लोकसे पंद्रहवें श्लोकतक (तीन प्रकरणोंमें) क्रमशः संसार, जीवात्मा और परमात्माका विस्तारसे वर्णन किया । अब उस विषयका उपसंहार करते हुए अगले दो श्लोकोंमें उन तीनोंका क्रमशः क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम नामोंसे) स्पष्ट वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

भावार्थ—

इस मनुष्यलोकमें क्षर अर्थात् विनाशी और अक्षर अर्थात् अविनाशी दो प्रकारके पुरुष हैं । इनमें समस्त प्राणियोंके (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) शरीर विनाशी और जीवात्मा अविनाशी तथा निर्विकार कहा जाता है । क्षर और अक्षर दोनोंसे उत्तम 'पुरुषोत्तम' नामकी सिद्धिके लिये यहाँ भगवान्‌ने क्षर और अक्षर दोनोंको 'पुरुष' नामसे सम्बोधित किया है ।

अन्वय—

लोके, क्षरः, च, अक्षरः, एव, इमौ, द्वौ, पुरुषौ, (स्तः), सर्वाणि, भूतानि, क्षरः, च, कूटस्थः, अक्षरः, उच्यते ॥ १६ ॥

पद-व्याख्या—

लोके—इस मनुष्य-लोकमें ।

'इदंता' अर्थात् 'यह' रूपसे दीखनेवालेको 'लोक' कहते हैं । यहाँ 'लोके' पदको मनुष्यलोकका वाचक समझना चाहिये; क्योंकि

जीवका बन्धन या मोक्ष मनुष्यलोकमें ही होता है। इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें 'जीवलोके' पद भी इसी अर्थमें आया है।

क्षरः च अक्षरः एव इमौ द्वौ पुरुषौ (स्तः)—विनाशी और अविनाशी भी, ये दो प्रकारके पुरुष हैं।

इस जगत्में दो विभाग जाननेमें आते हैं—शरीरादि नाशवान् पदार्थ (जड) और अविनाशी जीवात्मा (चेतन) जैसे विचार करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक तो प्रत्यक्ष दीखनेवाला शरीर है और एक उसमें रहनेवाला जीवात्मा है। जीवात्माके रहनेसे ही प्राण कार्य करते हैं और शरीरका सञ्चालन होता है। जीवात्माके साथ प्राणोंके निकलते ही शरीरका संचालन बंद हो जाता है और शरीर सड़ने लगता है। लोग उस शरीरको जला देते हैं। कारण कि महत्त्व नाशवान् शरीरका नहीं अपितु उसमें रहनेवाले अविनाशी जीवात्माका है।

पञ्चमहाभूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) से बने हुए शरीरादि जितने पदार्थ हैं, वे सभी जड और नाशवान् हैं। प्राणियोंके (प्रत्यक्ष देखनेमें आनेवाले) स्थूल शरीर स्थूल समष्टि—जगत्के साथ एक हैं, दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंसे युक्त सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म समष्टि-जगत्के साथ एक है और कारण-शरीर (स्वभाव, कर्मसंस्कार, अज्ञान) कारण समष्टि-जगत् (मूल प्रकृति)के साथ एक है। ये सब क्षरणशील (नाशवान्) होनेके कारण 'क्षर' नामसे कहे गये हैं।

वास्तवमें 'व्यष्टि' नामसे कोई वस्तु है ही नहीं; केवल समष्टि संसारके थोड़े अंशकी वस्तुको 'अपनी' माननेके कारण उसे व्यष्टि

कह देते हैं। संसारके साथ शरीर आदि वस्तुओंकी भिन्नता केवल (राग-ममता आदिके कारण) मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं। मात्र पदार्थ और क्रियाएँ प्रकृतिकी ही हैं*। अतएव स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरकी समस्त क्रियाएँ क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण समष्टि संसारके हितके लिये ही करनी हैं, अपने स्वार्थके लिये नहीं।

जिस तत्त्वका कभी विनाश नहीं होता और जो सदैव निर्विकार रहता है, उस जीवात्माका वाचक यहाँ 'अक्षरः' पद है†। प्रकृति जड़ है और जीवात्मा (चेतन परमात्माका अंश होनेसे) चेतन है।

इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने जिसका छेदन करनेके लिये कहा, उस संसारको यहाँ 'क्षरः' पदसे और सातवें श्लोकमें

---

* पदार्थों और क्रियाओंको संसारका मानना 'कर्मयोग', प्रकृतिका मानना 'ज्ञानयोग' और भगवान्‌का मानना 'भक्तियोग' है। इन्हें चाहे जिसका मानें, पर ये अपने नहीं हैं—यह तो मानना ही पड़ेगा।

† गीतामें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—इन तीनोंका एक साथ वर्णन भिन्न-भिन्न नामोंसे इस प्रकार हुआ है—

अध्याय-श्लोक	क्षर	अक्षर	पुरुषोत्तम
७ । ४-६	अपरा प्रकृति	परा प्रकृति	अहम्
८ । ३-४	अधिभूतः कर्म	अध्यात्मः अधिदैव	ब्रह्म; अधियज्ञ
१३ । १-२	क्षेत्र	क्षेत्रज्ञ	माम्
१४ । ३-४	महद्ब्रह्म; योनि	गर्भ बीज	अहम्; पिता

भगवान्‌ने जिसे अपना अंश बतलाया, उस जीवात्माको यहाँ 'अक्षरः' पदसे कहा गया है।

यहाँ आये क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम शब्द क्रमशः पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग हैं। इससे यह तात्पर्य समझना चाहिये कि प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा न तो स्त्री हैं, न पुरुष हैं और न नपुंसक ही हैं। वास्तवमें लिङ्ग भी शब्दकी दृष्टिसे है, तत्त्वसे कोई लिङ्ग नहीं है*।

सर्वाणि भूतानि क्षरः—सम्पूर्ण (प्राणियोंके) शरीर नाशवान् (कहे गये हैं)।

इसी अध्यायके प्रारम्भमें जिस संसार-वृक्षका स्वरूप बतलाकर उसका छेदन करनेकी प्रेरणा दी गयी है, उसी संसारवृक्षको यहाँ 'क्षर' नामसे कहा गया है।

---

* गीतामें क्षर, अक्षर पुरुषोत्तमका वर्णन तीनों लिङ्गोंमें प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ—

(१) क्षर—	क्षरः (१५। १६)—पुँल्लिङ्ग
	अपरा (७। ५)—स्त्रीलिङ्ग
	महद्ब्रह्म (१४। ३-४) नपुंसकलिङ्ग
(२) अक्षर—	जीवभूतः (१५। ७) पुँल्लिङ्ग
	जीवभूताम् (७। ५)—स्त्रीलिङ्ग
	अध्यात्मम् (८। ३)—नपुंसकलिङ्ग
(३) पुरुषोत्तम—	भर्ता (९। १८)—पुँल्लिङ्ग
	गतिः (९। १८)—स्त्रीलिङ्ग
	शरणम् (९। १८)—नपुंसकलिङ्ग

गीतामें 'भूत' शब्द अनेक अर्थोंमें आया है* । परंतु यहाँ 'भूतानि' पद प्राणियोंके स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरोंका ही वाचक समझना चाहिये । कारण यह है कि यहाँ 'भूतोंको नाशवान् बतलाया गया है । प्राणियोंके शरीर ही नाशवान् होते हैं, प्राणी नहीं; अतः यहाँ 'भूतानि' पद जड़ शरीरोंके लिये ही आया है ।

च कूटस्थः अक्षरः उच्यते—और जीवात्मा निर्विकार कहा जाता है ।

इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें जिसे भगवान्‌ने अपना सनातन अंश बतलाया है, उसी जीवात्माको यहाँ 'अक्षर' नामसे कहा गया है ।

जीवात्मा चाहे जितने शरीर धारण करे, चाहे जितने लोकोंमें जाय, उसमें कभी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता; वह सदैव ज्यों-का-त्यों रहता है† । इसीलिये उसे यहाँ 'कूटस्थ' कहा गया है ।

गीतामें परमात्मा और जीवात्मा दोनोंके स्वरूपका वर्णन प्रायः समान ही मिलता है जैसे परमात्माको (१२ । ३ में) 'कूटस्थ'

---

* उदाहरणार्थ—'महाभूतान्यहंकारः' (१३ । ५)में 'भूत' शब्द पञ्चतन्मात्राओंका वाचक है । 'अविभक्तं च भूतेषु' (१३ । १६)में 'भूत' शब्द प्राणियोंका वाचक है । 'भूतगणान्' (१७ । ४) और 'भूतानि' (९ । २५) में 'भूत' शब्द भूतयोनिके लिये आया है ।

† भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

(गीता ८ । १९)

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

(गीता १३ । ३१)

तथा (८ । ४ में) 'अक्षर' कहा गया है, वैसे ही यहाँ (१५ । १६ में) जीवात्माको भी 'कूटस्थ' और 'अक्षर' कहा गया है। जीवात्मा और परमात्मा दोनोंमें ही परस्पर जातीय एवं स्वरूपगत एकता है।

स्वरूपसे जीवात्मा सदा-सर्वदा निर्विकार ही है, परंतु भूलसे प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीरादिसे अपनी एकता मान लेनेके कारण उसकी 'जीव' संज्ञा हो जाती है, अन्यथा (अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार) वह साक्षात् परमात्मतत्त्व ही है।

मार्मिक बात

प्रकृति (क्षर पुरुष) सदा क्रियाशील रहती है और जीवात्मा (अक्षर पुरुष) सदा अक्रिय रहता है। यद्यपि जीवात्माका वास्तविक सम्बन्ध अपने अंशी परमात्मासे ही है तथापि उसने भूलसे अपना सम्बन्ध प्रकृतिसे मान लिया। प्रकृतिसे माना हुआ यह सम्बन्ध कृत्रिम और अस्वाभाविक है; क्योंकि अक्रिय-तत्त्वका सम्बन्ध क्रिया-शील तत्त्वके साथ होना कभी सम्भव नहीं है। इसलिये माने हुए सम्बन्धका निरन्तर स्वतः स्वाभाविक वियोग हो ही रहा है; परंतु जीवात्माने अपने इस माने हुए सम्बन्धमें सद्भाव (सत्यताका आरोप) कर लिया। इसीसे जीवात्मामें 'अहंभाव' उत्पन्न हो गया, जिसके कारण उसने प्रकृति (शरीर)में होनेवाली क्रियाओंको अपनेमें आरोपित कर लिया अर्थात् उन क्रियाओंका कर्ता अपनेको मान लिया।

मानी हुई बात न माननेसे मिट जाती है—यह सिद्धान्त है*। अतः साधक उस माने हुए सम्बन्धको न माने अर्थात् उस (प्रतिक्षण

* श्रीभगवान् कहते हैं—

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (गीता ३ । २७)

परिवर्तनशील प्रकृतिसे माने हुए) सम्बन्धके प्रतिक्षण वियुक्त होनेमें सद्भाव कर ले, जो वास्तवमें है। इसमें किसी परिश्रमकी भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि माने हुए सम्बन्धका तो अपने-आप प्रतिक्षण वियोग हो ही रहा है। केवल उधर दृष्टि करनेकी आवश्यकता है ॥ १६ ॥

श्लोक—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

भावार्थ—

पिछले (सोलहवें) श्लोकमें वर्णित 'क्षर' और 'अक्षर' दोनों पुरुषोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जिसे परमात्मा नामसे कहा गया है। वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें व्याप्त रहकर सम्पूर्ण प्राणियोंका भरण-पोषण करता है।

अन्वय—

उत्तमः, पुरुषः, तु, अन्यः, (अस्ति), यः, अव्ययः, ईश्वरः, लोकत्रयम्, आविश्य, बिभर्ति, परमात्मा, इति, उदाहृतः ॥ १७ ॥

'अहङ्कारसे मोहित अन्तःकरणवाला पुरुष मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मानता है। इसलिये—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

(गीता ५। ८)

'तत्त्वको जाननेवाला युक्त पुरुष ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।'

उपर्युक्त दोनों स्थानोंपर 'मन्यते' और 'मन्येत' पद आये हैं, जिससे यही बात सिद्ध होती है कि मानी हुई भूलको न मानना ही उसे मिटानेका उपाय है।

पद-व्याख्या—

उत्तमः पुरुषः तु अन्यः (अस्ति)—उत्तम पुरुष तो (अन्य) ही है ।

पिछले श्लोकमें क्षर और अक्षर दो प्रकारके पुरुषोंका वर्णन करनेके बाद अब भगवान् यह बतलाते हैं कि उन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है ।*

यहाँ 'अन्यः' पद परमात्माको अविनाशी अक्षर (जीवात्मा) से भिन्न बतलानेके लिये नहीं अपितु उससे विलक्षण बतलानेके लिये आया है । इसीलिये भगवान्‌ने अगले (अठारहवें) श्लोकमें अपनेको नाशवान् क्षरसे 'अतीत' और अविनाशी अक्षरसे 'उत्तम' बतलाया है । परमात्माका अंश होते हुए भी जीवात्माकी दृष्टि

---

* द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद् ५ । १)

'जिस ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ, छिपे हुए, असीम और परम अक्षर परमात्मामें विद्या और अविद्या दोनों स्थित हैं, वही ब्रह्म है । विनाशशील जड़वर्ग तो अविद्या नामसे कहा गया है और अविनाशी जीवात्मा विद्या नामसे जो इन विद्या और अविद्या दोनोंपर शासन करता है, वह परमेश्वर इन दोनोंसे भिन्न—सर्वथा विलक्षण है ।'

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
(श्वेताश्वतरोपनिषद् १ । १०)

'प्रकृति तो विनाशशील है और इसे भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है । इन दोनों (क्षर और अक्षर) को एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है ।'

(या आकर्षण) नाशवान् क्षरकी ओर हो रही है। इसीलिये यहाँ परमात्माको उससे विलक्षण बतलाया गया है।

यः अव्ययः ईश्वरः लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति—जो अव्यय (अविनाशी) ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका भरण-पोषण करता है।

वह उत्तम पुरुष (परमात्मा) तीनों लोकोंमें अर्थात् सर्वत्र समानरूपसे नित्य व्याप्त है।

यहाँ 'बिभर्ति' पदका तात्पर्य यह है कि वास्तवमें परमात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियोंका भरण-पोषण करते हैं, पर जीवात्मा (संसारसे अपना सम्बन्ध मान लेनेके कारण) भूलसे सांसारिक व्यक्तियों आदिको अपना मानकर उनके भरण-पोषणादिका भार अपने ऊपर ले लेता है। फलस्वरूप व्यर्थ ही दुःख पाता रहता है।*

भगवान्को 'अव्ययः' कहनेका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण लोकोंका भरण-पोषण करते रहनेपर भी भगवान्का कोई व्यय (खर्च) नहीं होता अर्थात् उनमें किसी तरहकी किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं आती। वे सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं।

'ईश्वरः' शब्द सगुणका वाचक माना जाता है, जिसका अर्थ है—शासन करनेवाला।

परमात्मा इति उदाहृतः—(वह उत्तम पुरुष) परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है।

* भरण-पोषणकी बात भक्तिमार्गमें ही आ सकती है, ज्ञानमार्गमें नहीं। कारण कि भक्तिमार्गमें जीव और परमात्मामें भिन्नता मानी जाती है। इसलिये प्रस्तुत प्रकरणको भक्तिका ही मानना चाहिये।

अविनाशी पुरुषोत्तमको ही 'परमात्मा' के नामसे कहा गया है। 'परमात्मा' शब्द निर्गुणका वाचक माना जाता है, जिसका अर्थ है—परम (श्रेष्ठ) आत्मा अथवा सम्पूर्ण जीवोंका आत्मा। प्रस्तुत श्लोकमें 'ईश्वर' और 'परमात्मा' दोनों शब्द आनेका तात्पर्य यह है कि सगुण और निर्गुण सब एक पुरुषोत्तम ही है।

मार्मिक बात

यद्यपि माता-पिता बालकका पालन-पोषण किया करते हैं, तथापि बालकको इस बातका ज्ञान नहीं होता कि मेरा पालन-पोषण कौन करता है, कैसे करता है और किसलिये करता है। इसी प्रकार यद्यपि भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंका भलीभाँति पालन-पोषण करते हैं, तथापि अज्ञानी मनुष्यको (भगवान्‌पर दृष्टि न रहनेसे) इस बातका पता ही नहीं लगता कि मेरा पालन-पोषण कौन करता है। भगवान्‌का शरणागत भक्त ही इस बातको भलीभाँति जानता है कि एक भगवान् ही सबका सम्यक् प्रकारसे पालन-पोषण कर रहे हैं।

पालन-पोषण करनेमें भगवान् किसीके साथ कोई पक्षपात (विषमता) नहीं करते। वे भक्त-अभक्त, पापी-पुण्यात्मा, आस्तिक-नास्तिक आदि सभीका समानरूपसे पालन-पोषण करते हैं*।

---

* अयमुत्तमोऽयमधमो जात्या रूपेण सम्पदा वयसा।
श्लाघ्योऽश्लाघ्यो वेत्थं न वेत्ति भगवाननुग्रहावसरे॥
अन्तःस्वभावभोक्ता ततोऽन्तरात्मा महामेघः।
खदिरश्चम्पक इव वा प्रवर्षणं किं विचारयति॥

(प्रबोधसुधाकर २५२-२५३)

प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि भगवान्‌द्वारा रचित सृष्टिमें सूर्य सबको समानरूपसे प्रकाश देता है, पृथ्वी सबको समानरूपसे धारण करती है, वैश्वानर-अग्नि सबके अन्नको समानरूपसे पचाती है, वायु सबको (श्वास लेनेके लिये) समानरूपसे प्राप्त होती है, अन्न-जल सबको समानरूपसे तृप्त करते हैं इत्यादि ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें वर्णित उत्तम पुरुषके साथ अपनी एकता बतलाकर अब साकार रूपसे प्रकट भगवान् श्रीकृष्ण अपना अत्यन्त गोपनीय रहस्य प्रकट करते हैं, जिसके कारण इस पंद्रहवें अध्यायको 'गुह्यतम' कहा गया है।

श्लोक—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

भावार्थ—

(भगवान् कहते हैं कि) मैं क्षर (वस्तु, व्यक्ति, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थमात्र) से सर्वथा अतीत अर्थात् निर्लिप्त हूँ और अक्षर (अपने अंश जीवात्मा) से भी उत्तम हूँ। इसीलिये मैं (क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंसे उत्तम होनेके कारण) लोकमें और वेदों तथा शास्त्रोंमें भी 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ।

'किसीपर कृपा करते समय भगवान् ऐसा विचार नहीं करते कि यह जाति, रूप, धन और आयुसे उत्तम है या अधम? स्तुत्य है या निन्द्य?'

'यह अन्तरात्मा-रूपी महामेघ आन्तरिक भावोंका ही भोक्ता है। मेघ क्या वर्षाके समय इस बातका विचार करता है कि यह खदिर (खैर) है अथवा चम्पक (चम्पा)?'

अन्वय—

यस्मात्, अहम्, क्षरम्, अतीतः, च, अक्षरात्, अपि, उत्तमः, अतः, लोके, च, वेदे, पुरुषोत्तमः, प्रथितः, अस्मि ॥ १८ ॥

पद-व्याख्या—

यस्मात् अहम् क्षरम् अतीतः—क्योंकि मैं क्षर (नाशवान् जड़वर्ग क्षेत्र) से अतीत हूँ।

इन पदोंमें भगवान्का यह भाव है कि क्षर (प्रकृति) प्रतिक्षण परिवर्तनशील है और मैं नित्य-निरन्तर निर्विकाररूपसे ज्यों-का-त्यों रहनेवाला हूँ। अतः मैं क्षरसे सर्वथा अतीत अर्थात् परे हूँ।

शरीरसे पर (व्यापक, श्रेष्ठ, प्रकाशक, निर्विकार, सूक्ष्म) इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियोंसे पर मन है और मनसे पर बुद्धि है। इस प्रकार एक-दूसरेसे पर होते हुए भी शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि एक ही जातिके जड़ हैं। परंतु परमात्मतत्त्व इनसे भी अत्यन्त पर है *; क्योंकि वह जड़-जातिका नहीं अपितु चेतन है।

च—और।

अक्षरात् अपि उत्तमः—अक्षर (अविनाशी जीवात्मा) से भी उत्तम हूँ।

यद्यपि परमात्माका अंश होनेके कारण जीवात्मा (अक्षर) की परमात्मासे तात्त्विक एकता है, तथापि यहाँ भगवान् अपनेको जीवात्मासे भी उत्तम बतलाते हैं। कारण ये हैं—(१) परमात्माका

* इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
(गीता ३। ४२-४३)

अंश होनेपर भी जीवात्मा क्षर (जड़ प्रकृति) के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है[1] और प्रकृतिके गुणोंसे मोहित हो जाता है, जबकि परमात्मा (प्रकृतिसे अतीत होनेके कारण) कभी मोहित नहीं होते[2]। (२) परमात्मा प्रकृतिको अपने अधीन करके लोकमें आते (अवतरित होते) हैं,[3] जबकि जीवात्मा प्रकृतिके वशमें होकर लोकमें आता है[4]। (३) परमात्मा सदैव निर्लिप्त रहते हैं[5], जबकि जीवात्माको निर्लिप्त होनेके लिये साधन करना पड़ता है[6]।

१–ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥
(गीता १५ । ७)

२–त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
(गीता ७ । १३)

३–अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥
(गीता ४ । ६)

४–भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥
(गीता ८ । १९)

५–न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
(गीता ४ । १४)

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
(गीता ९ । ९)

६–इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥
(गीता ४ । १४)

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(गीता ७ । १४)

भगवान्‌द्वारा अपनेको क्षरसे 'अतीत' और अक्षरसे 'उत्तम' बतलानेसे यह भाव भी प्रकट होता है कि क्षर और अक्षर— दोनोंमें भिन्नता है । यदि उन दोनोंमें भिन्नता न होती, तो भगवान् अपनेको या तो उन दोनोंसे ही अतीत बतलाते या दोनोंसे ही उत्तम बतलाते । अतः यह सिद्ध होता है कि जैसे भगवान् क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम हैं, वैसे अक्षर भी क्षरसे अतीत और उत्तम है ।

अतः—इसलिये ।

यहाँ 'अतः' पदका सम्बन्ध इसी श्लोकमें आये 'यस्मात्' पदसे है ।

लोके च वेदे—लोकमें और वेदमें ।

'लोके' पदके तीन अर्थ हैं—(१) भूर्लोक आदि चौदह लोक, (२) उन लोकोंमें रहनेवाले जीव और (३) पुराण, स्मृति आदि शास्त्र । इन सभीमें भगवान् 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हैं । इसी अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने क्षर और अक्षरको भी लोकमें रहनेवाला बतलाया ।

शुद्ध ज्ञानका नाम 'वेद' है जो अनादि है । वही ज्ञान आनुपूर्वीरूपसे ऋक्, यजु आदि वेदोंके रूपसे प्रकट हुआ है । वेदोंमें भी भगवान् 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हैं ।

पुरुषोत्तमः प्रथितः अस्मि—पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ ।

पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि क्षर और अक्षर दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है । वह उत्तम पुरुष कौन है

बतलाते हुए भगवान् यह रहस्य प्रकट करते हैं कि वह उत्तम पुरुष—'पुरुषोत्तम' मैं ही हूँ !

विशेष बात—

(१) भौतिक सृष्टिमात्र 'क्षर' (नाशवान्) है और परमात्माका सनातन अंश जीवात्मा 'अक्षर' (अविनाशी) है । क्षरसे अतीत और उत्तम होनेपर भी अक्षरने क्षरसे अपना सम्बन्ध मान लिया—इससे बढ़कर और कोई दोष, भूल या गलती है ही नहीं । क्षरके साथ यह सम्बन्ध केवल माना हुआ है, वास्तवमें एक क्षण भी रहनेवाला नहीं है । जैसे बाल्यावस्थासे अबतक शरीर बिल्कुल बदल गया, फिर भी हम कहते हैं कि 'मैं वही हूँ' । यह भी हम नहीं बतला सकते कि अमुक दिन बाल्यावस्था समाप्त हुई और युवावस्था आरम्भ हुई । कारण यह कि गङ्गाजीके प्रवाहकी भाँति शरीर निरन्तर ही बहता रहता है, जब कि अक्षर (जीवात्मा) गङ्गाजीमें स्थित शिला (चट्टान) की भाँति सदा अचल और असङ्ग रहता है । यदि अक्षर भी क्षरकी भाँति निरन्तर परिवर्तनशील और नाशवान् होता तो इसकी दुविधा या आफत मिट जाती । परन्तु स्वयं अपरिवर्तनशील और अविनाशी होते हुए भी यह (अक्षर) निरन्तर परिवर्तनशील और नाशवान् क्षरको पकड़ लेता है—उसे अपना मान लेता है । होता यह है कि अक्षर क्षरको छोड़ता नहीं और क्षर एक क्षण भी ठहरता नहीं । इस दुविधा या आफतको मिटानेका सुगम उपाय है—क्षर (शरीरादि) को क्षर (संसार) की ही सेवामें लगा दिया जाय—उसे संसाररूपी वाटिकाकी खाद बना दिया जाय ।

मनुष्यको शरीरादि नाशवान् पदार्थ अधिकार करने अथवा अपना माननेके लिये नहीं, अपितु सेवा करनेके लिये ही मिले हैं। इन पदार्थोंके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनेकी ही मनुष्यपर जिम्मेवारी है, अपना माननेकी बिल्कुल जिम्मेवारी नहीं।

(२) पन्द्रहवें अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने पहले क्षर—संसारवृक्षका वर्णन किया। फिर उसका छेदन करके परम पुरुष परमात्माकी शरण होने अर्थात् संसारसे अपनापन हटाकर एकमात्र परमात्माको अपना माननेकी प्रेरणा की। फिर अक्षर—जीवात्माको अपना सनातन अंश बतलाते हुए उसके स्वरूपका वर्णन किया। तत्पश्चात् भगवान्‌ने (बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक) अपने प्रभावका वर्णन करते हुए बतलाया कि सूर्य, चन्द्र और अग्निमें मेरा ही तेज है, मैं ही पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपनी शक्तिसे चराचर सब प्राणियोंको धारण करता हूँ, मैं ही अमृतमय चन्द्रके रूपसे सम्पूर्ण वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ; वैश्वानर अग्निके रूपमें मैं ही प्राणियोंके शरीरमें स्थित होकर उनके द्वारा खाये हुए अन्नको पचाता हूँ, मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विद्यमान हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (भ्रम, संशय आदि दोषोंका नाश) होता है, वेदादि सब शास्त्रोंके द्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ, और वेदोंके अन्तिम सिद्धान्तका निर्णय करनेवाला तथा वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ। इस प्रकार अपना प्रभाव प्रकट करनेके बाद इस श्लोकमें भगवान् यह गुह्यतम रहस्य प्रकट करते हैं कि जिसका यह सब प्रभाव है, वह (क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम) 'पुरुषोत्तम' मैं साक्षात् साकाररूपसे प्रकट श्रीकृष्ण ही हूँ (क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम) पुरुषोत्तम-तत्त्व हूँ।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनपर बहुत विशेष कृपा करके ही अपने रहस्यकी बात अपने मुखसे प्रकट की है; जैसे कोई पिता अपने पुत्रके सामने अपनी गुप्त सम्पत्ति प्रकट कर दे अथवा जैसे कोई मनुष्य भूले-भटके मनुष्यको अपना परिचय दे दे कि जिसके लिये तू भटक रहा है, वह मैं ही हूँ और तेरे सामने बैठा हूँ! ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—

चौदहवें अध्यायके उपान्त्य श्लोकमें भगवान्‌ने जिस अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात कही थी और जिसे प्राप्त करानेके लिये* पंद्रहवें *अध्यायमें संसार, जीव और परमात्माका विस्तृत विवेचन किया गया, उसका अब अगले श्लोकमें उपसंहार करते हैं।*

श्लोक—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

भावार्थ—

हे भरतवंशी अर्जुन! इस प्रकार जिसकी मूढ़ता दूर हो गयी है (अर्थात् जिसने क्षरसे माने हुए सम्बन्धको त्यागकर केवल मुझ पुरुषोत्तमको अपना आत्मीय मान लिया है), ऐसा भक्त मुझे 'पुरुषोत्तम' जाननेवाला है। वह सर्वज्ञ है; क्योंकि उसने जाननेयोग्य उस तत्त्व (पुरुषोत्तम) को जान लिया है, जिसे जाननेके बाद फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता। ऐसा जानकर वह सब प्रकार-

---

* मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
(गीता १४ । २६)

से मेरा ही भजन करता है। उसकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ मेरे लिये ही होती हैं ॥

अन्वय—

भारत, एवम्, यः, असम्मूढः, माम्, पुरुषोत्तमम्, जानाति, सः, सर्ववित्, सर्वभावेन, माम्, भजति ॥ १९ ॥

पद-व्याख्या—

भारत—हे भरतवंशी अर्जुन !

चौदहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनने गुणातीत पुरुषके लक्षण और आचरण पूछते हुए गुणातीत होनेका उपाय पूछा था। उसके उत्तरमें भगवान्‌ने गुणातीत पुरुषके लक्षण और आचरणोंका वर्णन करके छब्बीसवें श्लोकमें 'अव्यभिचारिणी भक्ति' को गुणातीत होनेका उपाय बतलाया। उस अव्यभिचारिणी भक्तिको प्राप्त करानेके लिये भगवान्‌ने पंद्रहवें अध्यायका प्रारम्भ किया। उसी विषयका उपसंहार करते हुए भगवान् 'भारत' सम्बोधनके द्वारा अर्जुनका ध्यान आकर्षित करते हैं कि जिस अव्यभिचारिणी भक्तिसे मनुष्य तीनों गुणोंका अतिक्रमण कर जाता है, उस भक्तिका स्वरूप है—सब प्रकारसे मेरा ही भजन करना ('सर्वभावेन माम् भजति')।

जब मनुष्य भगवान्‌को क्षर और अक्षर दोनोंसे उत्तम 'पुरुषोत्तम' जान लेता है, तब वह केवल उन्हींकी शरण हो जाता है और उन्हें अपना मानते हुए सब प्रकारसे निरन्तर उन्हींका भजन करता है। ऐसे पुरुषका सम्बन्ध प्रकृतिके कार्य गुणोंसे तथा जिससे गुण उत्पन्न होते हैं, उस प्रकृतिसे नहीं रहता। उसका एकमात्र सम्बन्ध प्रकृतिसे सर्वथा अतीत, उसके आश्रय और प्रकाशक पुरुषोत्तमसे हो जाता है।

एवम् यः असम्मूढः—इस प्रकार जो मोहरहित भक्त।

इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने जीवात्माको अपना सनातन अंश बतलाया है। अतः अपने अंशी परमात्माके वास्तविक सम्बन्ध (जो सदासे ही है) का अनुभव करना ही उसका मोहसे रहित (असम्मूढ़) होना है।

संसार या परमात्माको तत्त्वसे जाननेमें मोह (मूढ़ता) ही बाधक है। किसी वस्तुकी वास्तविकताका ज्ञान तभी हो सकता है, जब उस वस्तुसे राग या द्वेषपूर्वक माना गया कोई सम्बन्ध न हो। नाशवान् पदार्थोंसे राग-द्वेषपूर्वक सम्बन्ध मानना ही मोह है।

संसारको तत्त्वसे जानते ही परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है और परमात्माको तत्त्वसे जानते ही संसारसे अपनी भिन्नताका अनुभव हो जाता है। संसारको तत्त्वसे जाननेसे संसारसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद हो जाता है और परमात्माको तत्त्वसे जाननेसे परमात्मासे वास्तविक सम्बन्धका अनुभव हो जाता है।

संसारसे अपना सम्बन्ध मानना (जो वास्तवमें नहीं है अपितु जीवका अपना बनाया हुआ है) ही भक्तिमें व्यभिचार-दोष है। इस व्यभिचार-दोषसे सर्वथा रहित होनेमें ही उपर्युक्त पदोंका भाव समझना चाहिये।

माम् पुरुषोत्तमम् जानाति—मुझे पुरुषोत्तम जानता है।

जिसकी मूढ़ता सर्वथा नष्ट हो गयी है, वही पुरुष भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' जानता है।*

---

* भगवान्‌को जाननेसे पहले भी मूढ़ता दूर हो सकती है, पर भगवान्‌को जाननेके बाद मूढ़ताका सर्वथा अभाव हो जाता है—'परं दृष्ट्वा निवर्तते' (गीता २। ५९)।

क्षरसे सर्वथा अतीत पुरुषोत्तम (परमपुरुष परमात्मा)को ही सर्वोपरि मानकर उनके सम्मुख हो जाना, केवल उन्हींको अपना मान लेना ही भगवान्‌को यथार्थरूपसे 'पुरुषोत्तम' जानना है।

संसारमें जो कुछ भी प्रभाव देखने-सुननेमें आता है, वह सब एक भगवान् (पुरुषोत्तम)-का ही है—ऐसा जान लेनेसे संसारका आकर्षण सर्वथा नष्ट हो जाता है। यदि संसारका थोड़ा भी आकर्षण रहता है, तो यही समझना चाहिये कि भगवान्‌को तत्त्वसे अभी जाना ही नहीं।

चौदहवें अध्यायमें भगवान्‌ने गुणातीत होनेके अनेक उपाय अर्जुनको बतलाये। अब वे अर्जुनसे मानो यह कहते हैं कि जो मुझे 'पुरुषोत्तम' जान लेगा, वह भी गुणातीत हो जायगा अर्थात् उसे अपने गुणातीत स्वरूपका अनुभव हो जायगा, जो वास्तवमें है*।

स सर्ववित्—वह सर्वज्ञ।

जो भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' जान लेता है और इस विषयमें जिसके अन्तःकरणमें कोई विकल्प, भ्रम या संशय नहीं रहता, उस पुरुषके लिये जाननेयोग्य कोई तत्त्व शेष नहीं रहता†। इसलिये भगवान् उसे 'सर्ववित्' कहते हैं‡।

---

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥
(गीता १३। ३१)

† यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥
(गीता ७। २)

'जिसे जानकर यहाँ फिर और कुछ भी जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता।'

‡ तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति॥
(प्रश्नोपनिषद् ४। ११)

भगवान्‌को जाननेवाला व्यक्ति कितना ही कम पढ़ा-लिखा क्यों न हो, वह सब कुछ जाननेवाला है; क्योंकि उसने जाननेयोग्य तत्त्वको जान लिया। उसे और कुछ भी जानना शेष नहीं है।

सर्वभावेन माम् भजति--सब प्रकारसे मेरा ही भजन करता है।

जो पुरुष भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' जान लेता है, उस 'सर्ववित्' पुरुषकी पहचान यह है कि वह सब प्रकारसे स्वतः भगवान्‌का ही भजन करता है।

जब मनुष्य भगवान्‌को 'क्षरसे अतीत' जान लेता है, तब उसका मन (राग) क्षर-संसारसे हटकर भगवान्‌में लग जाता है और जब वह भगवान्‌को 'अक्षरसे उत्तम' जान लेता है, तब उसकी बुद्धि (श्रद्धा) भगवान्‌में लग जाती है*। फिर उसकी प्रत्येक वृत्ति और क्रियासे स्वतः भगवान्‌का भजन होता है। इस प्रकार सब प्रकारसे भगवान्‌का भजन करना ही 'अव्यभिचारिणी भक्ति' है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सांसारिक पदार्थोंसे जबतक मनुष्य रागपूर्वक अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक वह सब प्रकारसे भगवान्‌का भजन नहीं कर सकता। कारण कि जहाँ राग होता है, वृत्ति स्वतः वहीं जाती है।

'हे सौम्य ! उस अविनाशी परमात्माको जो कोई जान लेता है, वह सर्वज्ञ है। वह सर्वरूप परमेश्वरमें प्रविष्ट हो जाता है।'

* किसी विशेष महत्त्वपूर्ण बातपर मन रागपूर्वक तथा बुद्धि श्रद्धापूर्वक लगती है।

'मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं'—इस वास्तविकताको दृढतापूर्वक मान लेनेसे स्वतः सब प्रकारसे भगवान्‌का भजन होता है। फिर भक्तकी मात्र क्रिया (सोना, जागना, बोलना, चलना, खाना-पीना आदि) भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये होती है, अपने लिये नहीं* ।

ज्ञानमार्गमें 'जानना' और भक्तिमार्गमें 'मानना' मुख्य होता है। जिस बातमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह न हो, उसे दृढतापूर्वक 'मानना' ही भक्तिमार्गमें 'जानना' है। भगवान्‌को सर्वोपरि मान लेनेके बाद भक्तसे स्वतः सब प्रकारसे भगवान्‌का भजन होता है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

(गीता १० । ८)

'मैं ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है, इस प्रकार मानकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझे ही निरन्तर भजते हैं।'

---

* या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(श्रीमद्भागवत १० । ४४ । १५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही मथते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय तथा झाड़ू देने आदि सब कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद कण्ठसे श्रीकृष्णकी दिव्य लीलाओंका गान करती रहती हैं, वे श्रीकृष्णमें निरन्तर चित्त लगाये रहनेवाली व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं।'

भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' (सर्वोपरि) माननेसे भी मनुष्य सर्ववित् हो जाता है, फिर सब प्रकारसे भगवान्‌का भजन करते हुए भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' जान जाय—इसमें तो कहना ही क्या है ॥१९॥

सम्बन्ध—

'अरुन्धती-दर्शन-न्याय' (स्थूलसे क्रमशः सूक्ष्मकी ओर जाने) के अनुसार श्रीभगवान्‌ने इस अध्यायमें पहले 'क्षर' और फिर 'अक्षर'का विवेचन करनेके पश्चात् अन्तमें 'पुरुषोत्तम' का वर्णन किया—अपने पुरुषोत्तमत्वको सिद्ध किया।

अब भगवान् इस अध्यायमें वर्णित विषयको परम गोपनीय बतलाते हुए इसका माहात्म्य प्रकट करते हैं, जिससे साधक इस अध्यायका महत्त्व समझ जाय तथा इस ओर उसकी रुचि बढ़ जाय अर्थात् वह भगवान्‌में लग जाय।

श्लोक—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

भावार्थ—

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार संसार, जीवात्मा और परमात्माका विवेचन करनेवाला यह गुह्यतम शास्त्र मुझ पुरुषोत्तमके द्वारा कहा गया है। हे भरतवंशी अर्जुन! इस अध्यायमें वर्णित मुझ पुरुषोत्तमको जो तत्त्वसे जान लेता है, वह ज्ञानवान् और कृतकृत्य हो जाता है। तात्पर्य यह कि इस अध्यायमें वर्णित तत्त्वको जाननेवाला मेरा भक्त प्राप्त-प्राप्तव्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और कृत-कृत्य हो जाता है। उसका मनुष्य-जन्म पूर्णतः सफल हो जाता है।

अन्वय—

अनघ, इति, इदम्, गुह्यतमम्, शास्त्रम्, मया, उक्तम्, भारत, एतत्, बुद्ध्वा, (मनुष्यः,) बुद्धिमान्, च, कृतकृत्यः, स्यात् ॥ २० ॥

पद-व्याख्या—

अनघ—हे निष्पाप अर्जुन !

अर्जुनको निष्पाप इसलिये कहा गया है कि वे दोष-दृष्टि (असूया) से रहित थे। दोष-दृष्टि करना पाप है। दोष-दृष्टिसे अन्तःकरण अशुद्ध होता है। जो दोष-दृष्टिसे रहित होता है, वही भक्तिका पात्र होता है।

गोपनीय बात दोष-दृष्टिसे रहित पुरुषके सामने ही कही जाती है*। यदि दोष-दृष्टिवाले मनुष्यके सामने गोपनीय बात कह दी जाय, तो उस मनुष्यपर उस बातका विपरीत प्रभाव पड़ता है अर्थात् वह उस गोपनीय बातका उल्टा अर्थ लगाकर वक्तामें भी दोष देखने लगता है कि यह आत्मश्लाघी है; दूसरोंको मोहित करनेके लिये कहता है इत्यादि। फलस्वरूप दोष-दृष्टिवाले मनुष्यकी बहुत हानि होती है।

दोष-दृष्टि होनेमें विशेष कारण है—अभिमान। मनुष्यमें जिस बातका अभिमान हो, उस बातकी उसमें कमी होती है। उस कमीको वह दूसरोंमें देखने लगता है। अपनेमें अच्छाईका अभिमान

---

* नवें अध्यायके पहले श्लोकमें भी भगवान्‌ने अर्जुनको दोष-दृष्टिसे रहित बतलाते हुए ही गुह्यतम ज्ञान बतलानेकी प्रतिज्ञा की थी—'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।' इस पंद्रहवें अध्यायमें तो नवें अध्यायसे भी अधिक गोपनीय विषय बतलाया गया है। अतः यहाँ 'अनघ' का तात्पर्य अनसूया मानना उचित ही है।

होनेसे ही दूसरोंमें बुराई दीखती है; और दूसरोंमें बुराई देखनेसे ही अपनेमें अच्छाईका अभिमान आता है।

यदि दोष-दृष्टिवाले मनुष्यके सामने भगवान् अपनेको सर्वोपरि 'पुरुषोत्तम' कहें, तो उसे विश्वास नहीं होगा, उलटे वह यह सोचेगा कि भगवान् आत्मश्लाघी (अपने मुँह अपनी बड़ाई करनेवाले) हैं—

'निज अग्यान राम पर धरहीं' (मानस ७ । ७२ । ५)

भगवान्‌के प्रति दोष-दृष्टि होनेसे उसकी बहुत हानि होती है* । इसलिये भगवान् और संतजन दोष-दृष्टिसे रहित अत्यन्त श्रद्धालु मनुष्यके सामने ही गोपनीय बातें प्रकट करते हैं† । वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो दोष-दृष्टिवाले मनुष्यके सामने गोपनीय (रहस्ययुक्त) बातें मुखसे निकलती ही नहीं !

अर्जुनके लिये 'अनघ' सम्बोधन देनेमें यह भाव भी हो सकता है कि इस अध्यायमें भगवान्‌ने जो परमगोपनीय प्रभाव बतलाया है,

---

* ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥
(गीता ३ । ३२)

'जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ ।'

† 'न च मां योऽभ्यसूयति' (गीता १८ । ६७)

'(यह रहस्यमय उपदेश) जो मुझमें दोष-दृष्टि रखता है, उससे नहीं कहना चाहिये ।'

यह अर्जुन-जैसे दोष-दृष्टिसे रहित सरल पुरुषके सम्मुख ही प्रकट किया जा सकता है।

इति इदम्—इस प्रकार यह।

चौदहवें अध्यायके उपान्त्य श्लोकमें अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात कहनेके पश्चात् भगवान्‌ने पंद्रहवें अध्यायके पहले श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक जिस (क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके) विषयका वर्णन किया है, उस विषयकी पूर्णता और लक्ष्यका निर्देश 'इति इदम्' पदोंसे किया गया है।

गुह्यतमम् शास्त्रम्—परमगोपनीय शास्त्र।

इस अध्यायमें पहले क्षर (संसार) और अक्षर (जीवात्मा)-का वर्णन करके अपना अप्रतिम प्रभाव (बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोक तक) प्रकट किया। फिर भगवान्‌ने यह गोपनीय बात प्रकट की कि जिसका यह सब प्रभाव है, वह (क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम) 'पुरुषोत्तम' मैं ही हूँ।

नाटकमें स्वाँग धारण किये हुए मनुष्यकी भाँति भगवान् इस पृथ्वीपर मनुष्यका स्वाँग धारण करके अवतरित होते हैं और ऐसा व्यवहार करते हैं कि अज्ञानी मनुष्य उन्हें नहीं जान पाते*।

---

* नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(गीता ७। २५)

'अपनी योगमायामें छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझे जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता।'

स्वाँगमें अपना वास्तविक परिचय नहीं दिया जाता, गुप्त रखा जाता है। पर भगवान्‌ने इस अध्यायमें (अठारहवें श्लोकमें) अपना वास्तविक परिचय देकर अत्यन्त गोपनीय बात प्रकट कर दी कि मैं ही पुरुषोत्तम हूँ। इसलिये इस अध्यायको 'गुह्यतम' कहा गया है।

'शास्त्र'में प्रायः संसार, जीवात्मा और परमात्माका वर्णन आता है। इन तीनोंका ही वर्णन पंद्रहवें अध्यायमें हुआ है, इसलिये इस अध्यायको भी 'शास्त्र' कहा गया है।'

सर्वशास्त्रमयी गीतामें केवल इसी अध्यायको 'शास्त्र' की उपाधि मिली है। इसमें 'पुरुषोत्तम'का वर्णन मुख्य होनेके कारण इस अध्यायको 'गुह्यतम शास्त्र' कहा गया है। इस गुह्यतम शास्त्रमें श्री-भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके छः उपायोंका वर्णन किया है।

(१) संसारको तत्त्वसे जानना (श्लोक १)।

(२) संसारसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद करके एक भगवान्‌की शरण होना (श्लोक ४)।

(३) अपने स्वरूप (आत्मतत्त्व) को जानना (श्लोक १०-११)।

(४) वेदाध्ययनके द्वारा तत्त्वको जानना (श्लोक १५)।

(५) भगवान्‌को पुरुषोत्तम जानकर सब प्रकारसे उनका भजन करना (श्लोक १९)।

(६) सम्पूर्ण अध्यायको तत्त्वसे जानना (श्लोक २०)।

जिस अध्यायमें भगवत्प्राप्तिके ऐसे सुगम उपाय बतलाये गये हों, उसे 'शास्त्र' कहना उचित ही है।

मया उक्तम्—मेरे द्वारा कहा गया ।

इन पदोंसे भगवान् मानो यह कहते हैं कि सम्पूर्ण भौतिक जगत्‌का प्रकाशक और अधिष्ठान, समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित, वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य एवं क्षर और अक्षर दोनोंसे उत्तम साक्षात् मुझ पुरुषोत्तमके द्वारा ही यह गुह्यतम शास्त्र (अत्यन्त कृपापूर्वक) कहा गया है। अपने विषयमें जैसा मैं कह सकता हूँ, वैसा कोई नहीं कह सकता। कारण यह कि दूसरा पहले (मेरी ही कृपाशक्तिसे) मुझे जानेगा*, फिर वह मेरे विषयमें कुछ कहेगा, जब कि मुझमें अनजानपन है ही नहीं।

वास्तवमें स्वयं भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरा कोई भी उन्हें पूर्णरूपसे नहीं जान सकता† । छठे अध्यायके उन्‌चालीसवें श्लोकमें अर्जुनने भगवान्‌से कहा था कि आपके अतिरिक्त दूसरा

---

* सोइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन । जानहिं भगत भगत उर चंदन ॥
(मानस २ । १२६ । २)

† न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥
(गीता १० । २)

'मेरे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं; क्योंकि, मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका भी आदि-कारण हूँ ।'

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
(गीता १० । १५)

'हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं ।'

कोई भी मेरे संशयका छेदन नहीं कर सकता* । यहाँ भगवान् मानो यह कह रहे हैं कि मेरेद्वारा कहे हुए विषयमें किसी प्रकारका संशय रहनेकी सम्भावना ही नहीं है† ।

भारत—हे भरतवंशी अर्जुन !

एतद् बुद्ध्वा (मनुष्यः) बुद्धिमान्—इसको तत्त्वसे जानकर (मनुष्य) ज्ञानवान् (हो जाता है) ।

सम्पूर्ण अध्यायमें भगवान्‌ने जो संसारकी वास्तविकता, जीवात्माके स्वरूप और अपने अप्रतिम प्रभाव एवं गोपनीयताका वर्णन किया है, उसका (विशेषरूपसे उन्नीसवें श्लोकका) निर्देश यहाँ 'एतत्' पदसे किया गया है । इस गुह्यतम शास्त्रको जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहता; क्योंकि उसने जाननेयोग्य पुरुषोत्तमको जान लिया ।

परमात्मतत्त्वको जाननेसे मनुष्यकी मूढ़ता नष्ट हो जाती है । उन्हें जाने विना लौकिक सम्पूर्ण विद्याएँ, भाषाएँ, कलाएँ आदि क्यों न

---

* एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥
(गीता ६ । ३९)

† मनुष्यकी वाणीमें प्रायः चार दोष होते हैं—

(१) भ्रम—तत्त्वको यथार्थ न जानना ।

(२) प्रमाद—असावधानी ।

(३) लिप्सा—कुछ पानेकी इच्छा ।

(४) करणापाटव—करण (अन्तःकरण और बाह्यकरण) अपटुता या कमी । भगवान्‌की वाणीमें उपर्युक्त चारों ही दोष नहीं होते ।

जान ली जायँ। मूढ़ता नहीं मिटती, क्योंकि लौकिक सब विद्याएँ आरम्भ और समाप्त होनेवाली एवं अपूर्ण हैं। जितनी लौकिक विद्याएँ है, सब परमात्मासे ही प्रकट होनेवाली है। अत. वे परमात्माको कैसे प्रकाशित कर सकती हैं। इन सब लौकिक विद्याओंसे अनजान होते हुए भी जिसने परमात्माको जान लिया है, वही वास्तवमें ज्ञानवान् है।

उन्नीसवें श्लोकमें सब प्रकारसे भजन करनेवाले जिस मोह-रहित भक्तको 'सर्ववित्' कहा गया है, उसीको यहाँ 'बुद्धिमान्' नामसे कहा गया है।

च—और (प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है)।

यहाँ 'च' पद अनुक्त अनुकर्षणार्थकके रूपमें आया है अर्थात् इसमें पिछले श्लोकमें आयी बातके फल (प्राप्त-प्राप्तव्यता) का अनुक्त अनुकर्षण है। पिछले श्लोकमें सर्वभावसे भगवान्का भजन करने अर्थात् अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात विशेषरूपसे आयी है। भक्तिके समान कोई लाभ नहीं है—'लाभु कि किछु हरि भगति समाना' (मानस ७। १११। ४)। अत. जिसने भक्तिको प्राप्त कर लिया, वह प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ भी पाना शेष नहीं रहता।

कृतकृत्यः स्यात्—कृतकृत्य हो जाता है।

भगवत्तत्त्वकी यह विलक्षणता है कि कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंमेंसे किसी एककी सिद्धिसे कृतकृत्यता,

ज्ञात-ज्ञातव्यता और प्राप्त-प्राप्तव्यता—तीनोंकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये जो भगवत्तत्त्वको जान लेता है, उसके लिये फिर कुछ जानना, पाना और करना शेष नहीं रहता। उसका मनुष्यजीवन सफल हो जाता है।

कर्मयोगी अपने लिये कोई कर्म न करके (अर्थात् कर्मोंसे अपना किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ, ममता और कामनाका सम्बन्ध न रखकर) बाहरसे संसारके हितके लिये और भीतर (भाव) से भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जिन उपकरणोंसे कर्म किये जाते हैं, उन्हें भी कर्मयोगी 'अपने' और 'अपने लिये' नहीं मानता, फिर वह उन कर्मोंके फलकी इच्छा रख ही कैसे सकता है! इस प्रकार (कर्मयोगकी विधिसे) कर्म करनेपर कर्म, कर्म-सामग्री तथा कर्म-फलका राग सर्वथा मिट जाता है और योगारूढ़ अवस्था प्राप्त हो जाती है*। इस अवस्थामें उसे कर्म करने अथवा न करनेसे कोई प्रयोजन

---

* यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

(गीता ६। ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।'

(आवश्यकता और स्वार्थ) नहीं रहता* । यही 'कृतकृत्यता' कहलाती है ।

यह अटल सिद्धान्त है कि कोई मनुष्य किसी भी अवस्थामें, क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृतिके वशमें होनेसे सभीको कर्म करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है† । इसलिये जब मनुष्य कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता, तब उसे कर्मोंको ऐसी विधिसे करना चाहिये, जिससे वह कर्मोंसे बँधे नहीं । ऐसी विधि यही है कि अपने लिये कभी किञ्चिन्मात्र भी कोई कर्म न करके दूसरोंके हितके लिये ही सब कर्म किये जायँ‡ । कर्मयोगकी इस विधिको अपनाये बिना प्रत्येक क्रिया विकासजनक नहीं हो सकती; प्रत्येक परिस्थिति साधन नहीं हो सकती । जबतक अपने

---

* नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥
(गीता ३ । १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ।'

† न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
(गीता ३ । ५)

‡ धन, सम्पत्ति, परिवार तथा मनुष्य, पशु, पक्षी आदि तो दूसरे हैं ही, अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण एवं इन सबका स्वामी बननेवाला 'अहं'—ये सब भी दूसरे (पर) ही हैं । अपने स्वरूप (स्व) के साथ इन सबका किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है ।

लिये कुछ भी करने, पाने और जाननेकी आवश्यकता प्रतीत होती है, तबतक दूसरोंके लिये कर्म करना अत्यावश्यक है ।

कर्मयोगीके द्वारा क्रमशः (उत्तरोत्तर) तीन प्रकारसे कर्म होते हैं—'करना', 'होना' और 'है'। पहले वह दूसरोंके हितार्थ कर्म करता है । फिर उसकी उन्नति होनेपर उसे (दूसरोंके हितार्थ) कर्म करने नहीं पड़ते; अपितु उसके द्वारा स्वाभाविक ही दूसरोंके हितार्थ कर्म होते हैं । आगे चलकर उसकी दृष्टि कर्मोंके 'होने' पर भी नहीं रहती और उसकी अपने स्वरूप 'है' में स्वाभाविक स्थिति हो जाती है ।

पतिव्रता स्त्री तीन प्रकारसे पतिकी सेवा करती है—साक्षात् पतिकी सेवा करना, पतिका चिन्तन करना और (पतिके) घरका काम करना । इसी प्रकार भगवद्भक्त भी तीन प्रकारसे भगवान्‌की सेवा (भजन) करता है—जप, कीर्तन आदिके द्वारा साक्षात् भगवान्‌की सेवा करना, भगवान्‌का चिन्तन करना और भगवान्‌के घर—संसारका काम करना ।

विशेष बात

श्रीमद्भगवद्गीताको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान्‌को भक्ति और भक्त विशेष प्रिय हैं । छठे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपने भक्तको सर्वोत्तम योगी बतलाकर सातवें, आठवें और नवें अध्यायोंमें भक्तिका विशेष वर्णन किया । दसवें अध्यायमें भी ('भूयः' पदसे) पुनः उस भक्तिका वर्णन किया । इसके बाद ग्यारहवें अध्यायमें भी भगवान् और उनकी भक्तिकी महिमाका वर्णन करते हुए, केवल अनन्यभक्तिसे भगवान्‌के दर्शन, उनका तत्त्वज्ञान

तथा उनके स्वरूपकी प्राप्ति—तीनों होनेकी बात कही गयी* । बारहवें अध्यायका तो नाम ही 'भक्तियोग' है । इस अध्यायके प्रारम्भमें अर्जुनने प्रश्न किया कि सगुण-साकार और निर्गुण-निराकारके उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है । इसके उत्तरमें भगवान्‌ने सगुण-साकारके उपासकोंकी श्रेष्ठता, भक्तिके साधन और सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका विस्तारसे वर्णन किया । फिर निर्गुण-निराकारकी उपासनाका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंमें ज्ञानका विवेचन किया गया । चौदहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनके द्वारा गुणातीत होनेका उपाय पूछनेपर भगवान्‌ने छब्बीसवें श्लोकमें 'अव्यभिचारिणी (अनन्य) भक्ति'को गुणातीत होनेका उपाय बतलाकर भक्तिकी ही विशेष महिमा प्रकट की । इस 'अव्यभिचारिणी भक्ति'को प्राप्त करानेके लिये भगवान्‌ने पंद्रहवें अध्यायमें पुनः भक्तिका वर्णन किया । इसीलिये बारहवाँ और पंद्रहवाँ—दोनों अध्याय विशेषरूपसे भक्तिके ही माने जाते हैं । फिर सोलहवें अध्यायमें भक्तिके अधिकारी और अनधिकारियोंका वर्णन करके सत्रहवें अध्यायमें तीन प्रकारकी श्रद्धाका विवेचन किया, जो श्रद्धा कर्म, ज्ञान और भक्ति—तीनोंमें ही आवश्यक होती है । अठारहवें अध्यायमें कर्म, ज्ञान और

---

* भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

(गीता ११ । ५४)

'हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये शक्य हूँ ।'

भक्ति—तीनोंका विवेचन करते हुए अन्तमें भगवान्‌ने भक्तिमें ही अपने उपदेश (श्रीमद्भगवद्गीता) का उपसंहार किया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो
नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्‌रूप श्रीकृष्णार्जुन-संवादमें 'पुरुषोत्तमयोग' नामक पंद्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥१५॥

पंद्रहवें अध्यायके पद, अक्षर एवं उवाच

(१) इस अध्यायमें श्लोकोंके २८८ पद, पुष्पिकाके १३ पद, उवाचके २ पद और 'अथ पञ्चदशोऽध्यायः' के ३ पद हैं। इस प्रकार पदोंका पूर्ण योग ३०६ है।

(२) इस अध्यायके श्लोकोंमें ७०१ अक्षर, पुष्पिकामें ४६ अक्षर, उवाचमें ७ अक्षर एवं 'अथ पञ्चदशोऽध्यायः' में ८ अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग ७६२ है।

(३) इस अध्यायमें केवल एक उवाच है—'श्रीभगवानुवाच'

पंद्रहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

पंद्रहवें अध्यायके बीस श्लोकोंमेंसे दूसरे श्लोकका प्रथम चरण

'ललिता'*, द्वितीय तथा तृतीय चरण उपेन्द्रवज्रा'† और चतुर्थ चरण 'इन्द्रवज्रा'‡ छन्दका है।

तीसरे श्लोकका प्रथम चरण 'वंशस्थ'§ द्वितीय तथा तृतीय चरण 'इन्द्रवज्रा' और चतुर्थ चरण 'उपेन्द्रवज्रा' छन्दका है।

चौथे श्लोकके प्रथम, तृतीय तथा चतुर्थ चरण 'उपेन्द्रवज्रा' और द्वितीय चरण 'ईहामृगी' छन्दका है।

पाँचवें और पद्रहवें श्लोकमें 'इन्द्रवज्रा' छन्द प्रयुक्त हुआ है।

उपर्युक्त पाँचों श्लोक उपजाति छन्दके हैं।

सातवें श्लोकके प्रथम और तृतीय चरणमें 'रगण' होनेसे 'र-विपुला' है, अतः यह 'जातिपक्ष-विपुला' संज्ञावाला श्लोक है। नवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' होनेसे 'र-विपुला', अठारहवें श्लोक के तृतीय चरणमें 'मगण' होनेसे 'म-विपुला', उन्नीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' होनेसे 'न-विपुला' और बीसवें श्लोकके तृतीय चरण-में 'रगण' होनेसे 'र-विपुला' हैं, अतः ये चार 'व्यक्तिपक्ष–विपुला' संज्ञावाले श्लोक हैं।

उपर्युक्त पाँचों श्लोक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके ही अवान्तर भेद हैं और शेष दस श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

---

* यभौ तगौ गो ललिता साऽङ्घ्रिलोकैः।

† उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।

‡ स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।

§ जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।